सत्ताविषयक अन्वीक्षा

यशदेव शल्य

भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्

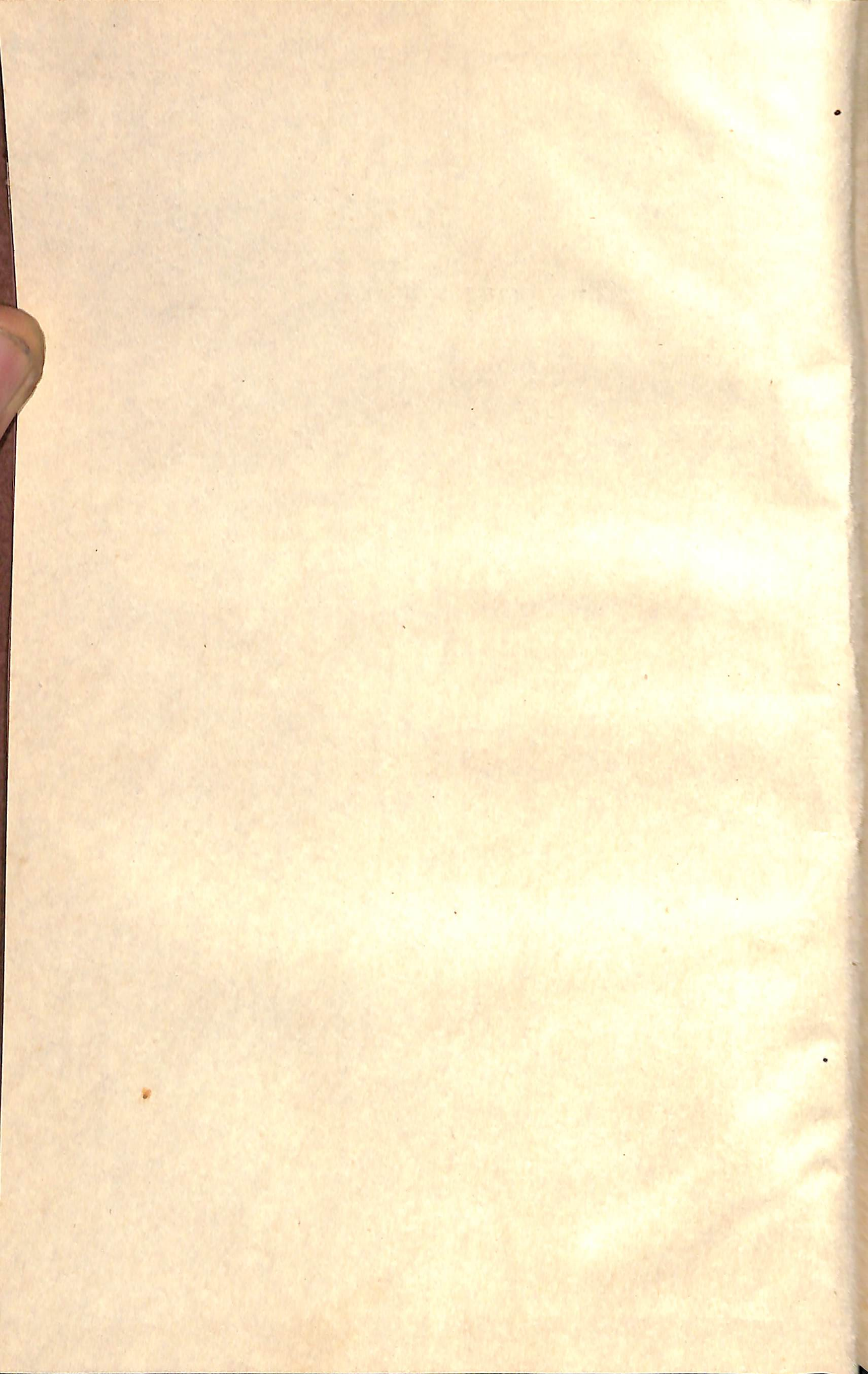
दार्शनिक चिन्तन के आदि काल से ही सत्ता दर्शन का एक प्रमुख विषय रही है। किन्तु आधुनिक पश्चिम में, और उसके प्रभाव में हमारे देश के स्वातन्त्र्योत्तरकालीन चिन्तन में सत्ता को विचार के लिए वर्जनीय विषय के रूप में देखा गया। इसके बावजूद सत्ताविषयक विचार प्राचीन की आवृत्ति मात्र नहीं हो सकता था, नवारंभ ही हो सकता था। इस ग्रन्थ में यही हुआ है: यह ग्रन्थ भारतीय चिन्तन के नव प्रभात का वैतालिक है।

इस लेखक के लिए दर्शन एक ऐसा मूलगामी सैद्धान्तिक चिन्तन है जो स्वरूपतः समग्रात्मक होता है। अपनी इसी मान्यता के कारण उसने न केवल तत्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा के लिए परम्परागत मूल प्रश्नों की ही, सत्ता-विषयक इस दृष्टि के अनुसार व्याख्या की है बल्कि मानव-व्यक्तित्व, समाज, संस्कृति, विज्ञान और कला जैसे, तत्वमीमांसा के लिए बाहरी समझे जानेवाले, विषयों की भी उसी सिद्धान्त के अन्तर्गत व्याख्या की है। किन्तु उसके लिए दर्शन केवल एक सैद्धान्तिक तर्क-व्यवस्था मात्र नहीं है बल्कि अनुभूति, साक्षात्कार, प्रातिभ का अभिव्यंजन, आत्मप्रकाशन, पुनरवगमन भी है— वस्तुत एक बौद्धिक महाकाव्य।

रु० 75.00

बन्धुवर नवजीवनजी
को
सस्नेह –
[illegible]
मार्च, 1987

सत्ताविषयक अन्वीक्षा



सत्ताविषयक अन्वीक्षा

यशदेव शल्य



भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्
नई दिल्ली

प्रथम संस्करण 1987
किरीट जोशी द्वारा
भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् के लिए
यू. एस. ओ. हाउस, 6 स्पेशल इंस्टीट्यूशनल एरिया,
नई महरौली रोड, नई दिल्ली 110067 से
प्रकाशित

एकमात्र वितरक
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
8 नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली 110002
शाखा : साइंस कालिज के सामने, पटना 800006

मुद्रक :
बी. एस. शर्मा, नागरी प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली 110032

विषय-सूची

प्राक्कथन

यह पुस्तक 1983-85 के बीच लिखी गई। अप्रैल 1985 में इसकी पांडुलिपि भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् को प्रकाशनार्थ प्रस्तुत कर दी गई थी। मेरी पिछली पुस्तक **मनुष्य और जगत् : वैदान्तिक अनुभव का नवोन्मेष** 1980 में प्रकाशनार्थ दी गई थी और 1985 में वह बहुत बुरी हालत में प्रकाशित हुई। जैसा कि मैंने उस पुस्तक के प्राक्कथन में लिखा था, मेरी प्रथम पुस्तक **दार्शनिक विश्लेषण से सत्ता-विषयक अन्वीक्षा** तक मेरे विचार में एक विकास-क्रम है और यह क्रम इस पुस्तक में अपनी चरम परिणति को प्राप्त हुआ है। आगे इस विचार के प्रतिपादन में परिष्कार तथा गहराई तो आ सकती है, विकास नहीं हो सकता। पिछली पुस्तक को मैंने वैदान्तिक अनुभव के साथ सम्बन्धित किया था, यह पुस्तक भी उसके साथ उसी प्रकार सम्बन्धित है। किन्तु जैसा कि उस पुस्तक के प्राक्कथन में मैंने कहा था, 'वेदान्त' शब्द का प्रयोग मैंने बहुत व्यापक अर्थ में किया है जिसमें सांख्य तक सम्मिलित हैं। प्रस्तुत पुस्तक में सांख्य की चर्चा भी बहुत हुई है—द्वैतवाद के द्वारा उसी समस्या के समाधान के दूसरे प्रयत्न के रूप में।

प्रस्तुत पुस्तक भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् द्वारा दी गई फैलोशिप के अन्तर्गत लिखी गई है। यह फैलोशिप मुझे अप्रैल 1982 से अप्रैल 1985 तक मिली। इसके लिए मैं भा० दा० अ० प० के अध्यक्ष प्रोफेसर देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय तथा उस अवधि में परिषद् की निदेशक प्रोफेसर (कु०) भुवन चंदेल के प्रति, और परिषद् की अनुसंधान-समिति के सदस्यों के प्रति बहुत आभारी हूं।

इस पुस्तक के पहले सात अध्याय तथा पन्द्रहवां अध्याय परामर्श नामक पत्रिका में और आठवां एवं नौवां अध्याय उन्मीलन में प्रकाशित हुए। परामर्श में प्रकाशन के बाद मैंने पांडुलिपि में प्रकाशन की स्पष्टता की दृष्टि से कुछ संशोधन-संवर्द्धन किये हैं। इसके अतिरिक्त परामर्श में इनका मुद्रण भी बहुत सदोष हुआ जिससे उस प्रकाशन का कोई विशेष अर्थ नहीं रहा। किन्तु इससे परामर्श के कार्यकारी संपादक प्रोफेसर मो० प्र० मराठे के अनुग्रह का महत्त्व कम नहीं होता जो उन्होंने इन अध्यायों के प्रकाशन में मेरे प्रति दिखाया। उनके प्रति भी मैं बहुत अनुगृहीत हूँ।

26 अगस्त 1986

यशदेव शल्य

प्रवेश

सत्तान्वीक्षा, तत्त्वचिन्तन परमार्थ-विचार, स्वरूप-चिन्तन आदि पद 'दर्शन' पद के पर्यायवाची माने जाने चाहिएं, जो साधारणतः आज माने नहीं जाते। किन्तु प्राचीन समयों में ये पद पर्यायवाची थे। इसी धारणा के अनुसार उस समय दर्शन का कार्य आत्मा, ईश्वर, सृष्टि की उत्पत्ति और प्रयोजन आदि विषयक विचार और इस विचार को सत्य का ज्ञापक तथा उन्मेषक माना जाता था। किन्तु पीछे दर्शन के बौद्धिक कल्पना-प्रधान हो जाने पर ये तत्त्व मननीय और साक्षात्कार्य अर्थ नहीं रह कर अनुमानगम्य परोक्ष अर्थों के रूप में कल्पनीय हो गए। इस प्रकार दर्शन के द्वारा प्राकृतिक वस्तु-लोक के समकक्ष एक अतिप्राकृतिक वस्तु-लोक की रचना हो गई और परिणामस्वरूप दर्शन को अपने सम्बन्ध में अतिप्राकृतिक वस्तु-विषयक विज्ञान होने का भ्रम हुआ। कांट द्वारा तत्त्वमीमांसा का प्रत्याख्यान इसी प्रकार के अपविज्ञान का प्रत्याख्यान है। किन्तु इस प्रत्याख्यान में यह भ्रम निहित है कि या तो प्राकृतिक वस्तु-लोक के अनुरूप कोई और लोक है, या नहीं है, और इस प्रकार यदि अप्राकृतिक लोक नहीं है तो फिर प्राकृतिक लोक है ही। कांट की इस भ्रांति की पुष्टि उसके ईश्वर के अस्तित्व के निषेध से, और पुनः उसे "मनुष्य के नैतिक अन्वेषण की पार्यन्तिक कल्पना का आक्षेप" कहने से स्पष्ट है। किन्तु अन्वेष्य भाव कल्पित या आक्षिप्त नहीं होता, कल्पित या आक्षिप्त प्राकृतिक वस्तु की मानसिक अनुवृत्ति होती है और इस प्रकार वह प्राकृतिक ही होती है। इसके विपरीत औपनिषद् "तत्त्वमसि", "आत्मा वै ब्रह्म" आदि उक्तियां हैं जो आत्ममनन-जन्य दृष्टि की अभिव्यक्तियां हैं। वास्तव में इन्हें मंत्र कहना चाहिए, जो कि इन्हें कहा भी गया है। अब मंत्र और दर्शन में अन्तर है। मंत्र वाग्-अगोचर तत्त्व के प्रातिभ साक्षात्कार की अभिव्यंजना है जबकि दर्शन वाग्गोचर प्रत्ययों द्वारा इस तत्त्व का अवगमन है। यहां कहा जा सकता है कि वाक् द्वारा वाग्-अगोचर का अवगमन कैसे हो सकता है? यह अवगमन इस कारण संभव होता है क्योंकि ये प्रत्यय स्वरूपतः आत्म-अतिक्रमणशील होते हैं और अपनी पूर्णता, अपनी सिद्धि अपने लिए अगोचर के अनुमान में ही पाते हैं। इस परिभाषा के लिए 'दर्शन' शब्द अनुपयुक्त हो सकता है, क्योंकि अनुमान वह है जो दर्शन : प्रत्यक्ष-ग्रहण : का या तो अनुसरण करता है अथवा उसकी प्रमाण के रूप में अपेक्षा करता है। इस परिभाषा के अनुसार 'दर्शन' 'मंत्र' का पर्याय जैसा हो जाता है और अतिक्रामी

अनुमान के लिए 'आन्वीक्षिकी' शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। इस प्रकार दूसरे अर्थ में 'दर्शन' शब्द को व्युत्पत्ति के बजाय योगरूढ़ि के अनुसार ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि दृष्टतत्त्व प्रचलित अर्थ में दार्शनिक चिन्तन की प्रेरणा और लक्ष्य तो है किन्तु स्वयं वह इस दृष्टि का वाग्गोचर प्रत्ययों द्वारा अन्वेषण, अवगमन और प्रत्यक्षीकरण है।

वाग्गोचर प्रत्यय का सत्य : प्रमा : यद्यपि तत्त्व-साक्षात्कार होता है किन्तु इसका प्रमाण युक्ति-तर्क-व्यवस्थागत आत्मसंगतिपरक होता है। यह व्यवस्था विश्लेषणात्मक होती है जिसमें विश्लिष्ट वह सत्य होता है जो अखंड दृष्ट का अखंड विषय होता है। इस पर कहा जा सकता है कि, अखंड का विश्लेषण कैसे संभव है ? तत्त्व-विषयक इसी धारणा से दृष्ट को अनभिलाप्य कहा गया है। किन्तु वास्तव में विश्लेषण अनिवार्य रूप से साधारण विभाजन नहीं है, उचित रूप से यह अवयवी को अवयवों की व्यवस्था के माध्यम से देखना है। इस प्रकार विश्लेषण का उचित कार्य अखंड की अप्रकट विपुलता को प्रकट करना होता है। ऐसा भी नहीं है कि यह अखंड निरवयव होता है और विश्लेषण उसमें सावयवता का आरोप करता है। यह वास्तव में मूलतः ही सावयव होता है। किंतु यह सावयव : अवयवीः अवयवों का संघात मात्र नहीं होने से उनका अतिक्रमण करता है। वाक् इस अवयवी का अभिलाप नहीं करती, किंतु यह : अवयवीः वाग्गोचर के साथ उसके अतिक्रामी के रूप में अनिवार्यतः सम्बन्धित होता है और उसका धारण करता है। मोक्ष, ईश्वर, प्लेटोई प्रत्ययगम्य अलौकिक तत्त्व इसी प्रकार की सत्ताएं हैं। ये दर्शन के लिए प्रत्यक्षगम्य नहीं होने पर भी उसके लिए, और वास्तव में उसी के लिए, अन्वेष्य हैं। साक्षात्कार के लिए ये सत्ताएं दर्शन से बहुत भिन्न प्रकार के प्रयत्न की अपेक्षा करती हैं : ये अस्तित्व में आत्म-व्यवहित सत्ता के व्यवधान-निवारण की अपेक्षा करती हैं। यह निवारण अस्तित्व के अपने को सत्ता के अनुसार साधनों के द्वारा होता है। यह साधना संगीत-साधना के समान होती है, जो कलाकार द्वारा न केवल प्रत्यय के बौद्धिक अवगमन की अपेक्षा करती है बल्कि कंठ को उस प्रत्यय के अनुसार साधने की अपेक्षा भी करती है।

किन्तु यह विचार आधुनिक मति को मान्य नहीं है। यह मति ह्यूम द्वारा प्रवर्तित मान्यता का अनुसरण करती है जिसके अनुसार दर्शन का कार्य संवेद-ग्राह्य अर्थों का युक्ति-वितर्क की व्यवस्था में अनुशीलन है। किन्तु हमारे देश में एक दूसरी अन्तर्धारा भी प्राचीनतम युगों से निरन्तर प्रवहमान् रही है जो प्राचीन होने पर भी आधुनिक, और आधुनिकोत्तर भी है। इसका स्रोत उपनिषद् हैं। यह अन्तर्धारा दर्शन के क्षेत्र में कभी प्राचीन समयों में भी अक्षुण्ण रूप से प्रवहमान् रही है यह कहना संभवतः समीचीन नहीं होगा। किन्तु तब भी, भारतीय मानस में यह कभी स्फुट रूप में और कभी अस्फुट रूप में प्रवहमान् रही

है, यह निस्सन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है।

उपनिषद्-दृष्टि में एक बड़ी मजे की बात एक प्रकट अन्तर्विरोध है : जहां तू ही तू है, या मैं ही मैं हूं : जहां दो के समाने की जगह ही नहीं है : वहां विचार और वितर्क के लिए स्थान ही कहां है ? कबीर कहते हैं :

प्रियतम को पतियां लिखूँ, जो कोई होय बिदेस,
तन में, मन में, नयन में, वाको कहा सँदेस।

और बस यही प्रश्न है, यही उसका समाधान है : यदि प्रियतम निपट बिदेसी हो, तन में-मन में-नयन में नहीं हो, तो उसे पत्र लिखने की ज़रूरत ही किसे होगी ? किन्तु यदि वह तन में-मन में-नयन में अभिन्न रूप से हो, तो भी उसे कोई पत्र क्यों कर लिखेगा ? किन्तु हम तो पत्र लिखने को तड़पते हैं, विरह में विकल रोते हैं। यह व्याकुलता इस बात की द्योतक है कि प्रियतम एक-साथ बिदेस में भी है और तन में-मन में नयन में भी है। दार्शनिक विचार-वितर्क यही अभिन्न के भिन्न होने, अपने को आप पतियां लिखने, का खेल है, अपने को अपने से अलग कर प्यार का स्वाद चखने का उपाय है।

सत्ता को मैंने अस्तित्व की और वस्तुता की कोटियों से हटा कर भाव्य-भाव की कोटि में रखा है। अकेला भाव्य कहने में यह दोष है कि तब सत् स्वरूपतः अपूर्ण हो जाएगा, केवल 'भाव' कहने से न अनिष्ट, अव्यवस्था और न्यूनता का कोई अर्थ रहेगा और न मूल्य-पर्येषणा का। एक ओर सत्ता की गरिमा के लिए यह आवश्यक है कि वह भाव्य हो और दूसरी ओर भाव्य के सत् होने के लिए यह आवश्यक है कि वह निरपेक्ष-पूर्ण भाव हो। यह अन्तर्विरोध ही सत्ता की विपुल पूर्णता का रहस्य है। दूसरी ओर अस्तित्व को मैंने सत्ता के जीवन में एक आगन्तुक आविर्भाव के रूप में देखा है, उसके एक आयाम या घटक के रूप में नहीं। "अस्तित्व" मेरी विचार-व्यवस्था में सांवृतिक चेतना, वेदना, अन्नमय-प्राणमय-मनोमय कोश, ऐन्द्रिक-दैहिक आविर्भाव है। यह अस्तित्व सत्ता की पूर्णता के लिए : ईश्वर के ईश्वरत्व के लिए : न केवल अनिवार्य ही नहीं है बल्कि अनावश्यक भी है। अस्तित्व के सत्य होने के लिए यह अनिवार्य है कि वह सत् में अधिष्ठित भी हो, किन्तु सत् के पूर्ण होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसका अस्तित्व भी हो। इस प्रकार जगत् ईश्वर के बिना, मनुष्य मोक्ष के बिना असत्य है, किन्तु मुक्त चैतन्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह अन्नमयादि कोशों के माध्यम से व्यक्त, या अस्तित्वयुक्त हो। इसी प्रकार, ईश्वर की पूर्णता के लिए भी यह आवश्यक नहीं है कि इस कुत्ते, उस सूअर, अथवा इस कीचड़ का अस्तित्व हो।

इस पर कहा जा सकता है कि 'ईश्वर का अस्तित्व है' का अर्थ यह नहीं है कि 'जगत् की वस्तुओं और जीवों का अस्तित्व है', बल्कि यह ईश्वर के अपने अस्तित्व का ही कथन है, जिस प्रकार किसी कलाकार के अस्तित्व के सम्बन्ध में कथन का यह अर्थ नहीं है कि उसकी कृतियों का अस्तित्व है। किन्तु यह सही नहीं है। 'बेन्द्रे का अस्तित्व है' का अर्थ है कि "देह, इन्द्रियों और मनस् का संघात-विशेष घटित हो रहा है।" यह संघात उन क्रियाओं का भी समावेश करता है जो चित्र-रूप में प्रतिफलित होती हैं। अब, यदि ईश्वर का अस्तित्व है तो जगत् का अस्तित्व, बेन्द्रे की चित्र-निर्माण-क्रियाओं और चित्र-कल्पनाओं आदि के समान या तो उसका अंश है अथवा उसका सम्पूर्ण। यदि जगत् सम्पूर्ण रूप से ईश्वर के अस्तित्व को परिभाषित करता है तो स्पष्टतः यह उसके तत्त्व में कोई वृद्धि नहीं करता, बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि इस अस्तित्व में वह आत्मव्यवहित ही होता है, और यदि यह उसके अस्तित्व को निश्शेषतः परिभाषित नहीं करता तो बताना होगा कि उस अस्तित्व का शेष क्या है ? ईश्वर के अस्तित्व को जैसे भी परिभाषित किया जाय, वह अस्तित्व उसके तत्त्व के लिए अनिवार्य है, ऐसा कहना युक्त प्रतीत नहीं होता। इतना ही नहीं, 'मोक्ष या ब्रह्म, या सांख्यीय पुरुष का अस्तित्व है,' अथवा 'इस पुस्तक के निर्दोष रूप का अस्तित्व है' इन कथनों का भी कोई अर्थ दिखाई नहीं देता। इस रुपये, अथवा मेरी थाली की रोटी का अस्तित्व यदि नहीं हो तो वे कुछ भी नहीं हैं, अस्तित्व इनके सत्य का एक मुख्य और अनिवार्य अंश है। इसके विपरीत, मेरे सत्य का यह मुख्य और अनिवार्य अंश नहीं है : आत्म-बलिदान की भावना में अस्तित्व की यह आगन्तुकता और औप-चारिकता पूर्वगृहीत रहती है।

इस दृष्टि से अस्तित्व वास्तव में सत् में आत्मव्यवधान रूप भी देखा गया है : "कुंभ फटा जल जलहि समाना," किन्तु अस्तित्व साथ ही सत् के आत्म-प्रकाशन, आत्मावगमन, आत्माभिव्यक्ति का अवसर भी है : भाषा एक-साथ विचार को उपहित भी करती है और व्यक्त भी करती है। इसी प्रकार, भव्यता (बिकमिंगनेस) में अस्तित्व जबकि भाव का निरन्तर तिरोभाव है, इसका सत्य निरन्तर आविर्भाव है जिसमें तिरोभाव कारक बनता है। इस प्रकार यह आत्मनिमीलित भाव का उन्मीलन, क्रियान्वयन और विकसन है। सत् के पक्ष से इसे ब्रह्म का आनन्दांश भी कह सकते हैं। यह बात केवल शब्द-कल्पना नहीं है : यह एक पौधे के असंख्य बीजों में अपने तिरोभाव का निषेध करने, अस्तित्व-रक्षा के सहज, आद्य और निरपेक्ष मूल्य होने से स्पष्ट है। किन्तु अस्तित्व का यह सत्य उसे सत्ता के केन्द्र में, उसके मूल में, प्रतिष्ठित नहीं कर देता, क्योंकि अपने सत्य के लिए अस्तित्व को सत्ता की अपेक्षा होती है, सत्ता को अस्तित्व की नहीं। यदि कहा जाय कि अपनी अभिव्यक्ति के लिए सत् को अस्तित्व की आवश्यकता होती है, तो भी सही

नहीं है, क्योंकि व्यक्त सत् अपने स्वरूप से न भिन्न होता है और न अधिक। अंतर केवल यह होता है कि वह अस्तित्व में विभक्त और इस विभक्ति से उपहित होता है।

यहां सत् और अस्तित्व के सम्बन्ध में एक और भ्रांति का निवारण स्थाने होगा। ईश्वर को प्रतीत्यसमुत्पन्न सत्वों के विपरीत स्वोत्पन्न, अर्थात् अनुत्पन्न सत्त्व कहा गया है। यहां अनुत्पन्न सत्त्व : ईश्वर : जिस युक्ति से अनुमित है वह भ्रांत है। युक्ति है कि प्रतीत्यसमुत्पन्न : अन्य को आश्रित कर उत्पन्न : एक अन्तिम आश्रय या प्रथम कारण को पूर्वकल्पित करता है, जो आश्रय अनुत्पन्न होना आवश्यक है, अन्यथा वह आश्रय नहीं होगा। किन्तु यह भ्रान्त युक्ति है, क्योंकि उत्पाद-शृंखला में आदि कारण के अनुमान में प्रथमतः तो कोई अनिवार्य हेतुता नहीं है और दूसरे, इस अनुमान की अपनी प्रामाणिकता स्वतःसिद्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त, अजात आश्रय न अस्तित्व होगा, न सत्, क्योंकि अस्तित्व होने के लिए आविर्भाव होना आवश्यक है। दूसरी ओर अजातता सत्ता को उपलक्षित करती है, यह नहीं कहा जा सकता : वैदान्तिक माया अजात भी है और असत् भी, किन्तु वह निरन्तर आविर्भाव-युक्त और इस प्रकार सास्तित्व है।

यह मूल विचार है जिसका व्यापक रूप से मैंने इस पुस्तक में अवगाहन किया है। इस प्रकार इस पुस्तक को एक निबन्ध भी कह सकते हैं जिसके विभिन्न अध्याय अनुच्छेदों के समान हैं।

1

दर्शन के आधार

दर्शन के आधार पर विचार दर्शन के इतिहास में अपेक्षाकृत नयी बात है, किन्तु अन्यथा दर्शन आधार-विषयक प्रश्नों पर ही विचार करता है। सम्भवतः दर्शन की यह एक सबसे कम विवादास्पद परिभाषा हो सकती है कि यह आधार सम्बन्धी प्रश्नों पर ही विचार करता है। किन्तु ऐतिहासिक रूप से दर्शन ने सर्वप्रथम जिज्ञासा सत्ता (बींग) के आधार के सम्बन्ध में की थी। सम्पूर्ण उपनिषद् इसी जिज्ञासा और ज्ञान को प्रकट करते हैं। ग्रीस के प्रथम दार्शनिक थेल्स ने इस जिज्ञासा का जो समाधान किया वह प्रसिद्ध ही है, उसके अनुसार सत्ता का आधार जल है। इस उत्तर में उसकी सत्ता की अवधारणा भी प्रकट होती है। थेल्स के विपरीत ऋग्वेद का ऋषि इस आधार को अगम्य पाता है, क्योंकि वह सत् की विराट्ता और अतलता से अभिभूत है।[1] सत्ता के आधार की अगम्यता के बोध का कारण वैदिक ऋषि द्वारा इसे भौतिक से बहुत अधिक व्यापक रूप में देखना है। यह वैदिक दृष्टि पीछे उपनिषद् में बहुत सूक्ष्म रूप ले लेती है। औपनिषद् ऋषि सत् के आधार को स्वयं सत् से भी परे, असत् में, देखता है, जिससे उसका आशय चित् की उस अवस्था से है जो प्रत्ययों और प्रत्येयों में अभी स्फुटित नहीं हुआ है।[2] उपनिषद् ही में हम विश्व के वैचारिक इतिहास की एक अद्वितीय महत्त्व की क्रान्ति घटित हुई देखते हैं, जिसमें सत् अब चित् से बाहर ज्ञेय विषय नहीं होकर उसका अपना सत्य है जो जगद्भाव में अपने को सर्जित करता है

1. को अद्धा वेद, क इह प्रवोचत्
   कुत आ जाता, कुत इयं विसृष्टिः
   अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनाथा
   को वेद यत आबभूव। ऋक् 5.10.128.6
   इयं विसृष्टिर्यत आबभूव
   यदि वा दधे, यदि वा न
   योऽस्याध्यक्षः परमेव्योमन्
   सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद। 5.10.128.7
2. (1) असद्वा इदमग्र आसीत्। ततोवै सदजायत। तदात्मानं स्वयमकुरुत।
   —तैत्तिरीय, वल्ली 2, अनुवाक 7
   (2) स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। ईशावास्य, मंत्र 8

(तदात्मानं स्वयमकुरुत) और आत्मोन्मुख भाव में अपने तत्त्व में प्रतिष्ठित होता है। पश्चिमी दर्शन के इतिहास में यह दृष्टि पहली बार डेकार्ट में दिखाई देती है, जिसका क्रमिक परिष्कार हम फ़िख़्ते, शैल्लिग और हेगल में पाते हैं। ज्ञान का यह प्रत्युङ्मुख या आत्मोन्मुख निवर्तन, अथवा कहें उसकी आत्म-वृत्ति में अवस्थिति, उसके द्वारा सत्ता की बाहर खोज में निष्फल होकर उसे अपने ही भीतर पाने में है।

किन्तु सत् के आधार की जिज्ञासा वास्तव में उसकी चित् के हृदय में प्रतिष्ठा की ही द्योतक है। बाह्य सत् ऐन्द्रिक माध्यम में सद्यः प्रस्तुति के रूप में ग्रहण होता है। इस प्रस्तुति का भौतिक होना आवश्यक नहीं है, वह तान्मात्रिक भी हो सकती है, जैसे पौराणिकता में। इस प्रस्तुत सत् के आधार की जिज्ञासा उसके उस धर्म या स्वभाव की जिज्ञासा है जो प्रत्यय-ग्राह्य होता है। धर्म या स्वभाव का लक्षण व्यापकता है। आधार वह है जो व्यापकतम है। इस प्रकार दर्शन द्वारा आधार की खोज व्यापकतम तत्त्व की खोज है। किन्तु व्यापकतम के लिए यह अनिवार्य है कि वह स्वयं जिज्ञासा को भी व्याप्त करे। किन्तु जैसाकि हम आगे देखेंगे, जिज्ञासा का आधार ही व्यापकतम है, वही सब धर्मों और तत्त्वों का समावेश करता है।

किन्तु यहां यह द्रष्टव्य है कि जबकि सत्ता के आधार की खोज उपनिषद् में, और एक सीमा तक डेकार्ट में भी, स्वयं ज्ञान (या जिज्ञासा) में सत्ता का आधार देखने में निष्पन्न हुई, दर्शन के अपने आधार का प्रश्न केवल पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में जर्मन प्रत्ययवादियों (आइडियलिस्ट्स) ने ही स्पष्ट रूप से उठाया; जबकि दर्शन के सम्बन्ध में यह सहज और आवश्यक प्रतीत होता है कि उसमें अपने आधार का प्रश्न आरम्भ में ही उपस्थित हो, क्योंकि आधार-विषयक सभी जिज्ञासाएं जिज्ञास्य के उस तत्त्व के बारे में होती हैं जो विचार की क्रिया को अपनी प्रत्यङ्मुख वृत्ति में ही ग्राह्य होता है, और इस वृत्ति के लिए अपने आधार की जिज्ञासा नितान्त स्वाभाविक है। किन्तु तब भी दर्शन के इतिहास में यह प्रश्न इतने समय बाद उठा, यह एक तथ्य है, जिसका कारण यह कहा जा सकता है कि चेतना की विचारात्मक वृत्ति भी अपने सहज प्रवाह में इन्द्रियानुगामी या बाह्योन्मुख है और दर्शन द्वारा अपने आधार की जिज्ञासा विचार (प्रत्यय) की आत्मोन्मुखता की पराकाष्ठा है। किन्तु वास्तव में दार्शनिकों ने, भारतीय दार्शनिकों ने विशेष रूप से, विचार के स्वरूप पर भी बहुत समय पहले विचार किया था, यद्यपि उन्होंने इसे दर्शन के आधार के प्रश्न के रूप में नहीं देखा था। 'नेति-नेति', 'अनिर्वचनीय', 'अनभिलाप्य' और 'तर्काप्रतिष्ठानात्', विचार के आधारों पर विचार के ही उदाहरण हैं। केवल इनमें और दर्शन के आधार-विषयक डेकार्टीय अन्वेषण में यह अन्तर है कि प्रथम का प्रश्न मूलतः सत्ता-विषयक है और इस प्रकार

उसके लिए दार्शनिक आधार का विचार अवान्तरतः या परोक्षतः ही उपस्थित है जबकि डेकार्ट का प्रश्न मौलिक रूप से दर्शन-विषयक ही है, यद्यपि स्वयं डेकार्ट इस प्रश्न के, और विचार के, स्वरूप के अवगाहन में उस दूरी तक नहीं जा सका था जिस दूरी तक आदर्शवादी भारतीय दार्शनिक जा सके थे। उदाहरण के लिए, उसने यह देखकर भी कि गणित और निगमन स्वतःप्रमाण नहीं हैं, दर्शन की विधि के रूप में इन्हें ही स्वीकार किया[3] और यह प्रश्न नहीं उठाया कि इनको विधि के रूप में लेकर दर्शन किस प्रकार प्रामाणिक दृष्टि प्राप्त कर सकता है? वास्तव में डेकार्ट की दृष्टि का महत्त्व आत्मचैतन्य के अतिरिक्त शेष सबकी आगन्तुकता देखने और इस आगन्तुक के निवारण को दार्शनिक विधि का रूप देने में है।[4] किन्तु वह इस दृष्टि की पूरी गहराई नहीं नाप पाया। इसी से उसका आत्म के आधार से विषय की पुनः स्थापना का प्रयत्न अत्यन्त स्थूल और अपनी दृष्टि के विपरीत है। उदाहरण के लिए विषयी आत्मा का तत्त्व यदि ज्ञातृत्व है तो वह द्रव्य नहीं हो सकता, ऐसा द्रव्य तो कभी भी नहीं जो पाइनियल ग्रंथि में भौतिक देह के सम्पर्क में आये। ज्ञातृत्व विषयोन्मुख या आत्मोन्मुख चित्क्रिया है, जिसे गुणों का आधार-द्रव्य नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार, बाह्य विषय यदि आत्मा* के प्रत्यय के रूप में ही ग्राह्य है, तो प्रत्यय की सत्यता के लिए किसी भिन्न सत्ता की आवश्यकता नहीं है, विस्तारात्मक सत्ता की तो सर्वथा नहीं। किन्तु डेकार्ट में ये दोनों प्रतिपत्तियां मिलती हैं। वास्तव में डेकार्ट के प्रयत्न का दोष उसकी दृष्टि के मूल में ही है जो वह आत्मा को स्वरूपतः वैयक्तिक और विमर्शात्मक देखता है। इसके विपरीत औपनिषद् दृष्टि है जिसके अनुसार ज्ञाता परम अनिर्धार्य और अगम्य है : "विज्ञातारं रे केन विजानीयात्," अथवा बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु की दृष्टि है, कि ग्राह्य-ग्राहक भाव उपचार मात्र है[5] और इस

3. डेकार्ट—डिस्कोर्स आन मैथड, भाग 2.
4. डेकार्ट की 'मैडीटेशंस्' के अतिरिक्त इस पर द्रष्टव्य
   पिअरे थेवनाज-कृत व्हाट इज फिनामिनालोजी पुस्तक में "दि क्वश्चन ऑफ रैडिकल डिपार्चर इन डेकार्ट एंड हुस्सर्ल" अध्याय, तथा भगवती—"डेकार्ट : दार्शनिक विवेचन" दार्शनिक त्रैमासिक, अप्रेल, 1973.

* यहां यह द्रष्टव्य है कि डेकार्ट का 'इगो' उपयुक्त रूप से 'आत्मा' का पर्याय नहीं हो सकता, क्योंकि 'इगो' व्यक्तिगत अनुभवों का अनुभूत अधिष्ठाता है जबकि आत्मा वैयक्तिक निर्धारणों से पूर्णतः रहित है। इसलिए 'इगो' के लिए 'आत्म' (अस्मिता के अर्थ में) का प्रयोग ही उचित है और वही हम आगे करेंगे।

5. वसुबन्धु—विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः, दशम् कारिका पर वसुबन्धु की वृत्ति : "यो बालैर्धर्माणां स्वभावो ग्राह्यग्राहकादि परिकल्पितस्तेन परिकल्पितेनात्मना तेषां नैरात्म्यं, न त्वनभिलाप्येनात्मना, यो बुद्धानां विषय इति।"
   हिन्दी अनुवाद—
   अज्ञानियों द्वारा धर्मों के स्वभाव की जो कल्पना ग्राह्य-ग्राहक रूप में की गई है उस कल्पित रूप में उनका नैरात्म्य है न कि अनिर्वचनीय रूप में, जो बुद्धों का विषय है।

प्रकार विज्ञान वैयक्तिक निर्धारणों से परे है। यह दृष्टि आत्मा को स्पष्ट और विविक्त (क्लीयर एंड डिस्टिंक्ट) प्रत्ययों के समवाय या इनके अधिष्ठाता के रूप में, अथवा प्रत्यय-क्रिया के रूप में भी नहीं देखती, क्योंकि ये सापेक्ष और विषयात्मक हैं और उस दृष्टि के सम्मुख निरस्त हो जाते हैं जो इनकी सापेक्षता को देखती है।

यहां यह आपत्ति की जा सकती है कि डेकार्ट विषय-प्रत्यय को नहीं बल्कि प्रत्यय-ग्रहण-मूलक विषयी को आत्मा मानता है। यह सही नहीं है, वास्तव में यह प्लेटो द्वारा निर्धारित सम्पूर्ण पाश्चात्य दर्शन की सीमा है कि वह आत्मा का धर्म प्रत्यय को ही मानता है, और प्रत्यय वस्तून्मुख, या वस्तुग्राही है; यह केवल कांट के अनुवर्ती जर्मन प्रत्ययवादियों के लिए ही सम्भव हुआ कि वे चैतन्य को प्रत्यय से अतिक्रामी रूप में देख सके, जिसका कारण सम्भवतः तत्कालीन जर्मनी का भारतीय दर्शन से परिचय था।

किन्तु इस पर कहा जा सकता है कि यह कोई स्वतःस्पष्ट बात नहीं है कि प्रत्यङ्मुख प्रत्यय अनिवार्यतः निरपेक्ष आत्मतत्त्व अथवा विषयी-तत्त्व को आधार बनाता है। प्रत्यय अपना आधार स्वयं भी हो सकता है, जैसा डेकार्ट में। दूसरे, यह भी कैसे स्वतःसिद्ध है कि प्रत्यय के लिए प्रत्यङ्मुख होना अनिवार्य अथवा संभव भी है? यह क्यों नहीं माना जाय कि प्रत्यय अनिवार्यतः विषयोन्मुख ही होता है, फिर चाहे विषय प्रत्यय का अन्तर्गत अर्थ (कांटेंट) ही क्यों न हो? जैसे माइनांग और हुस्सर्ल में? अथवा इससे आगे जाकर यह भी क्यों नहीं कहा जा सकता कि प्रत्यय अनिवार्यतः बाह्य सत् का अपेक्षी है, जिसे अव्यवहित भाव से प्रस्तुत होने में ही उसकी सार्थकता है, और दर्शन का कार्य प्रत्यय और सत् के बीच के व्यवधान को हटाना ही है, जैसा प्लेटो और न्याय-वैशेषिक में है? अथवा, दर्शन अपने आधार की खोज में प्रत्यय की प्रत्यङ्मुखता को ही पाता है, तो भी यह कैसे कहा जा सकता है कि यह प्रत्यङ्मुख प्रत्यय वेदान्त के समान ब्रह्म में, या नागार्जुन के समान शून्य में ही अपना आधार पाता है; वह ह्यूम के समान संवेदमूलक आत्म-विघटन में ही आधार क्यों नहीं पा सकता? और आगे जाकर यह भी पूछा जा सकता है कि दार्शनिक आधार की खोज प्रत्यय की दिशा में ही क्यों उचित है, भौतिक सत्, अथवा संस्कृति, अथवा इतिहास की दिशा में क्यों उचित नहीं है?

जैसाकि दर्शन के इतिहास से परिचित लोग जानते हैं, दार्शनिक आधार की खोज ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में ये सभी दिशाएं ली हैं। तब किसी एक दिशा को पूर्वाग्रह-रहित और शेष को पूर्वाग्रह-ग्रस्त कहने का औचित्य स्वभावतः संदिग्ध हो जाता है। यहां यह द्रष्टव्य है कि पूर्वाग्रह-राहित्य का विचार दर्शन का आधार उस अनुभव में खोजने से सम्बन्धित है जो सब ज्ञान में आधारभूत और पूर्णतः निश्चयात्मक है। दर्शन के पूर्वाग्रह-रहित आधार के अन्वेषक दार्शनिकों

का कहना है कि चेतना में सहज प्रदत्त अनुभव से आरम्भ कर उसकी आलोचना के सहारे ही क्रमशः आगे बढ़ना उचित दार्शनिक कार्य है, क्योंकि अन्यथा वह पूर्ण और निश्चित ज्ञान सम्भव नहीं हो सकता जो दार्शनिक विचार का लक्ष्य है।[6] इसके अतिरिक्त, दर्शन का अन्वेष्य आधारभूत तत्त्व होने से, वह किसी आधार को पूर्वमान्य कर अग्रसर नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए मार्क्स की स्थापना को लें, कि ''मूल सत् भौतिक है जो प्राण, इन्द्रियों और मनस् के रूप में रूपान्तरित होता है।'' अथवा सामाजिक सन्दर्भ में, ''मूल सत् आर्थिक सम्बन्ध हैं जो शेष सब सम्बन्धों, विचारों और भावनाओं का निर्धारण करते हैं।'' अथवा डेकार्टीय स्थापना को लें, कि ''मूल सत् दो हैं जिनमें एक विषयगत-भौतिक है और दूसरा विषयिगत-मानसिक।'' दोनों स्थापनाएं लोक-संज्ञान के बहुत निकट हैं, डेकार्ट की विशेष रूप से। (यहां डेकार्ट द्वारा इनके विवेचन की असाधारणता की हम उपेक्षा कर सकते हैं।) इस पर निराग्रहता के अधिवक्ता दार्शनिक कहेंगे कि 'भौतिक' और 'मानसिक' दोनों अवधारणाएं जटिल परिभाषाओं की अपेक्षी हैं और उस सत्ता का कथन करती हैं जो किसी परिभाषा के लिए गम्य नहीं है, और सब परिभाषाएं अनुभव-मूलक होती हैं, इसलिए सब सत्ताओं का ग्रहण अनुभव के माध्यम से ही करना सम्भव है। **ज्ञान और सत्** पुस्तक के लेखक के शब्दों में, ''दर्शन 'वस्तु' की बात नहीं कर सकता, वह केवल 'वस्त्वर्थ' की बात ही कर सकता है, क्योंकि दार्शनिक के पास वस्तु की उपलब्धि का कोई उपाय नहीं है।''[7] किन्तु पूर्वाग्रह-रहित अर्थ की उपलब्धि कैसे हो ? यह दो प्रकार से हो सकती है : 1. अनुभव के मूल में प्रतिष्ठित होकर, और 2. वस्त्वर्थों के बीच तटस्थ रहकर। किन्तु अनुभव के मूल में प्रतिष्ठित होना तब तक कैसे सम्भव है जब तक 'अनुभव क्या है' इसका निर्णय नहींहो ? पाश्चात्य दर्शन में 'अनुभव' अधिकांशतः 'इन्द्रियानुभव' के अर्थ में ही समझा गया है, यद्यपि बौद्धिक प्रत्यय को अनुभव मानने की प्लेटोई परम्परा भी है। भारतीय परम्परा में अनुभव का प्रयोग व्यापक है, वास्तव में बौद्धों के कुछ सम्प्रदायों के अतिरिक्त इस परम्परा में अनुभव को संवेद तक कहीं भी सीमित नहीं किया गया है। उदाहरण के लिए सांख्यिकारिका में प्रत्यक्ष की परिभाषा 'प्रतिविषयाध्यवसायः'[8] की गई है। इसमें प्रतिविषय का अर्थ 'संवेदग्राह्य विषय' लिया जा सकता है, किन्तु यह भी लिया जा सकता है ''अध्यवसाय को इन्द्रिय-माध्यम में प्रस्तुत विषय''। जो भी हो, सांख्य में पंचमहाभूतपर्यन्त सब

6. मार्विन फार्बर द्वारा सम्पादित—फिलॉसफीकल एस्सेज इन मैमोरी ऑफ एड्मंड हुस्सर्ल में मार्विन फार्बर का लेख ''दि आइडियल ऑफ प्रीसप्पोज़ीशनलेस फिलॉसफी।''

7. यशदेव शल्य—ज्ञान और सत् में अध्याय 9, पृ० 107-108.

8. ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, का. 5.

ग्राहकत्व बुद्धि की ही विधाएं है। किन्तु बौद्ध, जैन, वेदान्त और सांख्य सब एक अन्य स्तर के अनुभव को भी 'अनुभव' मानते हैं। इस प्रकार, अनुभव का स्वरूप-निर्णय स्वयं पूर्वाग्रह-ग्रस्त है। ऐसी अवस्था में केवल दूसरा विकल्प :वस्त्वर्थों के बीच ताटस्थ्य: ही रह जाता है। "वस्त्वर्थों के बीच ताटस्थ्य" का अभिप्राय है वस्तुग्राही प्रत्ययों के स्तर का अतिक्रमण कर इन प्रत्ययों के स्वरूप का समीक्षक होना। हुस्सर्ल का विज्ञानों के पूर्वाग्रहों से मुक्त होने के परामर्श का यही अर्थ है, और एक दूसरी प्रणाली से हमने अपने पिछले दो ग्रन्थों—**ज्ञान और सत्** तथा **संस्कृति: मानव-कर्तृत्व की व्याख्या** में इस आशय को व्याख्यायित किया है। किन्तु वास्तव में 'वस्तु' का 'वस्त्वर्थ' के रूप में ग्रहण प्रत्यय का अपने शुद्ध स्वरूप की ओर उन्मुख होना ही है, जिसमें अनुभव अनुभवेतर तत्त्वों से क्रमश: मुक्त होकर शुद्ध द्रष्टृत्व में स्थित होता है।

किन्तु इस प्रतिपादन में जबकि एक महत्त्वपूर्ण अन्तर्दृष्टि और पुष्ट युक्ति है, इसमें एक महत्त्वपूर्ण दोष भी है। इस दृष्टि में सब विषय अवास्तविक हैं। अवश्य ये विचारक चित् के सत्त्व (बींग ऑफ कांश्यसनेस) की बात भी करते हैं,[9] किन्तु यह सत्त्व आधारात्मक वस्तु-रूप, अथवा परम भाव-रूप* (हाएस्ट बींग) नहीं होकर भाव की अपेक्षा-रूप (लैक) है। यह दृष्टि मनुष्य के लौकिक अनुभव और वैज्ञानिक तथा तार्किक ज्ञान की दार्शनिक विमर्श में प्रकट स्थिति का तो बहुत युक्त अंकन कर सकती है, जैसे हुस्सर्ल में, यह उसकी व्यग्रता और खिन्नता की पुष्टि भी कर सकती है, जैसे सार्त्र में, किन्तु यह उसके परमार्थानुशीलन और स्वरूपान्वेषण का आकलन नहीं कर सकती। हम विषय की सत्ता का आत्मसत्ता में समर्पण कर सकते हैं, अथवा आत्मसत्ता का विषय-सत्ता में समर्पण कर सकते हैं, किन्तु यह सम्भव नहीं है कि विषय और आत्मा दोनों को निरवलंब छोड़ दें, जोकि इस दृष्टि में किया गया है।[10] किन्तु आत्म-सत्ता का विषय-सत्ता में समर्पण भी बहुत महंगा पड़ता है, क्योंकि इससे सब अर्थ, प्रसंग और अन्वेषण निराधार हो जाते हैं। सत्ता अवश्य शेष रहती है, किन्तु अपनी अंध निरर्थकता में स्थिर, जिससे सृजन, अन्वेषण, अन्वेष्य, भाव्य और भाव सब रिक्त हो जाते हैं। किन्तु यदि तात्कालिक रूप से यह मान भी लिया जाय (जोकि आग्रह मात्र ही होगा) कि

9. द्रष्टव्य, हुस्सर्ल—आइडियाज़, अ. 8.

* कहीं कहीं 'सत्त्व' के स्थान पर हमने 'भाव' शब्द का प्रयोग भी किया है। इसमें 'वस्तुत्व' के बजाय 'होनेपन' की प्रमुखता अभिप्रेत है।

10. द्रष्टव्य—ज्ञान और सत् में 'मानव-प्रतिमा' अध्याय। यद्यपि यह पुस्तक पूरी ही इस दोष पर आधारित है किन्तु इस अध्याय में यह दोष स्पष्टतम है। इस दोष का परिशोधन अंशत: हमारी विषय और आत्म पुस्तक के 'आत्म' शीर्षक अध्याय में हुआ है, किन्तु इसका पूर्ण निवारण हमारी पिछली पुस्तक मनुष्य और जगत् में हुआ है।

सत् और इस प्रकार आधार, विषयमूलक है, तो भी दर्शन उसे अपने आधार के रूप में स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि दर्शन के लिए यह प्रत्ययात्मक विमर्श द्वारा निर्धार्य है कि सत् क्या है।

किन्तु यहां यह कहा जा सकता है कि सत् इस प्रकार निर्धार्य नहीं हो सकता, क्योंकि सत् किसी कोटि में सीमित नहीं किया जा सकता। किन्तु इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि कोटियां सत् को पूर्वापेक्षित करती हैं, वे सब उसको निर्धारित करती हैं और जो उसे पूर्वापेक्षित नहीं करतीं वे निषेध के द्वारा उसका निर्धारण करती हैं। जो भी हो, यहां यह द्रष्टव्य है कि यह निर्धारण, अथवा अनिर्धार्यता का ख्यापन, स्वयं प्रत्ययगत है और दार्शनिक विमर्श का विषय है। अनिर्धार्यता प्रत्यय का ऐसा विषय है जिसका साक्षात्कार प्रत्यय अपनी सब उपाधियों से मुक्त होकर करता है। यहां यह भी द्रष्टव्य है कि अनिर्धार्यता केवल प्रत्ययमूलक तत्त्व ही है, इन्द्रिय अथवा अंतःकरणमूलक नहीं। निर्धारण इन्द्रियमूलक और अंतःकरण-मूलक भी होता है, किन्तु प्रत्ययमूलक निर्धारण इनसे सर्वथा भिन्न प्रकार का होता है। इन्द्रिय और अन्तःकरण-मूलक निर्धारण जबकि विशिष्ट विषय को ही प्राप्त करता है, प्रत्यय विषय का निर्धारण व्यापकता के व्यावर्तन के रूप में करता है। उदाहरण के लिए घट, पट, वस्तु, अनुभूति, इतिहास, विज्ञान आदि ऐसे निर्धारण हैं जो अन्यों के अथवा अन्यों से व्यावर्तन के द्वारा होते हैं। इन निर्धारणों का यह लक्षण है कि ये अपने व्यावर्तक के साथ व्यापकतर निर्धारण में एकाकार हो सकते हैं, जैसे परस्पर व्यावर्तक 'घट' और 'पट' 'निर्मित वस्तु' में। व्यापकतरता का यही क्रम परम व्यापक, अथवा कहें सर्वव्यापक, को संकेतित करता है। अवश्य परम व्यापक प्रत्ययग्राह्य नहीं है, क्योंकि प्रत्यय का यह मूल स्वभाव है कि वह केवल निर्धारित का ही ग्रहण कर सकता है। यहां तक कि व्यापकतम तत्त्व : भाव : भी प्रत्यय द्वारा अभाव से व्यावृत्त के रूप में ही ग्राह्य हो सकता है, और तीसरी कोटि संभवन (बिकमिंग), जो इन दोनों का समावेश करती है, पुनः अपने व्यावर्तक के रूप में भाव का आक्षेप करती है। किन्तु व्यावर्तन का, अथवा कहें प्रत्यय का, यह भी स्वरूप है कि यह व्यावृत्त का केन्द्र पर : विषय-रूप से : ग्रहण कर अप्रस्तुत व्यावर्तक का परोक्षतः आकलन करता है और इस प्रकार अपने निर्धारण के परे देखता है।[11]

प्रत्यय* के प्रत्येक ग्रहण का विशेष या व्यष्टि से व्यापकतर होना उसके विशेष से स्वातंत्र्य का द्योतक होता है और यह स्वातंत्र्य चैतन्य के आत्मोन्मुख

11. इस पर हमने मनुष्य और जगत् पुस्तक के 'दर्शन का आरंभ-बिन्दु : प्रत्यङ्मुख चैतन्य' अध्याय में विस्तार से विचार किया है। भगवती का लेख 'अपोहवाद', परामर्श (हिन्दी) वर्ष 1, अंक 1-2, भी द्रष्टव्य।

* 'प्रत्यय' शब्द का प्रयोग इस पुस्तक में दो अर्थों में हुआ है, एक ज्ञान-वृत्ति के रूप में और

प्रवर्तन को प्रकट करता है। देश-काल क पर गृहीत विलक्षण घट विशेष है और 'यह घट है' अध्यवसाय में गृहीत घट सब विशेष घटों पर व्यापक है। यद्यपि इस अध्यवसाय में घट-जाति (सामान्य) ग्राह्य और प्रत्यय ग्राहक है और इस प्रकार प्रत्यय विषय-निबद्ध है, किन्तु जाति की व्यक्तियों पर व्यापकता प्रत्यय ल चैतन्य की आत्मोन्मुखता में प्रतिष्ठित होने से ही है। यही कारण है कि घट-जाति का व्यापकतर जातियों : बर्तन, गोचर वस्तु, वस्तु : में समाहार हो सकता है। किन्तु यह आत्मोन्मुख प्रवर्तन परोक्ष है, क्योंकि यह विषय को माध्यम बनाता है, प्रत्यय तब प्रत्यक्षतः आत्मोन्मुख होता है जब वह अपनी ही आत्मोन्मुखता पर मनन करता है।

किन्तु यहां प्रत्यक्ष आत्मोन्मुख प्रवर्तन के इस निरूपण पर आपत्ति की जा सकती है कि इस निरूपण के अनुसार स्वयं प्रत्यय ही विषय होता है, जबकि प्रत्यय इस प्रकार मननीय नहीं होता क्योंकि वह विषयी होता है, विषयी की प्रत्यङ्मुखता उसकी पूर्ण पारदर्शिता है जोकि प्रत्यय के आत्मोन्मुख प्रवर्तन में भी अवगम्य नहीं होती। यही कारण है कि शंकर भी, जो इसे सत्ता में पूर्णतः पारदर्शी मानता है, ज्ञान में इसे कुछ धुँधला देता है। उसके अनुसार, "आत्मा पूर्णतः अविषय नहीं है क्योंकि यह आत्म-प्रत्यय का विषय है।"[12] ऊपर उल्लिखित अन्य मत भी उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिनमें प्रत्यय विचार्य विषय है और अतएव अपारदर्शी है। यह सही है, वास्तव में वस्तु, गुण, विषय आदि के स्वरूप और प्रत्यय के स्वरूप पर विचार में कोई अन्तर नहीं है। किन्तु प्रत्यय की प्रत्यक्ष प्रत्यङ्मुखता अपने प्रत्यङ्मुख स्वभाव के ग्रहण में है जिसका ग्रहण प्रत्यय परोक्ष-ग्रहण की परोक्षता के ग्रहण के साथ उस ग्रहण के आधार के रूप में करता है। दूसरे शब्दों में, जब हम प्रत्येय तत्त्वों की व्यापकतरता के सोपान को प्रत्यय के स्वातंत्र्य में से उद्भूत होते देखते हैं तब प्रत्यय इस स्वातंत्र्य के रूप में प्रत्यक्ष प्रत्यङ्मुखता में ग्राह्य होता है।[13] इस स्वातंत्र्य अथवा निर्धारणों के

दूसरे इस वृत्ति से उपलक्षित सत्ता के रूप में। पहले अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हमने बहुत कम किया है और अधिकांश में उसके स्थान पर अवधारणा शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु जहां इस शब्द का प्रयोग इस अर्थ में आवश्यक लगा वहां इसकी सूचना दे दी गई है, जैसे यहां।

12. "न तावदयमेकान्तेनाविषयः अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्।" ब्रह्मसूत्र-भाष्य, अ० 1, पा० 1, अधि० 1, सू० 1।

हिन्दी अनुवाद : किन्तु यह आत्मा एकान्ततः अविषय नहीं है, क्योंकि यह आत्म-प्रत्यय के द्वारा विषय भी होता है।

13. यहां द्रष्टव्य है कि जहां शंकर आत्मा को प्रत्यय-विषय कहता है वहीं, उसी वाक्य में, वह उसे 'अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्म प्रसिद्धेः' भी कहता है, जोकि 'न तावदयमेकान्तेनाविषयः' से संगत नहीं है।

आधार का साक्षात्कार सभी निर्धारणों में अपने से परे अनिर्धार्य के संकेत के रूप में होता है और प्रत्यङ्मुखता का प्रत्यक्ष दर्शन अनिर्धारित का साक्षात्कार है। निर्धारण-सोपान का यह स्वभाव है कि प्रत्येक उच्चतर निर्धारण निम्नतर निर्धारणों को उनके अतिक्रमण के साथ आत्मसात् करता है : घट-जाति यद्यपि घट-व्यष्टियों पर व्यापक है किन्तु व्यष्टियों की व्याप्यता घटत्व (जाति) के निर्धारण में होती है, विशिष्ट अस्तित्व में नहीं। $घ_1$ की $घ_2$ से विशिष्टता घटत्व में अपना सत्त्व खो देती है और वस्तुत्व में घटत्व और पटत्व अपना सत्त्व खो देते हैं। उच्चतर में निम्नतर के सत्त्व का यह अतिक्रमण या निरास अनिर्धारित के स्तर पर एक दूसरा आयाम ले लेता है: अनिर्धार्य उच्चतर निर्धारणों के समान अपने निम्नतर निर्धारणों के समग्र पर व्यापक नहीं होता और परिणामतः व्याप्यों द्वारा निर्धारित भी नहीं होता, क्योंकि उसका कोई व्याप्य ही नहीं होता। किन्तु यह द्रष्टव्य है कि प्रत्यय अनिर्धारित नहीं हो सकता, अनिर्धारित (अनिर्धार्य) प्रत्ययता का अतिक्रमण करता है। कहा जा सकता है कि अनिर्धार्य में यह अतिक्रमण गणितीय अनन्तता के समान है जो अनन्तता वास्तविक नहीं होकर स्वयं संख्या-क्रम की अवधारणामूलक होती है। किन्तु यह सही नहीं है, यदि संख्या और उसका क्रम कल्पित हैं तो उसकी अनंतता भी कल्पित होगी, किन्तु यदि संख्या कल्पित नहीं है तो उसकी अनन्तता भी कल्पित नहीं होगी। जहां तक प्रत्यय का सम्बन्ध है, वह कल्पित नहीं है, 'कल्पना' और 'प्रामाण्य' आदि उसके विषय के लक्षण होते हैं, प्रत्यय के नहीं, क्योंकि प्रत्यय स्वप्रकाशित होता है, परिणामतः उसके निर्धारणों का सोपान भी कल्पित नहीं हो सकता, इसलिए अनिर्धार्य को गणितीय अनन्तता से उपमित करना युक्तियुक्त नहीं हो सकता। किन्तु गणितीय अनन्तता और अनिर्धार्यता में एक दूसरा मौलिक अंतर भी है : अनंतता स्वयं संख्या नहीं होने पर भी संख्याक्रम की ही अनंतता है और परिणामतः संख्या-क्रम की व्यवस्था के ही अन्तर्गत है, किन्तु अनिर्धार्यता प्रत्यय और तन्मूलक निर्धारणों की व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं होती, यह केवल उसके द्वारा संकेतित होती है। प्रत्यय द्वारा अनिर्धार्य यह शुद्ध तत्त्व शुद्ध सत् है, जो एक-साथ प्रत्यय और प्रत्येय का अतिक्रामी आधार है।

उदाहरण के लिए किसी प्रत्यय को लें, जैसे 'घट'। 'घटत्व' इस प्रत्यय द्वारा ग्राह्य वस्तु है जो घट-प्रकारेण निर्धारित है। निर्धारण व्यावर्त्तक-व्यावृत्त के, अर्थात् अघट और घट के द्वन्द्व को उत्पन्न करता है जिसका एक पक्ष :अघट: दूसरे पक्ष :घट: का समावेश करने पर निर्धारणों से रहित हो जाता है। अब घट का ग्रहण अनिवार्यतः अनिर्धार्य : घट-अघट समावेशक पूर्णता: में प्रतिष्ठित होता है। यहां यह पुनः स्मरणीय है कि निर्धारणों में व्यापकता का सोपान और इस प्रकार अनिर्धार्यता का संकेत प्रत्येय-वस्तुगत नहीं हो सकता, क्योंकि वस्तु अपने व्यावर्तक का 'अवलोकन' नहीं कर सकती, यह अवलोकन प्रत्यय अपने आत्मोन्मुख आरोहण में ही कर सकता

है। यहां प्लेटो का प्रत्यय-ग्राह्य वस्तुओं की सौपानिकता का सिद्धान्त स्मरणीय है, जो वास्तव में प्रत्ययगत प्रत्यङ्मुखतामूलक है। किन्तु तब यह आपत्ति होगी कि व्यापकता वस्तुगत होती है न कि प्रत्ययगत, क्योंकि यदि व्यापकता प्रत्ययगत हो तो जाति भी प्रत्ययगत और इस प्रकार अवास्तविक होगी। इसका उत्तर यह है कि प्रत्यय वस्तु-तंत्र है और वस्तु प्रत्यय-तंत्र, प्रत्यक्ष ही के समान, जिसमें प्रत्यक्ष वस्तुतंत्र होता है और वस्तु प्रत्यक्षतंत्र। दोनों एक ही सत् के दो पक्ष हैं और कोई दूसरे के सत्त्व का समावेश नहीं करता। किन्तु अर्थत:, अथवा कहें अस्तित्वत:* वस्तुएं प्रत्यक्ष होती हैं और प्रत्यय से स्वतंत्र होती हैं, क्योंकि प्रत्यय या प्रत्यय-मूलक कोई ग्रहण ग्राह्य वस्तु का निश्शेषत: ग्रहण नहीं करता। इस प्रकार व्यापकता जबकि वस्तुगत है, क्योंकि गायों पर व्यापक गोत्व होता है न कि गाय-प्रत्यय पर गोत्व-प्रत्यय, आरोहण का क्रम इसके विपरीत प्रत्यय के आत्मोन्मुख स्वभाव-मूलक होता है। प्रत्यय और प्रत्ययग्राह्य की इस युग्मता के कारण ही अनिर्धार्य में दोनों का युगपद् लय हो पाता है, क्योंकि वह निरपेक्षभाव से चित् और सत् है।

यहां संक्षेप में प्रत्यय-विषयक ह्यूमीय सिद्धांत का निराकरण भी स्थाने होगा: यह सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक पूर्वमान्यताओं पर आधारित है, तात्त्विक नहीं है। किन्तु मनोविज्ञान एक विज्ञान होने से आधारभूत नहीं हो सकता। इस मत की पूर्वाग्रह-ग्रस्तता इससे स्पष्ट है कि यह जबकि जाति का व्यष्टियों में और जाति-ग्रहणों का व्यष्टि-ग्रहणों (प्रत्यक्षों) में विश्लेषण करके औचित्य का एक भ्रामक आश्वासन पा सकता है, यह सर्जनों की प्रत्ययमूलकता का और प्रत्यय की आत्मोन्मुखता का आकलन नहीं कर सकता।[14]

प्रत्यय के आत्मोन्मुख या प्रत्यङ्मुख स्वभाव के इस निरूपण के बाद प्रत्यय की अन्तर्वस्तु (अन्तरार्थ) और विषय-वस्तु (बाह्यार्थ) का स्वरूप विवेच्य है जो दर्शन के आधार की खोज के प्रसंग में समान रूप से प्रासंगिक है।

प्रत्येय विषय के उदाहरण के रूप में हमने ऊपर 'घटत्व', 'गोत्व' आदि का उल्लेख किया था। कुछ लोग घटत्व आदि का अस्तित्व नहीं मानते, केवल घट-व्यष्टियों का अस्तित्व ही मानते हैं, जिनके आधार पर, उनके अनुसार, हम घटत्व का प्रत्यय बनाते हैं। इस प्रकार, उनके अनुसार, प्रत्यय व्यक्तिमूलक सामान्य कल्पनाएं हैं। यह मत इन्द्रियगम्यता के प्रति पूर्वाग्रह का द्योतक है। किन्तु यहां हम अस्तित्व के प्रश्न पर विचार नहीं करेंगे, यहां हम केवल प्रत्यक्ष के प्रति पूर्वाग्रह

* क्योंकि 'अस्तित्व' वस्तु के अर्थ का एक आधारभूत घटक है।

14. प्रत्यय की सर्जनात्मकता पर द्रष्टव्य, यशदेव शल्य—मनुष्य और जगत् में 'प्रत्यङ्मुख चैतन्य: दर्शन का आरंभ-बिन्दु' अध्याय।

को अस्वीकार करते हुए प्रत्ययगम्य को सत् स्वीकार करेंगे। यह स्वीकृति हमारे ऊपर के सम्पूर्ण विवेचन में निहित है। यहां विचारणीय प्रश्न इनके अस्तित्व का नहीं होकर इनके स्वरूप का है। घटत्व, पटत्व अथवा घट, पट किस अर्थ में अनिन्द्रियगम्य प्रत्येय विषय हैं ? एक इस अर्थ में कि ये एक प्रकार के सब विषयों पर व्यापक होते हैं और व्यापक विषय इन्द्रिय-गम्य नहीं होते। किन्तु घटादि की व्यापकता का आधार क्या है ? क्या यह है कि हम 'घट' शब्द का प्रयोग समान या समानप्राय रूपाकार के विभिन्न व्यष्टियों के साथ होते देखते हैं ? किन्तु जो घट-व्यष्टि अब नहीं रहे, या जो घट-व्यष्टि अभी नहीं बने, उनके साथ किस शब्द का प्रयोग होगा ? दूसरे, जब प्रथम घट अस्तित्व में आया, और अभी कोई और समान व्यष्टि अस्तित्व में नहीं आया था, तब व्यष्टि और जाति में कोई भेद था या नहीं ? दूसरे, क्या घट पहले हुआ या कि घट-कल्पना ? यदि घट-कल्पना पहले थी तो उसका अन्तरार्थ (कांटेंट) पहले व्यष्टि रूप था याकि जाति-रूप ? इन प्रश्नों के उत्तर स्पष्ट हैं। यद्यपि बर्कले द्वारा लॉक के 'सामान्य कल्पना-चित्र' का खंडन दार्शनिकों के बहुमत द्वारा स्वीकार कर लिया गया किन्तु लॉक की दृष्टि में एक मौलिक सत्य है : यह सही है कि कल्पना-चित्र प्रस्तुत विषय के समान सदैव व्यष्टि होता है किन्तु ये दोनों (कल्पना-चित्र और प्रदत्त विषय) अपनी अपेक्षा में सामान्य हो सकते हैं। उदाहरण के लिए जब हम कागज़ पर त्रिकोण बनाते हैं तब वह अपनी प्रत्यक्षगत आकृति में नहीं बल्कि ज्यामितिक सिद्धान्त के निदर्श के रूप में ही ग्राह्य होता है। घट-विशेष के आविर्भाव से पहले कुम्हार की घट-कल्पना में तो वैशिष्ट्य का कोई भी अंश नहीं होता। तब यहां प्रश्न हो सकता है कि इस सामान्य या जाति का व्यष्टि-घट से क्या सम्बन्ध है ? इसका उत्तर है कि व्यष्टि-घट (बाह्यार्थ) प्रत्यय के अन्तरार्थ-निरूपण में आलंबन बनता है और उसी प्रक्रिया में यह आविर्भूत होता है। घट का आविर्भाव आत्मोन्मुख (आदर्शोन्मुख) प्रत्यय के अपने को इन्द्रियगम्य माध्यम में अनूदित करने के क्रम में होता है और इस माध्यम में अवतरित होकर प्रत्यय अपने अन्तरार्थ का प्रतिरूप इसमें देखता है। इसका अधिक उपयुक्त कथन यह होगा कि, घट-व्यष्टि घट-प्रत्यय के सत्त्व में एक अनिवार्य कड़ी है जिसका अपना सत्त्व विशिष्ट होने पर भी प्रत्यय के सत्त्व में सामान्य है। इस प्रकार घट-व्यष्टि केवल घट-जाति का एक उदाहरणमात्र नहीं होता, बल्कि ऊर्ध्वोन्मुख प्रत्यय के अन्तरार्थ के इन्द्रियगम्य माध्यम में आत्म-निरूपण का साधन भी होता है, जिस कारण से प्रत्येक घट सुधार की अपेक्षा से गर्भित, असंख्य संभव घट-रूपों में से एक रूप का धारक, और व्यष्टि-रूप में पूर्णतः आगन्तुक और अनावश्यक होता है। किन्तु यहां जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है वह यह कि घट की व्यष्टिता भी इंद्रियमूलक नहीं होकर प्रत्ययमूलक ही होती है—उसकी यह व्यष्टिता एक संवेद-ग्रहण

की, जोकि विशेषवादी दार्शनिकों का संबल है, विलक्षणता में नहीं होकर घट की आकृति में है जो प्रत्यय-मूलक है। प्रत्येक इन्द्रियगोचर आकृति देश में विभाजन को और प्ररिप्रेक्ष्यता (पर्स्पेक्टिवनेस) को पूर्वापेक्षित करती है, और घट की व्यष्टिता की वस्तुता के यही आधार हैं। यदि उसके वर्ण, सौष्ठव आदि की विशिष्टता को उसकी विशिष्टता का आधार माना जाय तो यह उपयुक्त नहीं है, क्योंकि यह व्यष्टि से बाहर के मानदंड की साक्षेप होती है और आकृति की परिप्रेक्ष्यात्मकता उसे प्रत्यक्ष : सद्य: प्रदत्त: से पर-वस्तु के रूप में सत्त्व दे देती है।[15]

किन्तु प्रत्येय विषय केवल घट-पट प्रकार के ही नहीं होते, इनके अनेक प्रकार हैं जिनमें से कुछ ही ऐसे हैं जो सामान्य-लक्षण हैं, अन्य अधिकांश मूलत: ही विशिष्ट होते हैं, उदाहरण के लिए कलाकृति, मानव-व्यक्ति तथा संसार; ये सब मूलत: ही विशिष्ट होते हैं और ये सब प्रत्येय विषय हैं। अन्य विषय हैं जिनके लिए विशिष्टता-सामान्यता का प्रश्न ही अप्रासंगिक होता है, जैसे दार्शनिक या वैज्ञानिक सिद्धान्त। इस प्रकार प्रत्येक विषय को जाति या सामान्य से लक्षित करना भी भ्रामक है। तब यहां आपत्ति की जा सकती है कि हमने पीछे व्यापकता को प्रत्येय विषय का अनिवार्य लक्षण कहा था। यदि कुछ प्रत्येय विषय स्वरूपत: ही व्यष्टि होते हैं तो वे अव्यापक भी होंगे। इसका समाधान यह है कि प्रत्येय व्यष्टि-विषय भी व्यापक होते हैं, किन्तु इनकी व्यापकता इन्द्रियमूलक नहीं होकर प्रत्ययान्तर्गत ही होती है। किन्तु वास्तव में, जैसाकि हमने ऊपर देखा था, प्रत्येय की व्यापकता व्यष्टि-सापेक्ष नहीं होती, इसी से इसकी व्यापकता इसकी-सदस्य संख्या से प्रभावित नहीं होती। प्रत्येय विषय की व्यापकता का वास्तविक आयाम दूसरा है जिसमें घट-प्रत्यय एक उपन्यास या महाकाव्य के आधार-प्रत्यय की तुलना में नितान्त क्षुद्र होता है। इस आयाम को 'तलोन्मुखता' की संज्ञा दी जा सकती है। प्रत्येय विषयों की यह तलोन्मुख व्यापकता प्राय: अनवगाह्य होती है। इनकी इस व्यापकता के दो प्रकार हैं। एक, विभिन्न अवधारणाओं में प्रत्येय विषय की अंश-ग्राह्यता और इस प्रकार अनिश्शेष्यता और दूसरे, एक अवधारण की उस एक अंश के ग्रहण में भी अपर्याप्तता। प्रथम के उदाहरण के रूप में एक ही प्रयोजन के साधक असंख्य प्रकार के उपकरणों, एक ही परंपरा में लिखे गए अनेक दार्शनिक ग्रन्थों, अथवा एक ही रस के निरूपक विभिन्न काव्यों को देखा जा सकता है, और दूसरे के उदाहरण के रूप में एक दार्शनिक कृति या कला-कृति को देखा जा सकता है जो अपने निरूपण को निरूप्य के लिए सदैव अपर्याप्त पाती है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण मानव-व्यक्ति है जो सदैव अपने प्रत्यय से अपनी वास्तविक अपर्याप्तता की अनुभूति से

15. द्रष्टव्य : यशदेव शल्य—विषय और आत्म पुस्तक में 'विषय' अध्याय।

व्याकुल रहता है।

वास्तव में यह अनवगाह्यता और अतिक्रांतता सत्ता-विषयक है, जो केवल प्रत्यय में ही ग्राह्य होती है। अवश्य प्रत्यक्ष विषय के लिए प्रत्यक्षीकरण उसी प्रकार अपर्याप्त होता है जिस प्रकार प्रत्येय विषय के लिए अवधारण। प्रत्यक्ष विषय की अतिक्रांतता उसकी परिप्रेक्ष्यात्मकता, अथवा कहें परतःप्रामाण्य का रूप लेती है। किन्तु यहां यह द्रष्टव्य है कि प्रत्यक्ष विषयक यह अतिक्रांतता भी वास्तव में प्रत्ययमूलक ही होती है, क्योंकि इन्द्रिय अपने ग्रहण के परे नहीं देख सकती। इस प्रकार घट का अप्रस्तुत पक्ष, जोकि घट की वस्तुता की अनिवार्य अपेक्षा है, इन्द्रियमूलक अनिश्शेष्यता नहीं है बल्कि इन्द्रिय के लिए प्रत्यय-कल्पित अनिश्शेष्यता है। यही कारण है कि भौतिक विज्ञान निरन्तर आत्मोन्मुख आरोहण के द्वारा इन्द्रिय-गम्य के अनवगाह्य तत्त्व के अवगाहन में प्रयत्न-रत है।[16] जैसाकि हमने ऊपर देखा, प्रत्ययमूलक प्रत्येक आरोहण निर्धारण की व्यापकता या गहनता की ओर प्रगति है, यद्यपि इस प्रगति के लिए अनिर्धार्य तत्त्व अनिवार्यतः अगम्य रहता है। किन्तु प्रत्येक अनन्त क्रम किसी तत्त्व में मूलित होता है जिसे वह अपने पर्यवसायी या अपनी पर्यन्तता के रूप में पूर्व-कल्पित करता है। यह पर्यवसायिता या पर्यन्तता एक ओर सत्ता में अनन्त वैविध्य की सम्भावना की द्योतक होती है और दूसरी ओर इसके अद्वय मूल की, जिसमें यह अनंत वैविध्य अपनी सब संभावनाओं के साथ प्रतिष्ठित होता और अपनी सार्थकता पाता है।

प्रत्यय हमारे अनुसार अध्यवसाय के तार्किक आकार में व्यक्त बुद्धि मात्र नहीं है, यह चित्* के अनुद्भिन्न और निरपेक्ष भाव में आवयविकता, व्यवस्था, संस्थान या आकार का स्फुटन है।[17] अनुद्भिन्न चित् की उपमा वर्ण-हीन किरणों से दी जा सकती है जो असंख्य वर्णों में उद्भिन्न हो जाती हैं। प्रकाश और वर्ण केवल संस्थान या व्यवस्था नहीं हैं, यह वे उस उपादान के सहित हैं जो इस व्यवस्था के रूप में वर्णों में प्रस्फुटित होता है। "वर्णहीन किरण" वर्णों के वैविध्य को तार्किक आधार देने के लिए कल्पित भौतिक विज्ञानगत एक सैद्धान्तिक परिभाषा है। अनुभववाद और अनुभववादी विज्ञान के अनुसार यह ऐन्द्रिक अनुभव की व्याख्या में उपयोगी एक कल्पना है क्योंकि इसके अनुसार वास्तविक आधार ऐन्द्रिक अनुभव है जिसका ग्राह्य वर्ण-वैविध्य और वर्ण-व्यवस्था है। किन्तु इस प्रतिपादन में एक

16. इस पर आगे अ0 14 द्रष्टव्य।

* 'चित्' और 'चित्त' शब्दों का प्रयोग हम भिन्न अर्थों में कर रहे हैं। 'चित्' शुद्ध अतिक्रामी चैतन्य का वाचक है जबकि 'चित्त' मनस् या मानस-व्यापार का।

17. चित्त में अनुद्भिन्नता और उद्भिन्नता की अवस्थाओं का बोध मुझे विषय और आत्म

सैद्धान्तिक पूर्वाग्रह है। यदि वर्णवैविध्य की व्याख्या के लिए कल्पित निर्वर्ण किरण को विज्ञान द्वारा अर्जित दृष्टि-मूलक भी माना जाय तो भी इससे अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि विज्ञान का मानव-बुद्धि में आविर्भाव मानव-यादृच्छिकता-मूलक नहीं है, यह चित्त की सहज अवस्था है जो सत् के इस प्रकार अवधारण में समर्थ है। अन्यथा अनुभववादी को यह क्यों आवश्यक प्रतीत होता है कि वह वर्ण-वैविध्य की व्याख्या के लिए और उस व्याख्या के नियम बनाने के लिए व्यग्र हो? किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि सत् (यहां वर्ण-संस्थान) इस चित् से पृथक् कोई तत्त्व है, वास्तव में वर्ण-व्यवस्था और चित्त अवधार्य और अवधारण : प्रत्येय और प्रत्ययः हैं जिनमें एक के बिना दूसरा नहीं है और दोनों संयुक्त रूप से वस्तु-सत् हैं। इसमें प्रत्यय को कल्पना (विकल्प) और प्रत्येय को आरोप या उपचार कहना युक्ति-युक्त नहीं है। यही बात सामान्य रूप से सब सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के लिए कही जा सकती है। पुराण, धर्म, विज्ञान, शिल्प, कला और उद्योग सब चित्त के प्रत्ययात्मक व्यापार हैं जो तत्परक प्रत्येय विषयों का अवधारण करते हैं। मानव-चित्त-गत प्रत्यय और उसके विषयों को कल्पना कहने के पीछे युक्ति मानव-चित्त की आत्मप्रकाशन, आत्म-अभिज्ञान की सामर्थ्य को सत् से स्वरूपतः विमुख मानने से सम्बन्धित है जो स्वयं युक्तियुक्त विचार नहीं होकर अनालोचित मान्यता है। यदि हम जैव जगत् : जैव देह की आवयविकता और व्यवहारः को लें तो उसमें व्यवस्था, योजना आदि स्वतंत्र वास्तविकता में परिलक्षित होते हैं। तब इन्हें किसी अतिमानवीय चित्त की कल्पना कहा जायेगा। एक प्रकार से 'अनादि अविद्या, अनादि वासना' के विचार को इस अर्थ में ही देखा जाना चाहिए। ये अतिचित्त की संसार-प्रवृत्ति के वाचक पद ही हैं। वासना और अविद्या मूल्यात्मक पद हैं किन्तु इनका वस्तुपरक पक्ष भी है और उसमें ये 'जैव उपादान में प्रत्ययात्मक चित्त के आविर्भाव' के वाचक कहे जा सकते हैं। इसी क्रम में मानवीय चित्त की आत्मप्रत्ययगोचरता को भी देखना चाहिए। किन्तु यह द्रष्टव्य है कि पुराण, धर्म या विज्ञान की व्यवस्थाओं में चित्त का प्रस्फुटन एक बात है और इनमें प्रतिष्ठित आत्म-अभिज्ञ चित्त का व्यापार दूसरी बात। उदाहरण के लिए कोई वैज्ञानिक किसी वैज्ञानिक सिद्धान्त का

पुस्तक में संकलित लेख 'इतिहास-बोध' लिखते समय हुआ। इस बोध का आगे विस्तार 'मनुष्य और जगत्' पुस्तक में चैतन्य विषयक विचार के क्रम में हुआ। इधर हेगल का ग्रन्थ लॉजिक (पृ0 125) पढ़ते हुए मैंने उसमें यह विचार पाया। किन्तु वास्तव में मेरा इन पदों का प्रयोग दो प्रसंगों में है। 'इतिहास-बोध' में जबकि इन पदों का प्रयोग हेगल के अनुरूप हुआ है, मनुष्य और जगत् में और यहां इनका प्रयोग ईशावास्योपनिषद् के 'स पर्यगात्' या तैत्तिरीय के असद्वा इदमग्र आसीत्'''तदात्मानं स्वयमकुरुत के तथा फ़िख्ते के 'तटस्थ आत्मचैतन्य' के न्यूनाधिक अनुरूप हुआ है।

प्रतिपादन आत्म-अभिज्ञतापूर्वक ही करता है, किन्तु मानव-चित्त में वैज्ञानिक विधा का आविर्भाव आत्म-अभिज्ञ प्रवर्तन नहीं है। यद्यपि यह सही है कि मानव-चित्त स्वयं इस विधा के पीछे भी जा सकता है और इसकी आलोचना कर सकता है किन्तु आत्म-अभिज्ञता का आत्मालोचन (विज्ञान की आलोचना भी जिसमें सम्मिलित है) के स्तर पर आरोहण अधिक विकसित अवस्था है। इसकी प्रथम अभिव्यक्ति ऐन्द्रिक स्तर पर विषयकरण के रूप में प्रकट होती है जिसके साथ युगपद् रूप से विषयीकरण भी प्रकट होता है। इसी विषयी में क्रमशः आलोचक का आविर्भाव होता है जो प्रत्येक आरोहण के साथ विषय से क्रमशः स्वतंत्र होकर आत्मसायुज्य की ओर अग्रसर होता है। विषय-विषयी में उद्भिन्नता से पहले की अवस्था चित्त की नितान्त विषयाधीन अवस्था है जिसमें विषय अपनी उपाधियों का समर्पण विषयी में करता है। इसी से उच्चतर ज्ञान का मानदण्ड विस्तृत सूचना नहीं होकर व्यापक सिद्धान्त और व्यापक दृष्टि होता है।

किन्तु दृष्टि की इस व्यापकता का अर्थ समझने में दार्शनिक प्रायः ही भूल करते हैं। वे दर्शन को सैद्धान्तिक (संभूत विषयक) ज्ञान के रूप में ही कल्पित करते हैं, जैसा विज्ञानों में होता है, केवल इस भेद के साथ कि वैज्ञानिक सिद्धान्त किसी क्षेत्र-विशेष तक सीमित होता है जबकि दार्शनिक सिद्धान्त ऐसा नहीं होता, वह संपूर्ण क्षेत्र पर एक-साथ व्यापक होता है। किन्तु दर्शन को इस प्रकार संभूत तक सीमित करना और भाव्य का उसमें आकलन नहीं करना उसकी मूलगामिता के आदर्श के विरुद्ध है। इस प्रकार बहुत कम दार्शनिक हैं जो दर्शन की मूलगामिता के आदर्श का अनुसरण कर पाते हैं। उदाहरण के लिए कुछ दार्शनिक प्रमाणमीमांसा को ही दर्शन का कार्य मान लेते हैं और प्रमाण का क्षेत्र ज्ञानेन्द्रिय या सैद्धान्तिक बुद्धि तक सीमित कर देते हैं, दूसरे सत्ता के स्वरूप पर विचार करते हैं और उसे सैद्धान्तिक बुद्धिग्राह्य तत्त्व के रूप में ही देखते हैं, जैसे वैज्ञानिक द्रव्य, बल और गति आदि को देखता है। किन्तु कोई समग्र दृष्टि केवल सैद्धान्तिक ग्रहण तक सीमित नहीं रह सकती। यदि वह अपने को इस प्रकार सीमित करती है तो वह उसी प्रकार पूर्वाग्रह-ग्रस्त है जिस प्रकार भौतिक विज्ञान या जीव-विज्ञान। हुस्सर्ल ने गोचर जगत्-मूलक अभिवृत्ति को प्राकृतिक अभिवृत्ति (नैचुरल थीसिस या एटीट्यूड) की संज्ञा दी है, जिसे हम उसके अनुसार दार्शनिक विचार के प्रथम चरण में ही स्थगित करते हैं। किन्तु वह जिस सैद्धान्तिक दृष्टि को परम और इसी कारण दर्शन के लिए उपयुक्त कहता है वह भी वास्तव में सीमित दृष्टि ही है। परम दृष्टि भूत के साथ भाव्य का, और इनसे ऊपर समत्व का भी समावेश करती है। दर्शन को सैद्धान्तिक अन्वेषण (विज्ञान) के रूप में देखने वाले इसके उत्तर में कहेंगे कि उनका यह विज्ञान भाव्य और समत्व दृष्टि का भी समावेश करता है। किन्तु यह सही नहीं है, सैद्धांतिक दृष्टिभाव्य और समत्व विषयक दृष्टियों का भी समावेश

सैद्धान्तिक विषय के रूप में ही कर सकती है और इस प्रकार इन दृष्टियों के मर्म को समाप्त कर देती है। यह हुस्सर्ल में देखा जा सकता है। हाइडेगर और सार्त्र में इसके विपरीत सैद्धान्तिक और एषणात्मक दृष्टियों का एक व्यापकतर दृष्टि में समावेश मिलता है,[18] किन्तु उनमें समत्व दृष्टि या आध्यात्मिक दृष्टि का अभाव है। इसके विपरीत शंकर के ब्रह्मसूत्र भाष्य में वैज्ञानिक-सैद्धान्तिक दृष्टि का अभाव है। अवश्य नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्‌.नाग, ईश्वरकृष्ण आदि के, तथा प्लेटो, कांट, फ़िख्ते, शैल्लिग और शॉपेनहावर आदि के दर्शन में वैज्ञानिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों का समन्वय है, किन्तु इनमें, विशेषत: उपर्युक्त भारतीय दार्शनिकों में, एषणात्मक दृष्टि का संग्रह नहीं है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि इन तीनों का समावेश इनसे भिन्न किसी चतुर्थ दृष्टि में होगा या कि इन तीनों में से ही एक दृष्टि में होगा ?

वास्तव में सैद्धांतिकता दर्शन की रीढ़ है। इसकी परिभाषा 'प्रत्यय का प्रत्यङ्-मुख अभिसरण' यह करनी चाहिए। किन्तु यह अभिसरण केवल तभी अपनी पर्यन्तता को प्राप्त कर सकता है यदि यह उस सबका समावेश करे जो 'शुद्धमपापविद्धम्' के पर्यगमन के क्रम में आविर्भूत हुआ है। प्लेटो का परम सत् परम श्रेयस् भी है, वास्तव में ये दोनों पद उस स्तर पर पर्यायवाची हैं; अथवा कहें परम श्रेयस् (दि गुड) परम सत् का समावेश करता है। परम भाव भाव्य ही है।[19] यही बात ब्रह्म के लिए है जो एक-साथ सत्, चित् और आनंद है और वास्तव में जिसमें सत् और चित् आनंद के अंश हैं। सत् और श्रेयस् में यह भेद नहीं है कि प्रथम द्रष्टृत्व का विषय है और दूसरा कर्त्तृत्व का; श्रेयस् कर्म का विषय नहीं होकर चित्त की भाव-पूर्णता, सत्त्व की निरपेक्षता है, इस प्रकार कलुष या दोष भाव की अपूर्णता है। कांट ने भी नैतिक श्रेयस् को कर्म से नहीं, संकल्प के स्वातंत्र्य से परिभाषित किया है। श्रेयस् से पृथक् सत् अद्वय भाव में सत्-चित् के द्वैत का आरोप है, अन्यथा एक ही भाव अभाव-व्यवहित होकर विषय-पक्ष में एक ओर और आत्म-पक्ष में दूसरी ओर इस व्यवधान के निवारण का प्रयत्न करता है। इसीसे सुकरात के लिए भैषज्य ज्ञान का आदर्श उदाहरण है। इसलिए तथाकथित शुद्ध सैद्धान्तिक-दार्शनिक कृतियां वास्तव में दर्शन की मूलगामी सैद्धान्तिकता की अपेक्षा को पूर्णत:

18. सार्त्र चित्त का लक्षण 'अपेक्षा' (लैक) अथवा 'अभाव' (नथिंगनेस) में देखता है। इसीसे हमने उसके दर्शन को 'एषणात्मक दृष्टि' कहा है।

19. "तब जो ज्ञान-विषयों को उनका सत्य और मनस् को ज्ञान की शक्ति देता है वह तत्व परम श्रेयस् (दि फोर्म आफ दि गुड) है। यह ज्ञान और सत्य का कारणभूत है, और इसके संबंध में यह मानना भी उचित होगा कि यह स्वयं भी ज्ञात होता है, किन्तु साथ ही यह भी कि यह ज्ञान और सत्य दोनों से भिन्न और दोनों से महत्तर है। (रिपब्लिक, 509)

संतुष्ट नहीं करतीं, क्योंकि उनमें श्रेयस् का, कभी-कभी चित् तक का भी, आकलन नहीं होता। मनन का विषय प्रत्यक्षगम्य विषय ही नहीं है, जैसा कि यूरोप के अनुभववादी समझते हैं, न मनन का विषय अवधारणाएं और अवधार्य धर्म या तत्त्व (एस्सेंसिस) मात्र ही हैं, जैसा कि पश्चिम के कुछ प्रत्ययवादी दार्शनिक और हुस्सर्ल मानते हैं, मनन का विषय मृत्यु भी है, जो जीवन की आगन्तुकता, एषणाओं की असारता और सत्ता की रहस्यमयता में अंतर्दृष्टि देता है, इसका विषय पुरुषार्थ और सत्यासत्य तथा सदसद का विवेक भी है। किन्तु यदि मनन जीवन की आगन्तुकता और विवेक को प्रत्यक्ष विषयों या अवधारणाओं की कोटि में ग्रहण करता है, जैसा कि अधिकांश दार्शनिक कृतियों में हम पाते हैं, तो वह वास्तव में दोहरी भ्रांति उत्पन्न करता है। वास्तव में प्रत्यङ्मुख अभिसरण अथवा सैद्धान्तिक ज्ञान आधार तत्त्व के पर्यगमन के क्रम में आविर्भूत सम्पूर्ण वैभव का आत्मसात्करण है जो स्वयं में सर्वोच्च मूल्य या पुरुषार्थ भी है। सैद्धान्तिक अन्वेषण की पारमार्थिकता का यह बोध डेकार्ट, शैल्लिंग और हुस्सर्ल आदि में परिलक्षित होता है, किन्तु पश्चिम के अधिकांश समकालीन दार्शनिक इससे पूर्णतः शून्य हैं, और इस कारण उन्हें संकुचित अर्थ में भी उत्कृष्ट सैद्धान्तिक दार्शनिक नहीं कहा जा सकता।

यहां इस प्रतिपादन को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करना उपयुक्त होगा। हाब्स और बेंथम उच्चतम आध्यात्मिक बोध और कीचड़ में मग्न सूअर के अनुभव में कोई अन्तर नहीं देखते। अपनी दार्शनिक व्यवस्था में मिल, रसल और मूर भी इनमें कोई अन्तर नहीं कर सकते। वास्तव में सार्त्र सूअर के अनुभव को ही अधिक प्रामाणिक कह सकता है, इस अन्तर के साथ कि वह मग्न सूअर के बजाय व्याकुल सूअर को अधिक महत्त्व देगा। दूसरी ओर गीताकार प्रकटतः इससे मिलती जुलती किन्तु वास्तव में मूलतः भिन्न बात कहता है जब वह कहता है कि "विद्या और विनय-संपन्न ब्राह्मण में, और गाय तथा हस्ति आदि पशुओं में एवं कुत्ते तथा कुत्ता खाने वाले चांडाल में जो भेद नहीं देखता वही ज्ञानी है।"[20] इनमें भेद यह है कि हाब्स सैद्धान्तिक अन्वेषण में नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का आकलन नहीं करता, दूसरे शब्दों में, वह चित्, श्रेयस् और आनन्द को सत् स्वीकार नहीं करता, वह केवल ऐन्द्रिय विषयता को ही स्वीकार करता है और प्रत्ययात्मक प्रत्यङ्मुखता को केवल परोक्षतः और केवल इस रूप में स्वीकार करता है कि वह इस विषयता पर विचार करता है। इसके विपरीत गीता प्रत्यङ्-मुखता की पराकाष्ठा में सब भेदों को अभिन्नता में सन्निहित करती है। गीता की

20. विद्याविनयसंपन्ने, ब्राह्मणे, गवि, हस्तिनि,
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः। (5 : 18)

समदृष्टि राग को ज्ञान में बाधक के रूप में देखती है। राग अवधान की सम्यक्ता के अवरोध के द्वारा प्रत्यक्ष-विषय-ग्रहण में भी बाधक होता है, किन्तु अंतःकरण और बुद्धिमूलक दृष्टि में इसकी अवरोधकता अत्यन्त भयावह होती है। दर्शन इस अवरोध से मुक्त बुद्धि है। यह समदृष्टि प्रदत्त-विषय का रूपान्तरण है, हुस्सर्लीय इपोख़े (स्थगन) से इस बात में भिन्न कि जबकि वह स्थगन वैज्ञानिक अर्थ में सैद्धान्तिक(भूत विषयक) है, यह दृष्टि भाव्यात्मक भी है: हुस्सर्लीय स्थगन वस्तु-ग्राही चैतन्य में अतिक्रमण करता है, गीता उस चैतन्य में जो वस्तु-ग्राही के साथ-साथ आनुभूतिक भी है। इस रूपान्तरण का रहीम के एक पद में बहुत सुन्दर निरूपण हुआ है: "समझ झरोखे बैठिके जग का मुजरा देख।" वास्तव में प्रत्ययात्मक ऊर्ध्वारोहण द्वारा अपेक्षित वैराग्य की सिद्धि जगत् को एक तमाशे में बदल देती है जो न केवल लक्षित के सत्त्व का स्थगन है बल्कि उसकी आकर्षकता का भी स्थगन है। वैज्ञानिक दृष्टि इस दूसरे पक्ष से अनभिज्ञ है।[21]

यहां इस दूसरे स्थगन की प्रासंगिकता पर हमारे उपर्युक्त स्पष्टीकरण के बावजूद आपत्ति की जा सकती है कि, यह दर्शन को अपने क्षेत्र से बाहर ले जाना और इस प्रकार उसके बल को विकीर्ण करना है। यह कहा जा सकता है कि अनुभूति, आवेग आदि भी सैद्धान्तिक विवेचन के विषय बनाये जा सकते हैं और इस प्रकार दर्शन के लिए मननीय हो सकते हैं। यह सही है, किन्तु यदि आवेग और अनुभूति स्वयं प्रत्ययानुविद्ध नहीं हों तब ये मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के विवेच्य तो हो सकते हैं, दार्शनिक सिद्धान्त के नहीं। उदाहरण के लिए मृत्यु प्राणिविज्ञान का विषय भी हो सकती है और मनोविज्ञान का भी, प्रथम का दैहिक परिणति के रूप में और दूसरे का भय आदि प्रवेग-जनक के रूप में। किन्तु इस रूप में यह अपने उस मौलिक और अनिवार्य तत्त्व से रहित हो जाती है जो मनुष्य के भावनालोक में उसके अपने सत्त्व की अनिवार्यता में सहज आस्था को विचलित कर देता है और जो चैतन्य के अवलोकन की ही नहीं, पर्येषणा की, अन्वेषण की, भी उन्मुखता को बदल देता है।[22] मृत्यु यहां विषय के बजाय विषयमूलक अनुभव में रूपान्तरित होकर प्रत्यय द्वारा बोध का रूप ले लेती है जो जीवन और जगद्-विषयक दार्शनिक मनन का आधार बनती है। अवश्य यह मनन आनुभूतिक प्रत्यय का आत्म-विवेचन नहीं है जो किसी कलाकृति (गीत, राग, चित्र आदि) के माध्यम से ही अभिव्यक्त हो सकता है, किन्तु तब भी यह विषयिभाव में उत्पन्न बोध ही है, विषयभाव में आकलित ज्ञान नहीं। इस तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए यहां कला-

21. द्रष्टव्य है कि हमने विषय और आत्म में आत्म को 'अवलोकनात्मकता' के विपरीत 'नेयार्थता' से परिभाषित किया था। मनुष्य और जगत् के 'आत्म और अनात्म' अध्याय में इस दृष्टि को और गहराई मिली है।

22. 'मनुष्य और जगत्' में 'धर्म-दर्शन' अध्याय द्रष्टव्य।

विषयक और विज्ञान-विषयक दार्शनिक मनन को लें। कलाकार और कला-दार्शनिक में अवश्य एक मौलिक भेद है, कलाकार अनुभूत प्रत्यय का अनूभूति के विषयिभाव में मनन करता है जबकि दार्शनिक इस प्रत्यय के विषयिभाव का मनन करता है। कलात्मक अनुभूति प्रत्ययानुविद्ध भावना के विषयिभाव का भोगमूलक मनन है, कला-दर्शन इस मनन पर मनन है। भोगमूलक मनन में विषयकरण का प्रश्न ही नहीं है, किन्तु इस पर दार्शनिक मनन भी विषयोन्मुख वृत्ति नहीं है।[23] इसे प्रेक्षणात्मक विषयिवृत्ति कहना अधिक उपयुक्त है। दूसरे शब्दों में, यह प्रत्ययानुविद्ध भोक्तृ-भाव पर, अथवा भोक्तृ-प्रत्यय के विषयित्व पर मनन है जो भोक्तृ-प्रत्यय को सर्वव्यापक पार्यन्तिक प्रत्यय : ब्रह्मानन्द : के ऊर्ध्वोन्मुख क्रम में स्थापित करता है। कला के विपरीत विज्ञान विषयानुशीलन है, यह एक निर्धारित क्षेत्र में प्रत्ययानुविद्ध विषयभाव का आत्ममनन है। हमारा साधारण विषयावधारण रागात्मक विषयिभाव से उपचरित (आवृत) रहता है और इस प्रकार विषय-प्रत्यय के आत्ममनन में बाधक होता है। दूसरे, विषयभाव किसी निर्धारण के बिना संचरित नहीं हो सकता, जिस प्रकार विषयिभाव भी नहीं हो सकता। इन दोनों भावों के संचरण के लिए निर्धारण आवश्यक है। विज्ञान निर्धारित क्षेत्र में विषय-प्रत्यय को विषयिमूलक उपाधियों से मुक्त कर उसके शुद्ध तत्त्व का मनन करता है और आत्मोन्मुखता के क्षणों में निर्धारण के क्षेत्र का मनन करता है। दर्शन इस विषय-प्रत्यय के विषयि-तत्त्व (आंतर स्रोत) का प्रत्ययात्मक साक्षात्कार है, जिसका अर्थ है विषय-प्रत्यय को सर्वव्यापक पर्यन्त प्रत्यय के ऊर्ध्वोन्मुख क्रम में स्थापित करना। इस प्रकार दर्शन सिद्धान्त और अनुभूति दोनों का समावेश कर उनका अतिक्रमण करता है। इसके लिए आवश्यक है कि जगत् को उसकी संपूर्णता में ग्रहण कर उसका अतिक्रमण किया जाय और इस प्रकार विषयात्मक का ही नहीं भावनात्मक का भी, ज्ञानात्मक का ही नहीं भोगात्मक का भी, सैद्धान्तिक का ही नहीं मूल्यात्मक और पारमात्मिक का भी अपने प्रत्यङ्मुख अथवा ऊर्ध्वोन्मुख अभिसरण में समावेश और अतिक्रमण किया जाय।

ये सब आयाम चित् में सत् के प्रकाशक हैं। सैद्धान्तिक-वैज्ञानिक आयाम सत् के अस्तित्वात्मक, स्थिर नियमाधीन अथवा प्रदत्त रूप के प्रति चित्त के आग्रह को व्यक्त करता है। इसकी सफलता को हम सत्य की और असफलता को असत्य की संज्ञा देते हैं। तर्कशास्त्र, विज्ञान और सैद्धान्तिक दर्शन इसी सफलता को अपनी कसौटी बनाते हैं, किन्तु मूल्यात्मक या परमात्म-दृष्टि का जागरण इस सफलता को

23. यहां यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि अतिक्रामी (कांटीय ट्रांसेडेंटल) चिन्तन विषयोन्मुख चिन्तन ही है। इसे हमने अन्यत्र आत्मसंबद्ध चिन्तन से मूलतः पृथक् किया है। द्रष्टव्य विषय और आत्म में 'आत्म' अध्याय।

क्षुद्र और उपेक्षणीय बना देता है। सुकरात 'अपोलोजी' में जिस 'सत्य' को विचारणीय मानता है, उससे भी अधिक, बुद्ध या गान्धी जिस सत्य का अन्वेषण करते हैं, उस अन्वेषण के स्तर पर सैद्धान्तिक सत्य का आग्रह एक बाल-सुलभ कुतूहल लगता है, फिर चाहे कितना भी सूक्ष्म वह क्यों न हो। सुकरात जिस प्रकार के सत्यों की बात करता है उसके उदाहरण रूप में वह वैद्य और अश्वपाल का उल्लेख करता है। ये सत्य क्रमशः मानव-देह के और अश्व के अस्वास्थ्य के निवारण और उपयुक्त शिक्षण तथा स्वास्थ्य से प्रमाणित होते हैं। इसी प्रकार बुद्ध को भिषग्राज कहा गया है। नागार्जुन और वसुबन्धु का दर्शन उस तत्त्व को सैद्धान्तिक सन्दर्भ में समझने का प्रयत्न है जिस सिद्धान्त की प्रामाणिकता बुद्ध की दृष्टि में है। कोई दर्शन इस तथ्य की उपेक्षा कर प्रत्यय की प्रत्यङ्मुखता के वास्तविक तत्त्व का अवगाहन नहीं कर सकता। हुस्सर्ल के अनुसार "फिलासफी विज़्डम* के रूप में ही उत्पन्न हो सकती है, उसका अपना बोध, जो सामान्यता (यूनीवर्सेलिटी) की ओर से प्रवृत्त होता है, ऐसा ज्ञान है जिसके सम्बन्ध में वह प्रथम चरण से, और प्रत्येक अगले चरण पर अपनी निजी अंतर्दृष्टि के द्वारा प्रश्नों का समाधान कर सकता है।"[24] दार्शनिक कर्म की यह बहुत सुन्दर व्याख्या है, किन्तु दुर्भाग्यवश हुस्सर्ल इस दृष्टि के आधार पर निराग्रह भाव से पहुँचने में असमर्थ है। उसकी 'सामान्यता' में केवल विज्ञानों का समावेश है : "सर्वप्रथम, जो भी दार्शनिक बनने की गंभीर अभिलाषा से प्रेरित है उसके लिए आवश्यक है कि वह अपने जीवन में 'एक बार' अवश्य अपने अंतर की ओर उन्मुख हो और अपने भीतर उन सब विज्ञानों का उन्मूलन करे जो उसके समय तक प्रतिष्ठित हैं और तब उनके पुनर्निर्माण की ओर अग्रसर हो।"[25] हुस्सर्ल का यह उन्मूलन इनके आधार में जाकर इनकी आलोचना के रूप में ही अभिप्रेत है, इस रूप में नहीं कि स्वयं उस चैतन्य में ही स्थिति प्राप्त की जाय जो सर्जन की अनेक विधाओं में प्रवर्तित होता है, और उन सब विधाओं की निजी विशिष्टताओं का साक्षात्कार किया जाय।

* इसका उपयुक्त हिन्दी पर्याय होगा—'आर्षदृष्टि'।

24. हुस्सर्ल—कार्टेसियन मैडीटेशंस, पृ० 2।

25. वही।

2

सत्ता का परिशीलन

एक प्रकार से हमारा सर्वप्रथम साम्मुख्य सत्ता से ही होता है, इसलिए सत्ता को स्वतः स्पष्ट और मूलप्रदत्त होना चाहिए। वास्तव में सत् मानव-चित्त का ही प्रथम प्रदत्त नहीं है, यह चित्त के सभी स्तरों पर समानरूप से प्रथम प्रदत्त है। चित्त के सहज स्वभाव उन्मुखता और आत्म-संवेदन या आत्म-प्रकाशन कहे जा सकते हैं। इनमें दूसरा चित्त का मूल धर्म है, पहला आगन्तुक धर्म। आगन्तुक इसलिए क्योंकि यह निद्रा और कुछ दूसरी अवस्थाओं में नहीं रहता, किन्तु अन्यथा यह चित्त के सभी स्तरों पर रहता है। सत्ता चित्त की इन दोनों अवस्थाओं में प्रकट होती है। निद्रित चित्त को आत्म-सत्ता में विश्रान्त चित्त भी कह सकते हैं। उन्मुखता में चित्त किसी विषय को लक्षित कर प्रवृत्त होता है। सत्ता उस विषय का आधार बनती है। वास्तव में यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि चित्त विषय की ओर उन्मुख सत्ता के प्रति आस्था के साथ ही उन्मुख होता है। चित्त की कुछ उन्मुखताएं इस आस्था के बिना भी होती हैं, जैसे रंजनात्मक कल्पनाओं में, इनमें चित्त सत्ता के स्थगन के साथ प्रवृत्त होता है। किन्तु इस अवस्था में चित्त की आत्म-सत्ता उसे प्रकृष्टया विदित होती है, क्योंकि इसमें चित्त विषय की सत्ता के आधार के रूप में अपना भावन करता है। इस प्रकार सत्ता चित्त में स्वगत भी है और बाहर सम्मुखतः भी प्रकट होती है, और दोनों अवस्थाओं में यह युगपद्-रूप से भावित होती है। इस प्रकार सत् चित् से अनिवार्यतः इतर वस्तु का गुण या उसका घटक धर्म नहीं है, यह चित् का उतना ही अन्तरंग भाव है जितना चित् द्वारा सम्मुखतः गृहीत विषय का।

किन्तु यहां आपत्ति हो सकती है कि यह सत् का निरूपण नहीं होकर चित्त में सत् के भावन या ग्रहण का निरूपण है। सत् वस्तुगत तत्-त्व है, यह वस्तु का तद्गत आधार है जिसके कारण वह चित् या चित्त से निरपेक्ष है, और चित्त में इसका प्रकाशन ग्राह्य वस्तु के निरपेक्ष आधार के रूप में ही होता है। जहां यह आधार नहीं होता वहां विषय अवास्तविक होता है और इस प्रकार चित्ताश्रित होता है। किन्तु यह निरूपण युक्त नहीं है। इसमें दो पूर्वाग्रह हैं, प्रथम यह कि चित् स्वरूपतः बाह्यमुखीन है और दूसरा, कि चित् विषय के आश्रय से, उसकी परिधि पर ही घटित होता है, और इस प्रकार इसमें यह आपादित है कि चित् स्वयं सत् से रहित है, यह सत् की दृष्टि से विषयाश्रित (वस्तु-आश्रित) है। इस पूर्वाग्रह के

बहुत से रूप हो सकते हैं, कांट के **क्रिटीक् ऑव प्योर रीज़न** में इसका एक रूप दृष्टिगत होता है, सार्त्र के **बींग एण्ड नथिंगनेस** में एक दूसरा रूप, एक प्रकार से प्लेटो के आकार-सत्तावाद में भी इसका कुछ आभास देखा जा सकता है, यद्यपि वह चित् को एक पृथक् सत् भी मानता है। भारतीय दर्शनों में वैभाषिक और सौत्रांतिक मतों में और न्याय-वैशेषिक में इस प्रकार की धारणा देखी जा सकती है। किन्तु जैसाकि हमने ऊपर देखा, चित् अविकसित जैव चित्त की अवस्था में भी अनिवार्यतः बाह्यमुखीन नहीं होता, यद्यपि इसकी योग्यता उसमें सदैव रहती है; इसी कारण चित् या चित्त को परिधिगत अवस्तु भी नहीं कहा जा सकता। दूसरे, चित्त की बाह्योन्मुखावस्था में सत् के विषयगत आधार के रूप में ग्राह्य होने पर भी उसका प्रथम भावन चिद्गत भावना के रूप में ही होता है, अर्थात् इस स्थिति का विवेचन "विषय की क्रिया-सामर्थ्य या प्रयोजन-साधकता में आस्था" (जैसे धरती पर पैर रखते हुए उसकी दृढ़ता में आस्था, खाद्य वस्तु देखकर उसकी खाद्य वस्तुता में आस्था) के रूप में ही किया जा सकता है, वस्तु के निरपेक्ष तत्त्व के रूप में नहीं। चित् से निरपेक्ष सत् अमूर्त-विचार-ग्राह्य तत्त्व है, जैव अनुभव-ग्राह्य विषय नहीं। जैव अनुभव में विषयगत आधार चिद्गत अर्थ की साधकता की सामर्थ्य के रूप में ही ग्राह्य होता है। जहां तक चित् की अपनी सत्ता का प्रश्न है, वह चित्त में प्रथम और मौलिक भावन तो है ही, इसके अतिरिक्त, चित् अस्तित्वतः : चित्तरूप में : भी सत् में प्रतिष्ठित है, जिस प्रकार अनुमानतः* बाह्य विषय भी है।

किन्तु यह सत् आदिम बोध में जितना ही सहज है, विचारात्मक प्रत्यय के लिए यह उतना ही दुर्बोध और गहन है। विचारात्मक प्रत्यय का लक्षण उन्मुख चित्त द्वारा विषयी और विषय के द्वित्व में उद्भिन्न होकर विषय का विषयी से और परिवेश से विलग निर्धारण करना है। इसे द्विधा व्यावर्तन भी कह सकते हैं। किन्तु यह निर्धारण जबकि प्रकटतः विषयपरक प्रतीत होता है, वास्तव में यह विषयिपरक होता है। यह विषयभाव में निमज्जित चैतन्य का उस भाव से उन्मज्जित होकर अपना आकलन करना और तब इस आकलन के माध्यम से विषय का पुनर्ग्रहण करना है। बौद्धों द्वारा इसे विकल्प कहकर सत् का आवरक बताना, और कांट द्वारा विषयाकार (अ-प्रायराई फोर्म्स) कहकर इसमें विषयी की आत्मोपलब्धि या आत्मचरितार्थन को नहीं देखना, दोनों भ्रामक हैं। विषय का विषयनिष्ठ निर्धारण विषय से अंशतः मुक्त चैतन्य द्वारा उसको : विषय को : उसके अपने आधार में प्रतिष्ठित करना है। किन्तु यह चैतन्य द्वारा विषय के स्वरूप का आवरण नहीं होकर उसके तत्त्व के ग्रहण की दिशा में अग्रसर होना है। यदि प्रत्ययात्मक विषय-निर्धारण को, अथवा इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के स्तर पर इन्द्रिय-सन्निकर्ष-

* "अनुमानतः" इसलिए क्योंकि बाह्य विषय की सत्ता का असन्दिग्ध निश्चय नहीं होता।

मूलक अध्यवसाय को, विषय का आवरक कहें तो कहना होगा कि पाशव स्तर पर हम विषय के स्वरूप का अधिक सम्यक् साक्षात्कार करते हैं और विज्ञान के स्तर पर उससे पूर्णत: विच्छिन्न होते हैं, और दर्शन के स्तर पर विच्छिन्न ही नहीं, विमुख भी होते हैं। वास्तव में कुछ दार्शनिक हैं जो ऐसा ही मानते हैं। बर्गसां ऐसा स्पष्ट रूप से कहते हैं। किन्तु यह एक दूसरे प्रकार का पूर्वाग्रह है जिसे हम गोचर विषयभाव का पक्षपात कह सकते हैं। यहां हम यथार्थ ज्ञान के सम्यक् करण (साधन) की परीक्षा नहीं कर केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि प्रत्यय से अननुविद्ध विषय-बोध में ग्राह्य विषय प्रत्यय से अनुविद्ध बोध से ग्राह्य विषय से नितान्त भिन्न होता है, और यह भेद तब और मौलिक हो जाता है जब ग्राह्य विषय प्रत्ययानुविद्ध इन्द्रिय-मूलक नहीं रहकर शुद्ध रूप से प्रत्ययमूलक ही होता है। किन्तु विचार-प्रत्यय से अननुविद्ध शुद्ध ऐन्द्रिय विषय मानव-चेतना को अनुपलब्ध रहता है और विचार-प्रत्यय से अनुविद्ध ऐन्द्रिय विषय एक पूर्णतः रूपान्तरित विषय होता है। अब सत्ता एक ऐसा विषय है जो किसी भी स्तर पर इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं होता : प्रत्यय से अननुविद्ध या शुद्ध ऐन्द्रिक स्तर पर सत्ता का ग्रहण विषय की सत्यता में आस्था के रूप में होता है और प्रत्ययानुविद्ध इन्द्रिय-विषयता के स्तर पर, अर्थात् विषय के अध्यवसायात्मक निर्धारण में, यह ग्रहण निर्धारण का अंश होता है और इसका स्वयं का तत्त्व शुद्ध विचार के स्तर पर निर्धार्य होता है। यहां यह द्रष्टव्य है कि स्वरूप-निर्धारण, जोकि सदैव शुद्ध प्रत्ययात्मक व्यापार है, दो प्रकार से होता है : एक विषयमूलक और दूसरा प्रत्ययमूलक। विषयमूलक स्वरूप-निर्धारण की परिधि विषय के निर्धारण के अनुसार ही निर्धारित हो जाती है, जैसे भौतिक-विज्ञान में भौतिक के अनुसार, मनोविज्ञान में विषयभूत मन के अनुसार, और गणित में मात्रा-तत्त्व के अनुसार। किन्तु प्रत्यय-मूलक स्वरूप-निर्धारण किसी परिधि पर स्थिर नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यय की कोई परिधि नहीं हो सकती। जैसाकि हमने पिछले अध्याय में देखा, प्रत्यय में चित् प्रत्यङ्मुख वृत्ति में स्थित होता है और यह वृत्ति केवल निरपेक्ष (अनिर्धार्य) पर ही पर्यवसित होती है। बहुत बार दर्शन भी, विज्ञान के समान ही, स्वरूप-निर्धारण में विषयमूलक होता है, किन्तु तब इसका विषय ऐसा होता है जो सब निर्धारणों का अतिक्रमण करता है, जैसे ईश्वर, आत्मा, सत्ता मात्र आदि…आदि। किन्तु जैसाकि हमने पीछे देखा, अनिर्धार्य तत्त्व इन्द्रिय या प्रत्यय-ग्राह्य नहीं होकर प्रत्ययात्मक निर्धारणों के माध्यम से संकेतित मात्र होता है। किन्तु ये निर्धारण अनिर्धार्योन्मुख होने से अतल गंभीर होते हैं, यद्यपि प्रत्यय-ग्राह्य विषय-निर्धारण भी किसी ग्रहण द्वारा निश्शेष नहीं होते। उदाहरण के लिए हम भौतिक विज्ञान में इन्द्रिय-ग्राह्य विषय के तत्त्व का निर्धारण करते हैं, किन्तु हम यह आशा कभी नहीं करते कि यह निर्धारण इस तत्त्व की गहराई की पूरी थाह कभी भी ले पायेगा।

सत्ता से हमारा प्रथम साम्मुख्य इन्द्रिय-विषय में और चित्त में होता है, किंतु इन स्तरों पर स्वयं सत्ता के विषय रूप में ग्राह्य नहीं होने से प्रत्यय में इसका निर्धारण विषय-निर्धारण से तथा विषय-प्रत्यय के निर्धारण से कहीं अधिक दुःसाध्य होता है। सत्ता के हमारे ग्रहण को भाषा वाक्य में 'अस्ति' (है) शब्द द्वारा व्यक्त करती है। इस प्रकार "यह घट है" में "है" शब्द इस घट-वस्तु की सत्ता का वाचक है, जिस सत्ता का ग्रहण हम घट-दर्शन के साथ युगपद् रूप से करते हैं। अब इस घट की सत्ता का क्या स्वरूप है? यह घट सत्ता में अन्य घटों से भिन्न है या अभिन्न? यदि भिन्न है तो, टूट जाने पर यह सत् रहता है या असत्? यदि कहें कि घट-रूप में यह असत् हो जाता है किन्तु मिट्टी रूप में सत् रहता है, तो इस "घट-रूप" का क्या अर्थ है? इस रूप में दो घट किस प्रकार भिन्न होते हैं? दूसरे, यदि मिट्टी-रूप में यह सत् रहता है तो घट-रूप में यह असत् कैसे होता है? क्या तब यह अतीत घट-रूप में और संभाव्य घट-रूप में सत् नहीं रहता? इसके अतिरिक्त, घट की व्यष्टि-सत्ता का आधार क्या है, घट-रूपता या कि व्यष्टि-रूपता? यदि कहें कि ये दो रूप वस्तुतः अभिन्न होते हैं, तो प्रश्न होगा कि यह घट इस गाय से व्यष्टि-रूप में भिन्न है या कि जाति और व्यष्टि-रूप में पृथक्-पृथक्? यदि घट और व्यष्टि अभिन्न हैं तो दो घटों और दो गायों में व्यष्टि-भेद समान होगा, और यदि भिन्न तो व्यष्टि-घट का नाश होने पर इस प्रश्न का समाधान अपेक्षित होगा कि नाश किसका होता है? व्यष्टि का? घट का? या कि दोनों का? पुनः, यदि घट-नाश होने पर घट उपादान में शेष रहता है तो प्रश्न होगा कि उपादान-रूप में घट शेष रहता है या कि व्यष्टि? यदि घट, तो उसी उपादान से पुनर्निर्मित घट नष्ट घट से अभिन्न होगा, यदि व्यष्टि, तो व्यष्टि और उपादान में भेद कैसे होगा? यदि भेद सम्भव है तो प्रश्न होगा कि घट घट रूप में व्यष्टि सत् है या कि उपादान-रूप में? यदि घट-रूप में, तो व्यष्टि-सत्ता का आधार घटत्व-सत्ता होगी, और यदि उपादान रूप में, तो या तो इस व्यष्टि और उपादान में कोई भेद नहीं होगा, या फिर व्यष्टि उपादान रूप में सत् नहीं कहा जा सकेगा। अब, इन प्रश्नों का समाधान असम्भव है, क्योंकि कोई भी समाधान एक-पक्षीय ही हो सकता है जब कि समस्या बहुपक्षीय है।

पुनः, सब निर्धार्य सत् युगपद् रूप से असद्विशिष्ट भी होता है: घट जबकि घट रूप में सत् है, गाय-रूप में असत् है; इस घट-रूप में सत् है, उस घट-रूप में असत्, विद्यमान रूप में सत् है, अविद्यमान रूप में असत्। अब यहां सत्ता-विषयक एक मूलगामी प्रश्न उत्पन्न होता है कि सत् असद्विशिष्ट कैसे हो सकता है? यदि कहें कि सत् अनिवार्यतः असद्विशिष्ट ही हो सकता है, तो कम से कम तीन कठिनाइयां होंगी: प्रथम, यह मानना होगा कि "निर्बाध सत्" वदतोव्याघात है, दूसरी, कि सत् नितांत शून्य में से उद्भूत होता है और नितांत शून्य में ही विलीन

हो जाता है, परिणामतः तब नष्ट घट के उपादान रूप में सत् होने का भी कोई अर्थ नहीं रहता। तीसरी कठिनाई यह होगी कि जब कि गाय घट-रूप में असत् है, वह गाय-रूप में सत् होगी, परिणामतः घट गाय में जबकि अपनी असत्ता से व्यावृत्त होगा, गाय की असत्ता से नहीं, अन्य घट में वह अपनी और गाय की दोनों असत्ताओं से व्यावृत्त होगा। किन्तु इन सबसे गम्भीर और आधार-भूत कठिनाई यह होगी कि असत् व्यावर्तक कैसे हो सकता है ?

यहां एक समाधान यह हो सकता है कि कहा जाए कि प्रत्येक सद्वस्तु असद्-वस्तु से नहीं बल्कि सद्वस्तु से व्यावृत्त होती है और इस प्रकार असत् कोई वास्तविक कोटि नहीं है। परिणामतः घट-सत्ता अघट-सत्ता की, और व्यष्टि-सत्ता आत्मेतरव्यष्टि-सत्ता की व्यावर्तक होती है और इस प्रकार घ अ-घ के साथ निरपेक्ष सत्ता में प्रतिष्ठित होता है। किन्तु इससे भी पूर्ण समाधान नहीं होता, क्योंकि सत् घ सत् अ-घ से ही व्यावृत्त नहीं होता असत् घ से भी व्यावृत्त होता है, अर्थात् घ अपनी उत्पत्ति से पूर्व और नाश के उपरान्त अपनी असत्ता से व्यावृत्त होता है। यह तथ्य प्रत्येक इन्द्रिय-गम्य अस्तित्व को सदसद् का संघात बना देता है और इस प्रकार गोचर अस्तित्व-मात्र प्रवाह (बिकमिंग) हो जाता है। देश में अपने असत् से व्यावृत्ति की दूसरी समस्याएं हैं, विशेषतः उन वस्तुओं में जिनका आकार परिवर्तमान होता है, अथवा जो परिवर्तन-सह होती हैं, जैसे गुब्बारा, स्प्रिंग आदि। इसका एक समाधान यह हो सकता है कि घ अतीत-अनागत में अपने असत् से नहीं अपने अस्तित्व से व्यावृत्त होता है, अर्थात् अस्तित्व और सत् एक ही बात नहीं हैं और इस प्रकार जो अभी सत् है वह त्रिकाल में सत् है और जो अब असत् है वह त्रिकाल में असत् है। किन्तु यदि यह माना जाय तो वह सब गोचरगत सत् हो जायगा जो तर्कतः असम्भव नहीं है। क्योंकि जो तर्कतः सम्भव है उसका घटित नहीं होना केवल आगन्तुक है और परिणामतः वह धर्मतः या तत्त्वतः सदैव घटित है और वस्तुतः गोचरतः कभी भी घटित हो सकता है। इसके अतिरिक्त, घटित होना उसकी सत्ता के लिए आगन्तुक होने से, वह कभी घटित नहीं होने पर भी सत् होगा। किन्तु यह समाधान सहज स्वीकार्य नहीं होगा, यद्यपि इस अस्वीकृति से यह आपादित होगा कि कम से कम गोचर जगत् में सत् अस्तित्व को पूर्वापेक्षित करता है। अर्थात् यह कहा जायगा कि गोचर वस्तु के सत्त्व में देश और काल दोनों घटक होते हैं और परिणामतः केवल घटमान् (घटित हो रही) वस्तु ही सत् हो सकती है, अतीत और संभाव्य वस्तु नहीं। किन्तु ऐसा स्वीकार करते ही प्रवाहवाद को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है, जिसका अर्थ है कि कोई वस्तु कभी अस्तित्व में रहती ही नहीं। किन्तु घट क्षण क-1 से क-2 तक अस्तित्व में रहता है, यह असन्दिग्ध है, प्रवाह की अवधारणा यदि कहीं लागू की जा सकती है तो उसके उपादान कारण पर, घट पर नहीं। घट

घट-प्रत्यय का मिट्टी में निरूपण है,[1] और यह निरूपण अर्थात् घट-प्रत्यय का अस्तित्व-धारण, इसके तत्त्व या सत्त्व में एक अनिवार्य घटक है। किन्तु यह घटना उसके सत्त्व का संपूर्ण नहीं है। प्रत्यय के उपादान में निरूपण के साथ स्वयं उपादान में, उपादान के रूप में, एक रूपांतरण भी घटित हो जाता है, वह यह कि उत्पादन में (जैसे मिट्टी में) स्वगत परिवर्तन निरूपित प्रत्यय की : जैसे घट की : स्वगत अभिन्नता के लिए तब तक प्रासंगिक नहीं रहता जब तक वह उसके अस्तित्व को धारण करता है। इस प्रकार घट विशेष क-1 से क-2 पर्यन्त अभिन्न और अपरिवर्तित रहता है, क-2 के उपरांत उसका अस्तित्वांश लुप्त हो जाता है, यद्यपि उसका सत्त्व घटत्व रूप में रहता है और वह सत्त्व उपादान और निमित्त का आश्रय लेकर पुनः अस्तित्व में प्रकट होता रहता है। इसकी पुष्टि में एक और उदाहरण हम भाषा का ले सकते हैं। प्रत्यय के अस्तित्व का एक उपादान ध्वनि है जो प्रत्यय के निरूपण में शब्द का आकार लेती है। गौणतः लिपि को भी भाषा का अस्तित्व कह सकते हैं। किन्तु संप्रति ध्वनि तक ही सीमित रहते हुए, यह देखा जा सकता कि भाषाश्रित प्रत्यय का अस्तित्व अत्यन्त अल्पस्थायी होता है, किन्तु सत्त्व त्रिकालाबाधित होता है। यहां एक और तथ्य उल्लेखनीय है कि शब्द, अर्थात् शब्द-वाच्य प्रत्यय का अस्तित्व,* घट से भिन्न अवैयष्टिक होता है और परिणामतः वह अपनी विभिन्न घटनाओं में भिन्न नहीं माना जाता : "नाम" शब्द अपनी असंख्य घटनाओं में एक ही शब्द माना जाता है। इस भेद का कारण जानना महत्त्वपूर्ण है— यह कारण अस्तित्व में भेद के स्वरूप में निहित नहीं है, क्योंकि अस्तित्ववान् घट और लिखा या बोला गया शब्द दोनों उपादान में समान : भौतिक : होते हैं। किन्तु एक साथ दस बार लिखा या बोला गया शब्द "नाम" दस भिन्न शब्द नहीं माना जाता, जबकि घट दो व्यष्टियों में भिन्न माना जाता है। इसका एक कारण इन प्रत्ययों के अस्तित्व में प्रयोजन-भेद है, सत्त्वगत स्वरूप-भेद नहीं। यह इससे भी स्पष्ट है कि एक ही प्रत्यय : घटत्व : इस शब्द और घट-व्यष्टि में दो सर्वथा भिन्न रूपों में अस्तित्व लेता है। मृद्-घट पानी भरने के लिए और शब्द-घट संप्रेषण या विचार के लिए होता है। इस प्रकार घट का सत्त्व किसी असत्त्व से व्यावृत्त नहीं होता, केवल अन्य सत्त्व से व्यावृत्त होता है, जबकि अस्तित्व अनस्तित्व से व्यावृत्त होता है। इस प्रकार जहां तक पूर्वोक्त सम्भावना का प्रश्न है, गोचर वस्तुओं के सन्दर्भ में वह अस्तित्व-विषयक है सद्विषयक नहीं, और अस्तित्व के प्रसंग में सम्भव वह है जिसका अस्तित्व नहीं है किन्तु हो भी सकता है, और नहीं भी हो सकता : और यह स्थिति अस्तित्व को आधारभूत रूप से सत्त्व से पृथक् कर देती

1. द्रष्टव्य—यशदेव शल्य : 'मनुष्य और जगत्', अध्याय 1.

* अथवा कहें, ध्वनि के माध्यम में व्यक्त प्रत्यय।

है—जो हो सकता है, और नहीं भी हो सकता, वह यदि है भी तो भी वह केवल आगन्तुक रूप से ही है, वह नहीं भी हो सकता था। वास्तव में यह अंततः चैतन्य के जगत् से सम्बन्ध का भी द्योतक है—प्रत्यय : चित् : जगत् के अन्तर्गत, या जगद्-रूप में, आविर्भूत होता है, किन्तु यह आविर्भाव उसके सत्त्व के लिए आगन्तुक है। किन्तु इस पर विशेष चर्चा हम आगे करेंगे।

यहां इस प्रसंग के एक दूसरे पक्ष पर विचार अपेक्षित है : हमने पीछे प्रश्न उठाया था कि क्या घट नष्ट होने के बाद रहता है या कि असत् हो जाता है ? विचार के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह वास्तव में घट का सत्त्व नहीं अस्तित्व है जो उद्भूत और नष्ट होता है। अब अस्तित्व के संबंध में यह प्रश्न कुछ अटपटा लगता है कि नाश के बाद अस्तित्व रहता है या नहीं, किन्तु जैसा कि हमें विदित है, इस प्रश्न पर भारतीय दर्शन में बहुत विचार हुआ है। किन्तु वास्तव में वह अस्तित्व को लेकर नहीं, सत्त्व ही को लेकर हुआ है। उनके अनुसार घट केवल प्रतिभास या संवृत्ति है, सत् उसका उपादान है जिसमें यह नाम-रूप : घट : आभासति होता है। किन्तु इसके विपरीत हम "नाम" को घट का सत्त्व कह रहे हैं, रूप को उसका अस्तित्व, और ये दोनों मृत्तिका के लिए आगन्तुक हैं। किन्तु यहां हमारे लिए वह चर्चा अभिप्रेत नहीं है। हमारे लिए यहां अस्तित्व का प्रश्न ही प्रासंगिक है। घट अस्तित्व में आने से—आविर्भाव से—पूर्व मिट्टी था और तिरोभाव के साथ पुनः मिट्टी-शेष ही हो जाता है। इस प्रकार उसका घट-रूप में अस्तित्व समाप्त हो जाता है। तब क्या मिट्टी-रूप में उसका अस्तित्व शेष रह जाता है ? किन्तु यदि यह शेष रह जाता है तब आविर्भाव से पूर्व भी इसका यह शेष अस्तित्व मिट्टी-रूप में रहा होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता। तब क्या पहली बात भी नहीं कही जा सकती ? सम्भवतः यह पहली बात इस प्रकार कही जा सकती है कि यदि हम घट-नाश के बाद उसकी मिट्टी अलग संभाल कर रख लें तो कह सकते हैं कि यह मिट्टी उस घाट की है। किन्तु स्पष्ट है कि यह शेष अस्तित्व घट का नहीं होकर हमारी स्मृति के उपचार (आरोप) का होगा। इस प्रकार घट का अस्तित्व उसके टूट जाने के बाद निश्शेष हो जाता है। किन्तु जैसा कि हम जानते हैं, मृत व्यक्ति की देह को जला देने पर उसकी राख और अस्थियों को, मृत व्यक्ति के ही शेष के रूप में देखा जाता है। किन्तु यह भी वास्तव में उसी प्रकार स्मृति-उपचार ही है। किन्तु यहां एक महत्त्वपूर्ण और रोचक वस्तुस्थिति है : जिस प्रकार घट का तिरोभाव मिट्टी में होता है उसी प्रकार मिट्टी का तिरोभाव भी होता है। इस तिरोभाव की प्रक्रिया की अन्तिम प्रतिष्ठा किस में है ? कहें भौतिक सत्ता में। किन्तु यह भौतिक सत्ता क्या है ? यह निर्धार्य है या अनिर्धार्य, या कि निर्धारण-निरपेक्ष ? यह तृतीय कोटि वास्तव में इस सत्ता की चिद्भिन्नता, जड़भाव, का कथन करने के लिए है। किन्तु यह भिन्नता

का कथन निर्धारण है, जो प्रत्ययांतर्गत है। इसका उत्तर हो सकता है कि जड़भाव निर्धारण की अपेक्षा नहीं कर सकता, यह अपेक्षा प्रत्ययगत है, नकि जड़ सत्तागत। किन्तु यदि यह सही हो तो निर्धार्यता सत्तागत नहीं रहकर प्रत्ययात्मक अपेक्षागत हो जायगी और इस प्रकार सत्ता निरपेक्ष भाव-मात्रता हो जायगी। किन्तु तब प्रत्यय के लिए क्या कहा जाएगा? यह सत् कहा जायगा या असत्, या कि इसे अपेक्षा के कारण तीसरी कोटि, असद्गर्भ सत्, में रखेंगे?

इस प्रश्न पर कुछ विचार हम पिछले अध्याय में कर आए हैं, आगे पुनः करेंगे, किन्तु यहां प्रस्तुत प्रश्न अचित् की सत्ता का है; क्या अचित् निरपेक्ष सत् हो सकता है? इसका एक उत्तर हो सकता है कि अचित् यदि सत् हो तो केवल वही निरपेक्ष हो सकता है, क्योंकि निर्धारण और अपेक्षा चित् के स्वभाव में ही सम्भव हैं। किन्तु निरपेक्ष अचित्-सत् तब पूर्णतः अचिंत्य, अर्थात् चिन्तन के द्वारा अपने से अतिक्रामी के रूप में भी असंकेत्य होगा, यह अन्तर्बाह्य सर्वतः अन्धतमस होगा। किन्तु इस रूप में भी यह निर्धारण, या निर्धारणों के अवसान का कथन ही है। इस प्रकार इसके सम्बन्ध में यह कथन भी सम्भव नहीं है। परिणामतः अचित् असत् भी नहीं है, यह अभाव या अविद्यमानता भी नहीं है, यह कुछ नहीं है, यह वदतोव्याघात है। यहां यह स्पष्टीकरण स्थाने होगा कि यह परमार्थ सत्, या अनिर्धार्य के समान अनभिलाप्य नहीं है, क्योंकि यह निर्धारणों के परे संकेत्य नहीं है, यह वदतोव्याघात है। किन्तु हम मिट्टी के तिरोभाव के लिए अधिष्ठान की खोज कर रहे थे, यह अधिष्ठान वदतोव्याघात नहीं हो सकता। क्योंकि इसके वदतोव्याघात होने पर या तो मिट्टी भी वदतोव्याघात होगी अथवा वही अंतिम अधिष्ठान होगी। तब इस अष्ठिान का स्वरूप क्या है? दूसरे शब्दों में, प्रत्यय के अस्तित्व की, उसके भौतिक कलेवर की (जैसे अर्थाधायक और घटत्वाधायक मिट्टी की) सत्ता किसमें है? इस सत्ता का वदतोव्याघात-रहित आख्यान दो प्रकार से किया जा सकता है। एक, कि यह इन्द्रिगोचर विषय-निर्धारणों का अनिर्धार्य अधिष्ठान है, दूसरा, कि यह अव्यवहित चैतन्य में आत्मव्यवधान का उपचार (आरोप) अथवा सत् में असत् का आक्षेप है। इनमें पहला आख्यान उपयुक्त है किन्तु अपर्याप्त है, क्योंकि घटादि प्रदत्त विषय नहीं होकर सृष्ट विषय है और इस आख्यान में इस सृजनात्मकता का आकलन नहीं होता। और मिट्टी आदि भी, निर्धारित विषय होने से, प्रत्ययगत निर्धारण को प्रतिबिम्बित करते हैं, जो निर्धारण चैतन्यगत व्यवधान या असत् का सूचक है। वास्तव में सत् का इस प्रकार ख्यापन हुए बिना अभाव, वासना, दोष और सृजन को नहीं समझा जा सकता, जो कि चित्त के आत्मसत्ता-बोध में मौलिक हैं।

किन्तु चित्तगत आत्मसत्ता-बोध पर विचार से पहले विषय-मूलक निर्धारण के स्वरूप पर कुछ और विचार स्थाने होगा। विषय-गत सत्ता के बोध का आदर्श

उसकी प्रदत्तता में उपलब्ध होता है। इस प्रकार, यह दीवार, यह पैन, यह मिट्टी, यह पानी विषय-सत् हैं क्योंकि ये बाह्य देश में इस आस्था का धारण करते हुए स्थित हैं कि इनकी सत्ता के लिए मेरा इन्हें देखना-नहीं देखना आदि अप्रासंगिक हैं। किन्तु आज यह कहना एक अनावश्यक आवृत्ति मात्र होगा कि इनका रूप, रंग, नाम आदि सब चिन्मूलक निर्धारण हैं। तब शेष केवल सत्ता बचती है जिसे दिङ्नाग और कांट ने स्वलक्षण वस्तु के रूप में निर्धारणों से परे स्थापित किया। किन्तु जैसा कि हमने पिछले अध्याय में देखा, निर्धारण का अतिक्रमण प्रत्यय के आत्मोन्मुख अभिसरण की पराकाष्ठा मात्र है और इस प्रकार स्वलक्षण वस्तु विषय-प्रत्यय के द्वारा अपने शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार है।

किन्तु विषय-निर्धारण का तत्त्व क्या है ? अथवा कहें, चैतन्य की विषय-निर्धारण-प्रवृत्ति का क्या स्वरूप है ? जैसाकि हमने देखा, प्रत्यय स्वरूपतः अनिर्धार्य की ओर अपना अतिक्रमण करता है, किन्तु यह अतिक्रमण अनिर्धार्य का कभी साक्षात्कार नहीं करता। निर्धारण ऐन्द्रिक आयाम में देश, काल और गुण-मूलक व्यावर्तन के रूप में होता है और बौद्धिक आयाम में व्यापकता के व्यावर्तन के रूप में। इन दोनों में सामान्य लक्षण लक्षित और अलक्षित का परस्पर व्यावर्तन है : लक्षित चैतन्य को अपने में परिसीमित करता है और अलक्षित उसके स्वरूप की असीमता का संकेतक होता है। यहां एक और महत् आश्चर्य की बात है, कि लक्षित विषय भी अपने विस्तार और गांभीर्य में चित्त के ग्रहण का अतिक्रमण करता है, जो निर्धारण का एक दूसरे प्रकार का अतिक्रमण है। उदाहरण के लिए इन्द्रिय-विषय दैशिक विस्तार में नितान्त लघु होने पर भी प्रत्यक्षीकरण में नितान्त अपूर्णतः ग्राह्य होता है और इस प्रकार वह ऐन्द्रिक निर्धारणों का अतिक्रमण करता है। इन्द्रिय-ग्राह्य विषय की आकृति अनिवार्य रूप से परिप्रेक्ष्यात्मक होती है, अथवा कहें परिप्रेक्ष्यात्मकता ही आकृति को सम्भव करती है, और परिप्रेक्ष्यात्मकता का अर्थ है असंख्य वास्तव-संभाव्य दृष्टिकोणों पर एक वस्तु की विद्यमानता। नैरात्म्यवादी बौद्धों ने भौतिक वस्तुओं के काल-पक्ष पर तो ध्यान दिया, देश-पक्ष पर नहीं दिया,[2] जो उतना ही प्रत्यक्षातिक्रामी रहता है। किन्तु यह द्रष्टव्य है कि जबकि ऐन्द्रिक, बौद्धिक और आनुभूतिक विषयों की परिप्रेक्ष्यात्मकता ग्रहणों के अतिक्रमण की द्योतक है, यह उनकी अनिर्धार्यता नहीं है, क्योंकि ग्रहण के सब संभाव्य दृष्टिकोण निर्धारण की दृष्टि से समान होते हैं और परिणामतः ग्राह्य और निर्धार्य होते

2. बौद्धों में दैशिक पक्ष पर विचार वैशेषिकों के परमाणुवाद के खण्डन में मिलता है, किन्तु उसका संदर्भ दूसरा है, परिप्रेक्ष्यात्मकता का संदर्भ दूसरा। परमाणु-विचार ज्यामितिक निर्धारण का प्रसंग है, परिप्रेक्ष्य-विचार आकृति और विषय-सत्ता विषयक-प्रसंग। द्रष्टव्य विषय और आत्म, अध्याय 2,

हैं। उदाहरण के लिए दृष्टिकोण द से देखे जा रहे घट का दृष्टिगत पक्ष उसके असंख्य संभाव्य दृष्टिगम्य पक्षों में से एक है और वे सब शेष पक्ष इस समय दृष्टि-अगम्य हैं। किन्तु स्थान बदलकर अन्य पक्ष देखे जा सकते हैं। उन सब पक्षों पर दृश्यमान घट के रूप और आकृतियां विलक्षण और इस प्रकार देखने से पहले अनिर्धार्य हो सकती हैं, किन्तु ये स्वरूपतः अनिर्धार्य नहीं हैं। किन्तु जो तत्त्व इस घट में असंख्य परिप्रेक्ष्यों का, अथवा कहें आकृतियों और गुणों का, धारण करता है वह अनिर्धार्य है। वह इसलिए अनिर्धार्य नहीं है कि वह एक ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष में, या एक बौद्धिक विचार-क्रिया में, या एक कवि-दृष्टि (सृजनात्मक दृष्टि) में निश्शेषतः ग्राह्य नहीं होता, बल्कि इसलिए अनिर्धार्य है कि प्रत्यक्षीकरण, विचार और सर्जन स्वरूपतः उसके निर्धारण या ग्रहण में अक्षम हैं। इनकी इस अक्षमता का मूल अतिक्रामी अहंकार में है। अतिक्रामी अहंकार चैतन्य की वह उपाधि है जो चित्त और विषय को विशिष्ट बनाती है और जिसके कारण सत्त्व उसके लिए अनिर्धार्य बना रहता है।

यहां आपत्ति की जा सकती है कि इस प्रकार की कल्पना के लिए कोई औचित्य नहीं है, क्योंकि यह कहना युक्त नहीं है कि ग्रहणों की निर्धारणात्मकता अनिर्धार्य चित्-तत्त्व की द्योतक है और ग्राह्य विषय की परिप्रेक्ष्यात्मकता अतिक्रामी अनिर्धार्य वस्तु-सत्त्व की। प्रथम के, अर्थात् चित्तत्त्व के अनिर्धार्य नहीं होने के पक्ष में यह युक्ति दी जा सकती है कि "द्योतकता" स्वयं विचार या तर्क-मूलक है इसलिए निर्धारणात्मक है, और दूसरे के, अर्थात् वस्तु-सत्त्व के अनिर्धार्य नहीं होने के पक्ष में यह कि वस्तु-सत् यदि निर्धार्य नहीं है तो वह उसी प्रकार वद-तोव्याघात होगा जिस प्रकार अचित्तत्त्व। विषय की परिप्रेक्ष्यात्मकता से अति-क्रामी वस्तुसत् के लिए संकेत-ग्रहण के विरुद्ध बौद्धों, जर्मन प्रत्ययवादियों, आंग्ल अनुभववादियों और फिनोमिनलॉजी मतावलंबियों सभी ने अपने-अपने ढंग से युक्तियां दी हैं। किन्तु हमारा वास्तव विरोध केवल अन्तिम दो से है। जहां तक बौद्धों का सम्बन्ध है, इनमें नागार्जुन और वसुबन्धु दोनों वास्तव में जिसकी असत्ता स्थापित करते हैं वह निर्धारणात्मक जगत् (प्रतिभास या व्यवहार) ही है, आधार सत् नहीं, जिसे एक परमार्थ कहता है और दूसरा निर्धारणों से अनु-पचरित (अनुपहित) विज्ञान। जहां तक अनुभववादी और फिनोमिनलॉजी दार्श-निकों का सम्बन्ध है, उन दोनों की युक्ति यह है कि दृश्य वस्तु में अदृश्य तत्त्व के आक्षेप के लिए कोई औचित्य नहीं है। किन्तु परिप्रेक्ष्यात्मकता में भी एक द्वैत है—घटितता और योग्यता का: मैं इस स्थान से मेज़ देख रहा हूं, अन्य स्थानों पर से कोई नहीं देख रहा है और इस प्रकार वहां मेज़ इस समय दृश्यमान् नहीं है। अब प्रश्न है कि वहां मेज़ है या नहीं? यदि नहीं तो वहां जाने पर यदि मेज़ दिखायी नहीं देता तो मुझे यह नहीं कहना चाहिए कि मैं उस स्थान से उस समय

जो मेज़ देख रहा था वह भ्रम था। किन्तु हम ऐसा कहते हैं, इसलिए यह आपादित होता है कि मेज़ वास्तव प्रत्यक्षों का संघात मात्र नहीं है बल्कि प्रत्यक्षों में व्यक्त होने की योग्यता से युक्त वस्तु है। इसके लिए इस सम्प्रदाय का उत्तर है कि मेज वास्तव-संभाव्य प्रत्यक्षों के संघात के लिए ही व्यक्ति-नाम है, इनसे परे कोई वस्तु नहीं है। सार्त्र इससे एक कदम और आगे जाता है और कहता है कि "योग्यता और क्रिया का द्वैत भी उसी युक्ति से असिद्ध हो जाता है। क्रिया ही सब कुछ है। क्रिया के पीछे न कोई योग्यता है, न शक्ति और न श्रेष्ठता (वर्च्यू)। उदाहरण के लिए हम 'प्रतिभा' का -- जैसे "प्रूस्ट प्रतिभाशाली था" वाक्य में— अर्थ यह नहीं स्वीकार करेंगे कि यह प्रूस्ट में कुछ कृतियों के सृजन की योग्यता थी जो उन कृतियों के सृजन में निश्शेष नहीं हुई। प्रूस्ट की प्रतिभा न तो अकेले उसकी कृतियां मात्र थीं, न उनको रचने की प्रूस्टगत योग्यता, यह वह संपूर्ण कार्य था जिसे हम उस व्यक्ति की अभिव्यक्तियों की समग्रता के रूप में देखते हैं।"[3]

यहां हम 'व्यक्ति की योग्यता' पर विचार नहीं करेंगे, यह योग्यता और 'मेज़' समतुल्य नहीं हैं, क्योंकि प्रूस्ट विषयी है और उसकी विषय-रूप में अभिव्यक्ति उसका तत्त्व नहीं है···और सार्त्र इससे सहमत है, यद्यपि अनुभववादी नहीं हैं। अब जहां तक 'मेज़' का सम्बन्ध है, इसके स्वलक्षण वस्तुगत आधार को हम पीछे अस्वीकार कर चुके हैं, कि यह शुद्ध बौद्धिक प्रत्यय-मूलक निर्धारण है। किन्तु यहां महत्त्वपूर्ण विचारणीय प्रश्न विषय की दिशा में, जिनमें गोचर विषय भी सम्मिलित हैं, निर्धारणों के अतिक्रमण का है, जो अतिक्रमण सत्ता की ओर उद्दिष्ट है। इस उद्दिष्टता का आभास या साक्षात्कार हो जाने पर कोई गोचर विषय तक सीमित नहीं रह सकता, इस विषय के संवेद-ग्रहणों या प्रत्यक्षों की तो बात ही क्या है।

दर्शन की प्राचीनतम जिज्ञासा सत्ता का स्वरूप रही है। स्वभावतः इसमें प्रत्यक्षगत जगत् सत्ता के लिए पर्याप्त नहीं पाया गया, तभी यह स्वरूप-विषयक जिज्ञासा उत्पन्न हुई। जगत् को या तो अभिव्यक्ति के रूप में देखा गया; जैसे प्रूस्ट की कृतियों को हम, सार्त्र के मत के विपरीत, प्रूस्ट के चित्त की अभिव्यक्ति के रूप में देखते हैं, अथवा व्यवहार के रूप में, जो परमार्थ (सत्) से असम्बद्ध या उससे बाह्यतः सम्बन्धित माना गया। किन्तु प्रत्यक्षगत जगत् उन विचारकों को पर्याप्त क्यों नहीं लगा? ऐसे मनोवैज्ञानिक उत्तर कि, मनुष्य ने जगत् को कृति के रूप में देखा और तब कर्त्ता की कल्पना एक स्वाभाविक भ्रांति थी, अनवस्थित हैं, क्योंकि तब प्रश्न होगा कि उसने इसे कृति के रूप में क्यों देखा? इसके अतिरिक्त, यह भी सही नहीं है कि सत्ता-विषयक प्रश्न इस प्रकार के हैं। पिछले अध्याय के आरम्भ

3. ज्या पॉल सार्त्र—बींग एण्ड नथिंगनेस, पृ० 4-5।

में उद्धृत ऋग्वेद के मन्त्रों में कृति के रहस्य को कर्ता के लिए भी अविज्ञेय कहा गया है। कर्ता के लिए कृति के रहस्य की अविज्ञेयता वास्तव में गुह्यतम प्रसंग है। किन्तु यहां अभी प्रश्न है कि सत्ता के लिए प्रस्तुत जगत् को पर्याप्त क्यों नहीं पाया गया? प्लेटो का उत्तर है—'क्योंकि इन्द्रियविषय-जगत् परिवर्तन और क्षयशील है।"[4] यही बुद्ध का उत्तर है—सर्वं क्षणिकं। उपनिषद् में मैत्रेयी द्वारा जगत् की मूल्य-हीनता का कथन भी इसी प्रकार का है—'येनाहं नामृता स्याम किमहं तेन कुर्याम्।' मैत्रेयी की जगत् की अस्वीकृति परिवर्तनात्मकता को विषय से हटाकर भावना में, अथवा कहें सैद्धान्तिक प्रसंग से हटाकर मूल्यात्मक प्रसंग में स्थापित कर देती है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि बुद्ध और प्लेटो के प्रसंग सैद्धान्तिक हैं। बुद्ध का प्रसंग तो पूर्णतः मूल्यात्मक है, प्लेटो का भी मुख्यतः मूल्यात्मक ही है क्योंकि उसका यह कथन उसी क्रम में है जिसमें वह श्रेयस् को ज्ञान और सत् दोनों का स्रोत और दोनों से उच्चतर कह रहा है। किन्तु इस प्रश्न को शुद्ध सैद्धान्तिक स्तर पर भी यदि लें तो जगत् की वस्तुएं व्यष्टिशः और समग्रशः दोनों ही प्रकार से आगन्तुक हैं। बुद्ध ने इनके इस स्वरूप को, अथवा कहें स्वरूपाभाव को, प्रतीत्य-समुत्पाद कहा है जिसकी युक्तिसंगत व्याख्या के आधार पर नागार्जुन ने मूलमाध्यमिक कारिका में शून्यवाद की स्थापना की है।[5] प्रस्तुत घट, न केवल यही कि यह पहले नहीं था और पीछे भी नहीं होगा, बल्कि यह होता भी इसमें भी कोई अनिवार्यता नहीं थी। इस पर कहा जा सकता है कि "किन्तु यह है, सो इसकी विद्यमानता है और परिणामतः यह अनिवार्य है।" किन्तु सर्वप्रथम, अनिवार्यता का यह अर्थ नहीं है, 'घट' अभिधेय रूप में 'यह' (उद्देश्य) को लक्षित करता है और इस उद्देश्य के लिए घट अनिवार्य नहीं है, आगन्तुक है—यह उद्देश्य चाहे देश हो, काल हो या उपादान हो। पुनः, यह अपने गुण और संस्थान (आकार) में भी आगन्तुक है—न इसका गुण यही होना अनिवार्य है और न वर्ण। किन्तु इसकी अनिवार्यता

4. रिपब्लिक, 508.
5. न हि स्वभावो भावानां प्रत्ययादिषु विद्यते।
   अविद्यमाने स्वभावे पर-भावो न विद्यते ।। 13।
   उत्पद्यते प्रतीत्यमानितीमे प्रत्ययाः किल।
   यावन् नोत्पद्यत इमे तावन् ना प्रत्ययाः कथम् ।।15।
   चन्द्रकीर्तिकृत प्रसन्नपदा माध्यमिक वृत्तिः "हेतु प्रत्ययापेक्षं भावानामुत्पादं परिदीपयता भगवता अहेत्वेक विषमहेतु संभूतत्वं स्वपरोभय कृतित्वं च भावानां निषिद्धं भवति। तन्निषेधात् सांवृतं स्वरूपमुद्भासितं भवति।
   वृत्ति का हिन्दी-अनुवाद : सांसारिक पदार्थों की उत्पत्ति हेतु और प्रत्यय की अपेक्षा से ही होती है, यह भगवान् ने स्पष्ट कर दिया है। इसलिए अहेतुवाद, एक-हेतुवाद और विषम-हेतुवाद निरस्त हो जाते हैं। इनके निरस्त हो जाने पर पदार्थों की सांवृतिक स्व-रूपता प्रकट हो जाती है।

का अभाव इससे भी अधिक गम्भीर रूप से इस तथ्य से सूचित होता है कि यह उस प्रयोजन के लिए भी अनिवार्य नहीं है जिसमें इसकी वास्तविक स्थति है, और न स्वयं वह प्रयोजन ही अनिवार्य है। ये सब बातें, ज्यों की त्यों, जगत् पर उसकी समग्रता में भी लागू होती हैं : जगत् जैसा है उससे भिन्न भी हो सकता था, या नहीं भी हो सकता था। लाइब्नीज़ ने तर्क किया है कि यह जगत् उत्कृष्टतम संभव जगत् है। किन्तु तब यह सिद्ध है कि यह अन्यथा भी हो सकता था। इस पर उसका तर्क है कि ऐसा नहीं हो सकता था, क्योंकि ईश्वर के पूर्ण होने से उसकी कृति केवल उत्कृष्टतम ही हो सकती है। किन्तु तब जगत् की अनिवार्यता की प्रतिष्ठा जगत् में नहीं होकर ईश्वर की पूर्णता में हो जाती है और जगत् एक संभावना मात्र और इस प्रकार आगन्तुक ही बना रहता है।

यहां प्रश्न होगा कि आगन्तुक सत् है या असत्? नागार्जुन का उत्तर है कि आगन्तुक निस्स्वभाव और असत् ही हो सकता है। किन्तु यह उत्तर युक्त नहीं है, क्योंकि आगन्तुक पूर्णत: असत् भी नहीं हो सकता, यह सदसद् उभयात्मक ही हो सकता है, असत् के कारण यह आगन्तुकतया सत् है। नागार्जुन ने जगत् को आगन्तुकता से नहीं बल्कि प्रतीत्य (अस्मिन् सति = अन्याश्रय) से उत्पाद के कारण निस्स्वभाव कहा था। किन्तु 'अस्मिन् सति' और 'इदं भवति' दोनों सत् के सहित हैं, अन्यथा 'सति' और 'भवति' का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता, यद्यपि दोनों विराट् असत् में सत् के लघु क्षण मात्र हैं।

तब क्या सत् की परिभाषा अनिवार्यता से हो सकती है? प्रथम दृष्टि में, शुद्ध तार्किक कथन ही अनिवार्य होते हैं : यह अनिवार्य है कि 'सब विवाहित व्यक्ति विवाहित हैं।' किन्तु ऐसे कथन रिक्त या वस्तु-शून्य भी होते हैं और आगन्तुक भी। वस्तु-शून्य इसलिए कि ये कथन का उपक्रम करके वास्तव में कोई कथन नहीं करते, और आगन्तुक इसलिए, क्योंकि इनके आधार में एक पूर्वमान्यता होती है कि इनका उद्देश्य पद वस्तुमूलक है, और यह वस्तु स्वयं आगन्तुक होती है। इस प्रकार यह कथन अपनी पूर्वमान्यतासहित इस प्रकार है : "कम से कम दो व्यक्ति हैं, और वे विवाहित हैं, और, ये विवाहित हैं।" अथवा, "यदि कोई व्यक्ति जगत् में हैं, और यदि वे विवाहित हैं, तो वे विवाहित हैं।" इस प्रकार तर्क, जो कि शुद्ध आकार का अनुशीलन करता है, विधेय में वस्तु-शून्य होता है और उद्देश्य में आगन्तुक। केवल एक परिस्थिति में यह इस विषमता से बच सकता है—यदि इसका उद्देश्य-पद वक्ता के आत्म को लक्षित करे। तब कथन 'मैं = मैं' (मैं मैं हूं) होगा जिसका उद्देश्य पद अनिवार्य साक्षात्कार को और विधेय उसी के साक्षात्कार्य को लक्षित करता है। किन्तु जैसा कि हेगल ने दिखाया "यह अनिर्धार्य मूल का साक्षात्कार

6. हेगल-लाजिक, पृ० 125.

है, वस्तु-शून्य आकार का नहीं, जो कि तर्क के अनुशीलन का विषय है।

ऊपर हमने आगन्तुक को असद्विशिष्ट सत् कहा, जिसका अर्थ हो जाता है कि पूर्ण सत् ही अनिवार्य हो सकता है। इस प्रतिपादन की संक्षेप में एक बार पुन: आवृत्ति उपयोगी होगी—

जैसाकि हमने देखा, यह घट देश, काल, अन्य वस्तु आदि आदि सब में असत् से परिवेष्टित है। किन्तु यह केवल इसी कारण से आगन्तुक नहीं है बल्कि इसलिए भी आगन्तुक है क्योंकि यह अपने प्रत्यय में ही आगन्तुक है। उदाहरणत: यदि जगत् न केवल देश और काल में ही सर्वत्र आपूरित हो, बल्कि यह अस्तित्व मात्र का भी समावेश करता हो, तो भी यह अनिवार्य नहीं होगा, क्योंकि इसका अन्यथात्व कल्पनीय है, अर्थात् यह अपने प्रत्यय के लिए पर्याप्त नहीं है।

जैसाकि हमने अन्यत्र[7] देखा, आहंकारिक चैतन्य, जो कि 'मैं' पद का साधारणत: वाच्य है अनिवार्य नहीं है : यह न केवल देश और काल में परिसीमित और व्यक्ति के रूप में अन्य व्यक्तियों से व्यावृत्त है, यह अपने प्रत्यय में भी, घट और जगत् के समान ही, आत्म-अपर्याप्त है। किन्तु इसकी यह आत्म-अपर्याप्तता अन्य अस्तित्वों से अधिक गम्भीर और तीव्र है क्योंकि इसका प्रत्यय आत्मबाह्य नहीं होकर आत्म-प्रकाशित है। इस प्रकार यह केवल अन्य-व्यावृत्त नहीं होकर आत्म-व्यावृत्त, आत्म-व्यवहित भी है : यह अपने भीतर अपने अभाव से, अपने वैपरीत्य से, अनात्म से, दंशित है। किन्तु यह परिस्थिति इसे एक दूसरा आयाम दे देती है, यह इसे अपने से अतिक्रामी सत्ता दे देती है। यही वह अतिक्रमण है जो प्लेटो द्वारा श्रेयस् (दि गुड) को ज्ञान और सत् से ऊपर अतिसत् के रूप में रखने में अभिप्रेत है, और जो 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' में श्वेतकेतु का सत्त्व श्वेतकेतु से ऊपर ब्रह्म में स्थापित करने को सार्थकता देता है।

आहंकारिक चैतन्य आत्मप्रकाशित आत्म-अपर्याप्तता होने से केवल अल्प भावात्मक नहीं होकर भाव्य रूप है, यह सर्वदा सिद्ध अल्पार्थ नहीं होकर पूर्ण साध्यार्थ है, यह सृजन-पर्येषणा द्वारा आवृत आत्मार्थ के विवृतीकरण का संकल्प है। मानव-व्यक्ति को कारण-कार्य-शृंखला में आविर्भूत एक प्राकृतिक घटना के रूप में भी देखा जा सकता है, किन्तु इससे उस पर्येषणा की व्याख्या ही असंभव नहीं हो जाती जो स्वयं व्यक्ति में अपने भाव के परे पहुंचने के रूप में दृष्टिगत होती है, बल्कि उस पर्येषणा की व्याख्या भी असंभव हो जाती है जो व्यक्ति द्वारा अपनी प्रतिमा के आक्षेप के रूप में दृष्टिगत होती है।[8] यह आक्षेप (पाजिटिंग) पूर्णत:

7. मनुष्य और जगत् में "आत्म और अनात्म" तथा "धर्म-दर्शन" अध्याय द्रष्टव्य।
8. द्रष्टव्य यशदेव शल्य--ज्ञान और सत् में "मानव-प्रतिमा" अध्याय।

अलक्षित और अतिक्रांत संकल्प के रूप में होता है, व्यक्ति अपनी आंख इस प्रतिमा की पूर्व विद्यमानता में ही खोलता है।[9] इस प्रकार व्यक्ति का अपने आक्षेप का प्रथम कृत्य उसके अपने निर्णय के अधीन नहीं होता, वह स्वतः संभूत और पूर्णतः स्वतंत्र कर्म होता है, और वह कर्म व्यक्ति का नियंत्रण करता है। किन्तु व्यक्ति (उपहित या व्यवहित चैतन्य) न इस संकल्प के पूर्णतः अधीन होता है और न इस प्रतिमा से पूर्णतः अभिभूत, क्योंकि वह इस प्रतिमा और संकल्प के पूर्व, अर्थात् अपने अनुपहित मूल में, भी होता है, वह स्वतंत्रतया अहंकार और प्रतिमा का आक्षेप करता है और अपने को उनमें प्रतिष्ठित करता है। किन्तु प्रतिष्ठापक के रूप में वह इनसे ऊपर इनका अधिष्ठाता भी रहता है। ठीक ही डेकार्ट ने 'मैं हूं' के तुल्य ही 'मैं अपूर्ण हूं' के बोध को भी असन्दिग्ध कहा था, यह बोध 'मैं हूं' बोध का वास्तव में सहजात है, यह 'मैं' को अपने सिद्ध भाव से ऊपर साध्य भाव में प्रतिष्ठित करता है, जो उससे अत्यधिक अधिक है—'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति।' यही कारण है कि सत् का मान ईश्वर, ब्रह्म, या शून्य है, मनुष्य या जगत् नहीं।

9. आगे "मानव-तत्त्व" अध्याय द्रष्टव्य।

3

सत्ता और पर्याप्तता

पिछले अध्याय में हमने सत् के स्वरूप पर विचार करते हुए पाया कि सब कुछ, जो है, वह सत् होने के लिए पर्याप्त नहीं है। घट है, किन्तु वह विराट् अघट से व्यावृत्त है। इसे दूसरे शब्दों में हम विराट् अपर्याप्तता भी कह सकते हैं। किन्तु अपर्याप्तता का एक और आयाम भी है : मिट्टी से घट अधिक है, घट से प्राणी, प्राणी से उसकी कलात्मक प्रतिमा, प्राणी की प्रतिमा से मानव की प्रतिमा, और मानव की कला-प्रतिमा से प्रतिमा-निरूपित व्यक्ति। किन्तु कभी ऐसा भी हो सकता है कि प्रतिमा अपने द्वारा निरूपित व्यक्ति से अधिक हो, निरूपित पौधे और पशु से तो उनकी प्रतिमा अधिक होती ही है—यदि पशु और पौधे को ईश्वर-सृष्ट नहीं मानें तो। सृष्ट होने पर पशु और व्यक्ति भी कला-प्रतिमा के समान ही क्रियान्वित प्रत्यय होंगे, सृष्ट नहीं होने पर ये क्रियान्वयन की अनीक्षित प्रक्रिया। किन्तु पशु के सृष्ट होने पर भी कभी-कभी प्रतिमा प्रतिमा-निरूपित से अधिक हो सकती है : गाय की प्रतिमा एक संस्कृति द्वारा विकल्पित अर्थ की व्यंजक होने पर वास्तविक गाय से, उसके ईश्वर-सृष्ट होने पर भी, अधिक होगी। मानव-व्यक्ति के सम्बन्ध में यह कहना कठिन है, क्योंकि वह स्वरूपत: संभावनात्मक है और परिणामत: सदैव प्रतिमा में निरूपित प्रत्यय से अधिक है। किन्तु उपन्यास अथवा जीवनी में निरूपित व्यक्ति किसी व्यक्ति की संभावनाओं से अधिक हो सकता है, उदाहरण के लिए रामचरितमानस के राम। अन्यथा भी, एक अच्छे उपन्यास के प्रमुख पात्र प्राय: ही लोक-दुर्लभ आन्तर वैभव और आन्तर सामरस्य से युक्त होते हैं।

किन्तु यहां आपत्ति की जा सकती है कि प्रतिमाएं और पात्र काल्पनिक होते हैं, इसलिए ये वास्तविक प्राणी और व्यक्ति से अधिक होना तो दूर, न्यून भी नहीं होते, क्योंकि ये होते ही नहीं। अवश्य कथा-निरूपित पात्र के निरूपण का अस्तित्व होता है, उस पात्र की अवधारणा का अस्तित्व भी होता है, किन्तु यह अवधारणा और निरूपण अप्रतिष्ठित होते हैं, क्योंकि कथा-निरूपित का अस्तित्व नहीं होता। अरस्तू के शब्दों के सहारे कहें तो, ये ऐसे फोर्म्स हैं जो मैटर की अपेक्षा में अनवस्थित हैं। इसमें कांट का प्रसिद्ध प्रतिपादन स्मरणीय है, कि अवधारणागत सौ रुपये वास्तविक एक रुपये के भी बराबर नहीं हैं। वास्तव में इनमें

बराबरी का कोई प्रश्न ही नहीं है : एक ऐसे सौ हैं जो नहीं हैं, और दूसरा ऐसा एक है जो है ।

किन्तु कांट के इस प्रतिपादन में एक मौलिक एकांगिता है। उसके अनुसार, वास्तविक(अस्तित्ववान्)वह है जो अनुभव की भौतिक अपेक्षाओं को सन्तुष्ट करता है, अथवा कहें, जब कोई कथन 'क है' ऐसे प्रत्यय-विषय का वास्तविक के रूप में आक्षेप करता है जो संवेद से प्रमाणित होता है। उसने यह तर्क ईश्वर के अस्तित्व-विषयक डेकार्टीय युक्ति के खंडन में दिया है, कि अस्तित्व उचित विधेय नहीं है, इसलिए पूर्ण, अर्थात् ऐसा उद्देश्य जो सब विधेयों से लक्षित होता है, का प्रत्यय स्वतःसिद्ध होने पर भी, उसका अस्तित्व उससे प्रमाणित नहीं होता। किन्तु अस्तित्व के लिए कांट की यह शर्त अतर्कसम्मत है, क्योंकि तब स्वयं स्वलक्षण वस्तु का अस्तित्व भी नहीं हो सकता और नैतिक नियम (मारल लॉ) तब और भी अधिक अस्तित्वहीन हो जाता है। अथवा इससे यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है, जो वास्तव में एकमात्र युक्त निष्कर्ष है, कि अस्तित्व सत्त्व के जीवन में एक अत्यन्त महत्त्वहीन और आगन्तुक परिशिष्ट है। इस प्रकार, स्वलक्षण वस्तु ऐसा आधार सत् है जो अस्तित्व की अपेक्षा ही नहीं करता, इसी प्रकार, नैतिक नियम ऐसा श्रेष्ठ सत् है जो अस्तित्व की पहुँच के परे है। दूसरे शब्दों में, इनका सत्त्व अस्तित्व के बिना ही आत्मपर्याप्त है। ईश्वर इस पर्याप्तता की पराकाष्ठा है।

किन्तु पर्याप्तता का मानदंड क्या है ? सौरमंडल और अणुगत परमाणु-मंडल (इलेक्ट्रॉन और प्रोटॉन के व्यवस्थान) के महत्त्व की तुलना किस आधार पर की जा सकती है ? श्री अरविन्द सौर मंडल की गुरुता और चींटियों की बस्ती की लघुता का उल्लेख कर दोनों में सर्जक का समान वात्सल्य देखते हैं।[1] किन्तु चींटियों की बस्ती और भेड़ियों के समुदाय में तुलना की जा सकती है और एक को दूसरे से अधिक सम्पन्न-विपन्न कहा जा सकता है। इसी प्रकार बया और चील के घोंसले में तुलना की जा सकती है और एक को दूसरे से सम्पन्न-विपन्न कहा जा सकता है। अब, चींटियों की बस्ती और भेड़ियों के समूह को, तथा बया के और चील के घोंसले को संपन्नता-विपन्नता की दृष्टि से सत्त्व कहा जा सकता है, अस्तित्व नहीं, (यद्यपि इनकी सत्ता इनके अस्तित्व को पूर्वापेक्षित करती है) और ये सत्ताएं सत्ता में एक-दूसरे से अधिक या कम संपन्न या पर्याप्त कही जा सकती हैं। अवश्य यह कहा जा सकता है कि वृकत्व (भेड़ियापन) में वृक-समूह और पिपीलिकात्व (चींटीपन) में पिलीलिका-बस्ती ही अंतरंगतः संगत हैं, यदि इसके विपरीत होता, जोकि हो नहीं सकता था, तब यह असंगत और

1. श्री अरविन्द-'दि लाईफ डिवाईन', भाग 1, पृ० 71-72.

विसंवादी होता, इसलिए वृक-समूह और पिपीलिका-बस्ती सत्ता में एक-दूसरे से न्यूनाधिक या पर्याप्त-अपर्याप्त नहीं हैं, क्योंकि ये तुलनीय ही नहीं हैं। यही बात चील और बया के घोंसलों के बारे में कही जा सकती है। किन्तु तब भी, समूह और बस्ती में पिपीलिकात्व और वृकत्व, अथवा बयापन और चीलपन से पृथक् सहवासत्व या नीड़त्व की दृष्टि से तुलना की जा सकती है और उस प्रत्यय के प्रसंग से एक को दूसरे से सत्ता में अधिक और कम पर्याप्त कहा जा सकता है। यहां वृकत्व और पिपीलिकात्व के प्रत्ययों से जो शंका उत्पन्न होती है उसका निवारण मनुष्य के कार्यों या सर्जनों के उदाहरण से किया जा सकता है: एक आदिम समाज और संस्कृत समाज, केशव की रामचन्द्रिका और तुलसी का रामचरित-मानस, विज्ञान का एक साधारण विद्यार्थी और आईंस्टाईन, एक ट्रक ड्राइवर और महात्मा गांधी, सत्त्व की दृष्टि से तुलनीय हैं और एक-दूसरे से अधिक पर्याप्त-अपर्याप्त हैं।

अब यहां अनेक जटिल प्रश्न उत्पन्न होते हैं— क्या पर्याप्तता-अपर्याप्तता व्यावृत्ति से मापनीय हैं? व्यावर्तन का आधार क्या है? यदि पर्याप्तता-अपर्याप्तता व्यावृत्ति से मापनीय नहीं हैं तो पर्याप्तता का आधार क्या है?

इन प्रश्नों को समझने के लिए घट ही से आरंभ करें—घट का व्यावर्तक क्या है? अपोहवादी घट का व्यावर्तक अघट को ही कहते हैं, किन्तु वे जाति को सत् नहीं मानते। किन्तु यदि जाति नहीं है तो न घट है, न अघट; अघट तो विशेष रूप से नहीं है, यदि घट को प्रस्तुत व्यष्टि और अनुरूप व्यष्टियों में मान भी लें तो, क्योंकि अघट घटत्व का ही व्यावर्तक हो सकता है, घट व्यष्टि का नहीं: व्यष्टि का व्यावर्तन व्यष्टि से ही हो सकता है, और अघट कोई व्यष्टि नहीं है। किन्तु इस प्रसंग को अभी छोड़ते हुए, मान लें कि घट-व्यष्टि का व्यावर्तक घटेतर व्यष्टि है, जैसे गाय विशेष, किन्तु क्या वह अन्य घट-व्यष्टि के तुल्य ही व्यावर्तक है या कि न्यून या अधिक? जैसा कि स्पष्ट है, दो घट जबकि केवल देश के अधिष्ठान में परस्पर व्यावर्तक हैं, गाय और घट केवल देश के अधिष्ठान में ही व्यावर्तक नहीं हैं, ये गोत्व और घटत्व में भी परस्पर व्यावर्तक हैं। इस पर कहा जा सकता है कि घट और गाय का परस्पर व्यावर्तन भी केवल देशमूलक ही है, अन्यथा ये दोनों एक ही देश में भी स्थित हो सकेंगे। किन्तु यह युक्ति सही नहीं है, क्योंकि देशमूलक व्यावर्तन इन्हें केवल व्यष्टित्व देता है, घट और गाय के रूप में भिन्न नहीं करता। व्यष्टित्व को भी केवल देशमूलक नहीं कह सकते, इसलिए एक छोटे से घट से अनेकधा बड़ा भी घट-खंड घट नहीं होता, वह घट-खंड ही होता है, और घट-खंड घट की वर्तुलता की गति और छन्द का धारक होने के कारण घट-खंड ही होता है, बाण-खंड नहीं। निश्चय ही व्यष्टित्व के लिए देश और काल अनिवार्य पूर्वापेक्षाएं हैं, किन्तु ये उसके लिए भी पर्याप्त नहीं हैं। घट-खंड और घट में भेद केवल देश-मूलक

नहीं है, देश के प्रसंग में दोनों समान रूप से व्यष्टि हैं, किन्तु वास्तव में घट-खंड घट-व्यष्टि नहीं हैं। पुनः, एक-साथ पड़ी कुछ मिट्टी भी व्यष्टि नहीं है, यद्यपि वह देश में संहत और व्यावृत्त है। अब, सौ घट अस्तित्व में सौ व्यष्टि होते हैं किन्तु केवल देश और कालपरक व्यावर्तन इनके व्यष्टित्व का निर्धारण नहीं कर सकता, क्योंकि घट-व्यष्टि के देशगत सीमांकन और कालगत अवधि का नियमन घटत्व करता है, देश-काल स्वतः नहीं करते। अब घट-घट और घट-गाय में व्यावृत्ति के अतिरिक्त तीसरी व्यावृत्ति घटत्व और गोत्व में होती है। यह व्यावृत्ति किस प्रकार की है ? कोई इसे भी देश-कालमूलक कह सकता है, क्योंकि इनके अनुसार जातियों में परस्पर व्यावर्तन जातियों के व्याप्य व्यष्टियों के माध्यम से ही होता है। किन्तु यह पूर्वाग्रह-ग्रस्त तर्क है, क्योंकि जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है, व्यष्टि ही अपने आधार के रूप में जाति की अपेक्षा करते हैं, जाति व्यष्टि की नहीं, इसलिए देश-काल व्यष्टिमूलक व्यावृत्ति में तो अनिवार्य हो सकते हैं, जातिमूलक व्यावृत्ति में नहीं।

व्यावृत्ति के उपर्युक्त निरूपण के आधार पर इसकी परिभाषा निम्न प्रकार से दी जा सकती है : व्यावृत्ति किसी वस्तु (व्यष्टि और जाति) अथवा प्रत्यय की व्यापकता का अन्य की व्यापकता से अवसादन है। इस प्रकार व्यावृत्ति वस्तु के स्वरूप से केवल इस सीमा तक ही सम्बन्धित होती है कि यह उसकी अनिवार्य सीमितता को प्रदर्शित करती है। गाय का अगाय से व्यावृत्त होना इस बात का सूचक है कि अगाय के बिना गाय हो ही नहीं सकती। किन्तु जैसा कि हमने पिछले अध्याय में देखा, व्यावृत्ति-जन्य यह सीमा साथ ही सीमा के परे भी निर्देश करती है। सीमा से परे यह निर्देश व्यष्टि और जाति दोनों की आत्म-अपर्याप्तता को प्रदर्शित करता है। इस प्रकार व्यावृत्ति वस्तु की अस्तित्वगत और सत्त्वपरक दोनों की अपर्याप्तताओं की द्योतक होती हैं।

किन्तु जैसा कि हमने पीछे देखा, सत्त्वपरक अपर्याप्तता का एक दूसरा आयाम भी है जिसका मूल स्वरूपगत बाधा या व्यवधान में है । इसे पीछे हमने 'अधिक' और 'न्यून' विशेषणों द्वारा व्यक्त किया था। यह अधिकता-न्यूनता सत्त्व की मात्रा की है। दो घटों में हम एक को श्रेष्ठतर कहते हैं। श्रेष्ठता का यह तारतम्य : तर-तमता : एक घट की दूसरे की अपेक्षा स्वरूप-सत् से निकटता-मूलक होता है। जैव जगत् में यह अपर्याप्तता आन्तर विकलता और प्रयत्न का रूप लेती है। उदाहरणतः एक पौधे पर खिलने वाले दो पुष्पों को लें जिनमें एक का वर्ण दूसरे से अधिक चटकीला, पत्तियां अधिक बड़ी और समंजस हैं। इस पुष्प को हम अधिक स्वस्थ (स्व-स्थ) कहते हैं, जो सत्त्व की प्लेटोई परिभाषा का स्मरण कराता है। इस स्वस्थ पुष्प के लिए हम कह सकते हैं कि इसमें पुष्प का स्व-रूप : आत्म-सत्ता को धारण करने का प्रयत्न : कम बाधित हुआ है। अब यदि व्यावृत्ति-मूलक

अपर्याप्तता को भी थोड़ा गहराई से देखा जाय तो वह इस तारतम्यात्मक अपर्याप्तता का ही एक अंग हो जाती है, क्योंकि बाधा चाहे व्यापकता में हो और चाहे स्वरूप में, दोनों प्रकार से उपाधि है, क्योंकि दोनों में सत्ता का व्यावर्तन, अथवा कहें असत्ता द्वारा व्यावृत्ति, होती है।

किन्तु अपनी असत्ता से व्यावृत्ति की बात वास्तव में घट के लिए केवल उत्प्रेक्षा से ही कही जा सकती है, क्योंकि यह व्यावृत्ति उस सत् या भाव की अपेक्षा से ही होती है जो लोक में घटित होने में अंशत: बाधित हुआ, जैसे मानो बनाया जा रहा वृत्त अधूरा रह जाय। अब यद्यपि यह भाव या सत् घटित घट में ही बाधित हुआ है और इस प्रकार यह बाधा घट-विशेषमूलक ही है, किन्तु यह उसमें, उसके अचेतन होने के कारण, प्रकाशित नहीं होती, यद्यपि विद्यमान होती है। इस अप्रकाशित बाधा को सत्त्वगत से भिन्न अस्तित्वगत कहा जा सकता है, क्योंकि आत्मप्रकाशन के बिना वास्तव में असत्त्व की न्यूनता अथवा असत्व की उपस्थिति दोनों नहीं रहतीं, केवल अस्तित्व की व्यावृत्ति रहती है : कम पका, या छेद वाला घट स्वयं में इस न्यूनता से कहीं बाधित नहीं होता, वह केवल अघट वस्तुओं से, अथवा अपने आविर्भाव और तिरोभाव-मूलक व्यावृत्ति से बाधित होता है। इस प्रकार घटित घट (अस्तिमान् घट) आत्मपर्यवसायी, अथवा कहें सत्ता के प्रति अनपेक्ष, होता है। किन्तु आत्म-प्रकाशित होने पर अस्तित्वगत बाधा भी सत्त्वगत ही हो जाती है, मात्र अस्तित्वगत नहीं रहती, क्योंकि अस्तित्व की सीमाएं तब सत्त्वपरक उपाधियां अथवा ऐसे आगन्तुक आरोप हो जाती हैं जो आत्मा को अपने से व्यवहित रखती हैं। उदाहरणत: मेरे जन्म के देश, काल, कुल, समाज तथा देह, अंत:करण, विचार आदि मूलक सीमाएं अस्तित्व की आगन्तुकताएं हैं, किन्तु चित्त के स्तर पर ये सत्त्वगत व्यवधान हो जाती हैं। इस प्रकार आत्म-अपर्याप्तता, आत्म-व्यावृत्ति, या आत्म-बाधा केवल आत्मप्रकाशित चित्त (मनुष्य) में ही होती है। घटत्वादि के क्रियान्वयन के रूप में घटादि भी आत्मबाधित होते हैं, किन्तु तब भी घट को उपहित, आत्म-अपर्याप्त या आत्म-व्यवहित सत्त्व कहना युक्त नहीं है। इन दो स्थितियों में क्या भेद हैं? प्लेटो के अनुसार "सत्त्व स्वयं का स्वयं के स्वरूप के अनुसार घटित होना है।"[2] सत्त्व की इस कसौटी के अनुसार उपर्युक्त दो स्थितियों में भेद यह है कि घट का सत्त्व घटत्व में है जो कि स्वरूप-सिद्ध है और किसी चित्त के निमित्त से घट-विशेषों में आविर्भूत होता है। घटों में आविर्भूत यह सत्त्व उस सीमा तक आत्मबाधित होता है जिस सीमा तक यह स्वरूपानुसारी नहीं है। निमित्त और उपादान घटत्व के स्वरूपा-

2. "टू बी इज टू बी इट्स ओन सेल्फ एकार्डिंग टू इट्स ओन सेल्फ" यह परिभाषा टीमियस और पार्मेनाइडीज दोनों संवादों में है।

नुसरण में साधक और बाधक दोनों होते हैं: घटत्व निमित्त (कुम्हार) और उपादन (मिट्टी आदि) के बिना घटित नहीं हो सकता, किन्तु साथ ही निमित्त घटत्व का सम्यक् अवधारण और निरूपण भी नहीं कर सकता, और न उपादान उसके सम्यक् निरूपण को धारण कर सकता है। किन्तु उपादन में घटित घटत्व आत्म-अप्रकाशित होने से अपने अस्तित्व (घटना) में ही अपने सत्त्व को अशेष कर देता है। किन्तु कहा जा सकता है कि घट-सत्ता घटित घट में नहीं, कुम्भकार के चित्त में आविर्भूत होती है जिसका निरूपण कुम्भकार मिट्टी में करता है, और कुम्भकार के चित्त में घट का आविर्भाव उसी प्रकार प्रकाशित अपर्याप्तता या आत्म-व्यावृत्ति के साथ होता है जिस प्रकार मानव-व्यक्ति के अपने सत्त्व का उसके चित्त में होता है। यह बात अधिक स्पष्ट रूप से कलाकृति आदि में देखी जा सकती है जिसकी रचना में कलाकार गृहीत और ग्राह्य, भावित और भाव्य के बीच निरन्तर तनाव का अनुभव करता है। वैसे यह तनाव प्राणि-अस्तित्व मात्र में ही अपरोक्षतः अनुभूत होता है, जैसाकि विभिन्न प्राणि-प्रयत्नों में देखा जा सकता है। किन्तु मानव से अवर स्तर की (पराङ्मुख) चेतना अधिकांशतः प्राणमय और अन्नमय कोशों के स्तर तक ही सीमित रहती है, इसलिए उसमें व्यवधान या तनाव का अनुभव भी उसी स्तर का होता है, किन्तु मनुष्य के स्तर पर चेतना विज्ञानमय कोश में आत्मप्रत्यक्ष भी करती है, जो प्रत्यक्ष विषय के अस्तित्व से परे उसके सत्त्व का, और आत्मा के औपाधिक अस्तित्व से परे उसके निरुपाधिक सत्त्व का आभास पाता है। वानस्पतिक और पाशव स्तर पर यह केवल प्राणिक और दैहिक स्वास्थ्य के लिए प्रयत्न के रूप में ही दृष्टिगत होता है।

यह सत्ता क्या है जो अपर्याप्तता के बोध में अपने को प्रकट करती है किन्तु अन्यथा भी जो वैयष्टिक अस्तित्वमात्र में व्यावृत्ति के द्वारा अध्यवसित (अध्यवसाय द्वारा निर्धारित) या लक्षित विषय की सीमाओं के परे अपना आभास देकर विषय की सीमाओं को उद्भासित करती है? जैसाकि हमने पिछले अध्यायों में देखा, विषय में यह अतिक्रमण दो प्रकार का होता है (विशेष का सामान्य में और सीमित का असीम में) जैसे घट का घटत्व में और इस घट का उस घट में या उस गाय आदि में, तथा घटत्व का गोत्व, अश्वत्व आदि में और इन सबका अनिर्धार्य सत् में। अब घट इन दोनों दिशाओं में अपर्याप्त है—घटत्व में भी और अश्वत्व आदि में भी। इस दूसरे प्रकार के अतिक्रमण की बात सबको विचित्र लगेगी—दिङ्नाग और धर्मकीर्ति को भी सम्मिलित करते हुए, किन्तु इस अतिक्रमण के बिना न इस अश्व की उस अश्व या उस घट से व्यावृत्ति हो सकती है और न अश्वत्व की घटत्व से, क्योंकि व्यावृत्ति के लिए व्यावृत्त और व्यावर्तक दोनों का एक साथ प्रदत्त होना आवश्यक है, और व्यावर्तक केवल व्यावृत्त के अतिक्रमण में ही प्रदत्त हो सकता है। एक और अतिक्रमण है जो दोनों से अधिक

महत्त्वपूर्ण है और जिसमें दोनों पूर्वगृहीत रहते हैं। यह अतिक्रमण मूल्यात्मक है जिसका उल्लेख पीछे हमने 'श्रेष्ठता' से किया। विशेष का ग्राहक चित्त में इन्द्रिय है, सामान्य का बुद्धि, किन्तु 'श्रेष्ठ' का ग्राहक करण कौन सा है? इस पर हम आगे यथास्थान विचार करेंगे[3] किन्तु यहां महत्त्वपूर्ण द्रष्टव्य यह है कि ये अतिक्रमण उन सीमाओं के हैं जो स्वयं चित्त के करणों द्वारा आरोपित होते हैं, अन्यथा सीमाओं का आरोप अवास्तव हुए बिना उनका अतिक्रमण सम्भव ही नहीं हो सकता। अरस्तु ने व्यष्टीकरण, और इस प्रकार से ऐन्द्रिय विषय की सीमा का मूल भूत-तत्त्व में देखा है, किन्तु यदि ऐसा हो तब सामान्यों में व्यावर्तन अथवा सीमा, और इस प्रकार व्यष्टीकरण, का आधार क्या होगा? और फिर, भौतिक तत्त्व क्या है? वह इस घट और उस घट में, इस केतकी पुष्प और उस चंपक पुष्प में, किस प्रकार भिन्न है? इनमें वैशिष्ट्य प्रत्ययतत्त्व (फोर्म) मूलक नहीं कहा जा सकता। अरस्तू का कहना है कि प्रत्यय-तत्त्व के संयोग से भौतिक तत्त्व वैशिष्ट्य का आधार होता है। किन्तु तब भौतिक विषय में एक ऐन्द्रिक ग्रहण की अन्य वास्तव-संभाव्य ग्रहणों से व्यावृत्ति का, अथवा परिप्रेक्ष्यात्मक विभाजन का, आधार क्या है? परिप्रेक्ष्य और उसमें विभाजन को न भौतिक कहा जा सकता है और न प्रत्ययात्मक। यही बात वर्ण, ध्वनि आदि में है—भौतिक सत्ता में वर्ण-भेद नहीं है, न ध्वनि-भेद है, इनके वैशिष्ट्य भी इन्द्रियकृत विभाजनमूलक हैं, परिणामतः इस वैशिष्ट्य को भी भौतिक तत्त्वमूलक नहीं कहा जा सकता। वैशिष्ट्य को भौतिक तत्त्व-मूलक मानने के विरुद्ध अप्रत्याख्येय युक्ति यह है कि ऐसा मानने पर व्यावृत्ति, जो अनिवार्यतः अप्रस्तुतपरक और इस प्रकार अतिक्रमणात्मक होती है, सम्भव नहीं होगी। (व्यावृत्ति को अतिक्रमणात्मक इसलिए कहा क्योंकि व्यावर्तक अगो गो के निर्धारण में गो से परे अनिर्धार्य रूप में लक्षित होता है।) किन्तु इससे अधिक सबल युक्ति स्वयं मानव-व्यक्ति के अस्तित्व-मूलक है: यदि व्यक्ति भूत तत्त्व के कारण ही विशिष्ट हो तब उसके लिए निर्विशिष्ट : निर्वैयक्तिक : होना सम्भव नहीं होगा। यदि कहें कि निर्विशिष्ट वह मानवत्व के कारण है, तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि तब वैशिष्ट्य का अतिक्रमण केवल मानवत्व में ही होना चाहिए, निर्वैयक्तिकता में नहीं। यदि कहें कि मानवत्व का तत्त्व ही निर्वैयक्तिकता है, उसके विवेकी होने से, तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि विवेक व्यक्तिमूलक भी हो सकता है, और यदि निर्वैयक्तिकता को विवेक का अनिवार्य लक्षण मानें, तब वैयक्तिकता की विद्यमानता का हेतु बताने की समस्या होगी, क्योंकि सामान्यता और निर्वैयक्तिकता एक ही बात नहीं है—जैसे घट घटत्व का व्यष्टीकरण होने से निर्वैयष्टिक नहीं होता और न अश्व

3. द्रष्टव्य आगे अध्याय 8.

अश्वत्व का व्यष्टीकरण होने से निर्वैष्टिक होता है। किन्तु मानव-व्यक्ति एक-साथ वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक, ससीम और असीम है और उसके विषय विशिष्ट, सामान्य तथा तत्त्व सभी प्रकार के हैं । ऐसा अहंकारोपाधि के कारण होता है जिससे मानव-चैतन्य पूर्णतः उपहित नहीं होता। किन्तु अहंकार उसके अस्तित्व की अनिवार्यता है: यही वह नियामक है जो चैतन्य में अस्मिता, चित्त और देह का आधान कर ऐन्द्रिक, रागात्मक और विचारात्मक जगत् का हेतु बनता है। किन्तु मनुष्य इस अस्तित्व की सीमा में निरन्तर इसके अतिक्रमण के लिए व्यग्र रहता है, और यह व्यग्रता ही मूल्यान्वेषण है। इस प्रकार मूल्यान्वेषण स्वयं का स्वयं के तत्त्व या सत्त्व के अनुसार होने का, आत्मगत व्यवधान के निवारण अथवा सत्त्वगत असत्त्व के अपनयन का, प्रयत्न है।

यहां दो प्रश्न विचार्य हैं: आत्मगत व्यवधान या आत्मगत असत्व अथवा अहंकार का हेतु क्या है? क्योंकि मौलिक सत्त्व तो अखंड है। और दूसरे, अश्व और घट के सत्त्वों में व्यवधान की विद्यमानता आत्मप्रकाशित नहीं होने से उसकी विद्यमानता के लिए प्रमाण क्या है?

यहां पहले हम दूसरे प्रश्न पर विचार करेंगे। जैसा कि हम पीछे संकेत कर आये हैं, घटों और अश्वों आदि का सम्बन्ध अपने तात्त्विक सत्त्वों से एक-समान नहीं होता। घट में स्वत्व या स्वरूप की सिद्धि का प्रयत्न घटकार के चित्त में अधिष्ठित होता है जबकि अश्व में यह स्वयं अश्व-व्यष्टि (अश्व-देह) में अधिष्ठित होता है। प्रत्येक अश्व अश्वत्व के लोकावतरण के, अथवा कहें लौकिक माध्यम में क्रियान्वयन के; क्रम में आविर्भूत होता है और इस माध्यम के कारण घटित विद्रूपता के निवारण में प्रयत्नशील दिखायी देता है। देह की आन्तर और बाह्य प्रतिकूल परिस्थिति दैहिक अनात्म है जो दैहिक आत्म के अस्तित्व के लिए निरन्तर संकट बनी रहती है, और यह अपने अलौकिक तत्त्व (जाति) को सम्यक् रूप से व्यक्त करने के लिए इस अनात्म से निरन्तर संघर्षरत दिखायी देती है। किन्तु घट में अनात्म-बाधा के निवारण का यह प्रयत्न कुम्भकार में स्थित होता है। अब, घट-सत्ता की सिद्धि-विषयक प्रयत्न कुम्भकार के चित्तगत होने से घट-मूलक अनात्म-बाधा हमारे लिए उसी प्रकार आन्तरतः अवगम्य होती है जिस प्रकार हमारे अपने स्वरूप की बाधा अवगम्य होती है। वास्तव में घट-मूलक बाधा कुम्भकार की आत्म-बाधा के ही अन्तर्गत कही जा सकती है, क्योंकि यह घट कुम्भकार द्वारा घटत्व के प्रत्ययन की साधना का फल है। किन्तु यह द्रष्टव्य है कि चित्त और प्रयत्न स्वयं अस्तित्व हैं और इसी प्रकार उनका फल घट भी, और परिणामतः चित्त अपने और घटत्व के स्वरूप का न्यूनाधिक अपर्याप्त ही भावन कर सकता है।

यद्यपि अश्वत्व की अश्व-व्यष्टि में आत्म-व्यवधान या अनात्म-बाधा का

और उसके निवारण के प्रयत्न का अवगमन हमें अपरोक्ष रूप में नहीं होता, किन्तु परोक्ष होने पर भी उसकी विद्यमानता में कोई सन्देह नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार अश्व-सन्तति के सब सदस्य अनुरूपता में उत्पन्न और वर्द्धित होते हैं और उनमें परस्पर भेद और विकृतियां नियमाधीनवत् होती हैं, और विकृतियों में भी अनुकरण के प्रयत्न की विफलता लक्षित होती है, उससे यह अनुमान सहज है कि ये व्यष्टि अश्वत्व से अनुप्रविष्ट और उस तत्त्व के सौन्दर्य से आकृष्ट हैं, और इस प्रकार व्यष्टि-अश्व में न्यूनता अश्वत्व से उसकी दूरी से, अथवा कहें उसमें अपने सत्त्व की न्यूनता अथवा असत्व की विद्यमानता से मापित होती है। किन्तु अश्व जबकि केवल अश्वत्व में ही आत्म-व्यवहित दृष्टिगत होता है, आत्म-प्रकाशित चित्त मनुष्यत्व और अन्यत्व दोनों में आत्मव्यवहित अनुभव करता है; और यह अन्यत्व सार्त्र के समान उसके लिए विपत्ति या संकट नहीं होकर आत्म-व्यवधान मात्र ही है।[4] इसे हम सर्वव्यापक आत्मव्यवधान भी कह सकते हैं जो कि परम आत्मसत् को निर्धारण मात्र में आत्मव्यवहित और इस प्रकार अनिर्धार्य में प्रतिष्ठित देखता है।

किन्तु तब प्रश्न है कि अव्यवहित अथवा अनिर्धार्य आत्मसत् के मौलिक होने पर व्यवधान की विद्यमानता का हेतु क्या है? इस पर विचार के लिए हम सांख्य, अरस्तू तथा वेदान्त की सहायता लेंगे।

सांख्य के अनुसार सत् निरपेक्ष : कैवल्य में विश्रान्त और पूर्णत: अनिर्धार्य चैतन्य है, किन्तु यह सत् वस्तुतः शाश्वत रूप से अव्यवहित होने पर भी प्रकटत: शाश्वत रूप से व्यवहित है; इस प्रकार व्यवधान उसके लिए शाश्वत होने पर भी बाह्य है। किन्तु मनुष्य में यह व्यवधान आत्मगत है, क्योंकि वास्तव में यह आत्मव्यवहितत्व ही मनुष्य है; यद्यपि मनुष्य का सत्त्व स्वरूपत: और पूर्णत: आत्म-अव्यवहित, आत्म और पर-अव्यावृत्त चैतन्य ही है। इस प्रकार मनुष्य आत्म-असत्त्व से व्यावृत्त चैतन्य है, यद्यपि उसका मनुष्यत्व, सत्त्व या अन्वेष्यार्थ कैवल्य है। किन्तु तब प्रश्न है कि यह आत्म-व्यवधान या असत्त्व से व्यावृत्ति अनादि रूप से क्यों है, और उसका हेतु क्या है?

इनमें प्रथम प्रश्न का उत्तर सरल है : जगत् चैतन्य का जगद्भाव है, इसलिए चित्त या चेतना काल में ही उत्पन्न होती है, परिणामत: उसमें कोई घटना (ग्रहण, भावन, अनुभूति) अपने अतीत के बिना घटित नहीं हो सकती। प्रकृति से वियुक्त चैतन्य, या चैतन्य से वियुक्त प्रकृति काल में अधिष्ठित नहीं हैं, इसलिए उनमें आदि-अन्त का कोई प्रश्न ही नहीं है। अब जहां तक हेतु का प्रश्न है, ईश्वर-कृष्ण इसका समाधान करते हैं कि, यह अनिर्धार्य निरुपाधिक,

4. "सर्वंखल्विदं ब्रह्म···आत्मा वै ब्रह्म" में इस आत्मव्यवधान का ही निवारण अभिप्रेत है।

अनवगम्य और अनवधार्य सत्ता का निर्धारणों और अवधारणाओं के माध्यम से आत्मावगमन है।[5] यह हेतु सही है, यदि इसके निरूपण की काव्यात्मकता को हटाकर इसे समझा जाय तो, अथवा कहें, इसे प्रयोजन (मोटिव) के बजाय हेतु (रीज़न) की पदावली में समझा जाय तो। उदाहरणतः वर्ग वर्णहीन भौतिक तत्त्व का पहले वर्ण में और फिर वर्ण का विद्युद्वीचियों में अथवा इसके उलट क्रम में, निर्धारण है। भौतिक तत्त्व वर्ण का अनिर्धार्य आधार है। किन्तु जैसा कि हम पिछले अध्यायों में देख आये हैं, आत्यन्तिक रूप से अनिर्धार्य और निरपेक्ष आद्य तत्त्व चैतन्य ही हो सकता है। अब, आद्य अनिर्धार्य तत्त्व के निर्धारणों में स्फुटन का हेतु यह है कि अनिर्धार्य तत्त्व का अस्तित्व निर्धारणों के बिना नहीं हो सकता, जबकि सत्त्वतः निर्धारण अनिर्धायतः नहीं हो सकते; दूसरे शब्दों में, अस्तित्व केवल निर्धारणों का ही सम्भव है और यह निर्धारण सत्ता में होता है, जो स्वरूपतः अनिर्धार्य होने पर भी अस्तित्वतः निर्धारणों से मुक्त नहीं हो सकती।

यह द्रष्टव्य है कि सांख्य की प्रकृति भी प्रकटतः अनिर्धार्य है, यह अनिर्धार्य विषय-पक्ष में निर्धारणों के अतिक्रमण द्वारा संकेतित होता है। दसवीं कारिका में ईश्वरकृष्ण जगत् का निरूपण 'हेतुमत्, सक्रिय, अनेक और सावयव' आदि पदों से कर प्रकृति का निरूपण केवल 'इनके विपरीत' पद द्वारा करते हैं, किन्तु तब भी वे प्रकृति को स्वतंत्र सत् नहीं मानते, जैसा कि उद्धृत 56वीं कारिका से और 'संघातपरार्थत्वात्'[6] से स्पष्ट है। प्रकृति सांख्य में दो प्रकार के निर्धारणों का अतिक्रामी आधार कही जा सकती है—ज्ञान-विषयात्मक और इच्छा-विषयात्मक। इनमें दूसरा निर्धारण विषयवृत्तिक अभावमूलक होने से दुःखात्मक और इस प्रकार पौरुषिक आत्म-व्यवधान अथवा आत्म-प्रवास का द्योतक है। जहां तक ज्ञान-विषय का सम्बन्ध है, वह भी स्वरूप पर पराङ्मुखता का उपचार ही है, यद्यपि ये दोनों उपचार स्वरूपसिद्ध कैवल्य को ही आत्मगोचर[7] बनाते हैं। किन्तु प्रकृति के पौरुषिक चैतन्य की आत्मपराङ्मुखता का माध्यम होने से उसे असत् ही कहा जा सकता है, सत् नहीं। संक्षेप में, पौरुषिक चैतन्य स्वरूपतः अनिर्धार्य सत् है और प्रकृति स्वरूप-सत् में असत् के उपचार का और इस प्रकार निर्धारणों का उपादान कारण है, निमित्त स्वयं यह उपचार है जो असत् अभाव की सृष्टि द्वारा निर्धारणों को धारण करता है।

अरस्तू में भी, सांख्य के समान ही, दो तत्त्व हैं: भूत (मैटर)[8] और चित्

5. इत्येष प्रकृतिकृतो महदादि विशेष भूतपर्यन्तः, प्रतिपुरुष विमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः। सां. का. 56.
6. कारिका 17.
7. का. 57.
8. 'मैटर' शब्द पारिभाषिक है और इसका पूर्णतः सम्यक् पर्याय भारतीय दर्शन में नहीं है।

(फोर्म)। फोर्म मैटर को आधार बनाकर व्यष्टि-रूप में व्यक्त होता है और मैटर फोर्म के आत्म-क्रियान्वयन का माध्यम बनता है। मैटर अपने-आपमें फोर्म के व्यक्त होने का माध्यम मात्र है और फोर्म इस अस्तित्व (अस्तिता) का भाव्य कारण है, जिसका अर्थ हो जाता है कि फोर्म ही व्यक्त होता है, वही इस अभि-व्यक्ति का निमित्त कारण है और वही इस व्यक्त भाव का भाव्य कारण (नीतार्थ का नेयार्थ) है। किन्तु तब मैटर क्या है? अब, सत् अपने ही भाव में तभी भाव्य हो सकता है यदि वह अपने भाव में आत्मबाधित हो, अन्यथा भाव और भाव्य में, एक्चुअल और फाइनल में, कोई दूरी नहीं हो सकती। इस प्रकार मैटर सत्त्व की आत्मबाधा मात्र है, और उसके लिए आगन्तुक है। यह व्याख्या इससे और पुष्ट होती है कि ईश्वर ऐसा फोर्म है जो मैटर से आविल नहीं होता। यहां हम अपने समर्थन में एटीने जिल्सों को उद्धृत करना चाहेंगे। उनके अनुसार, "प्राय: ही यह कहा जाता है, और ठीक ही, कि अरस्तू के फोर्म प्लेटो के आइडियाज़ ही हैं जो द्यु-लोक से भू-लोक में उतार लिए गए हैं। हम फोर्म को उस व्यष्टि के माध्यम से जानते हैं जिसे कि वह उत्पन्न करता है और उस व्यष्टि का ज्ञान हम उसकी परिभाषा के द्वारा प्राप्त करते हैं। ज्ञात और ज्ञेय के रूप में फोर्म को एस्सेंस (तत्त्व) कहा जाता है। अब यह एक तथ्य है कि फोर्म अथवा एस्सेंस एक जाति के सभी व्यष्टियों में अभिन्न रूप से एक ही रहता है। प्लेटो के विरुद्ध अरस्तू की मुख्य आपत्ति कि, स्वयं में मनुष्य (मनुष्यत्व) का अस्तित्व नहीं है, और कि, यदि वह अस्तित्व में है तो उसमें हमारी कोई रुचि नहीं हो सकती, क्योंकि हम मनुष्यत्व को नहीं जानना चाहते बल्कि मनुष्यों को जानना चाहते हैं, उतनी ही स्वयं अरस्तू पर भी लागू होती प्रतीत होती है। प्लेटो के समान ही, उसके सिद्धान्त में भी व्यष्टियों का न कोई उपयोग है और न उनके लिए कोई स्थान ही है। अन्तर केवल यह है कि प्लेटो ने यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि उसकी व्यष्टियों में कोई रुचि नहीं है जबकि अरस्तू कहता तो यह है कि उसकी व्यष्टियों के सिवाय और किसी में भी रुचि नहीं है, किन्तु उसके बाद सिद्ध करने यह चलता है कि, क्योंकि सम्पूर्ण जाति में एक ही स्वरूप-तत्त्व व्याप्त है इसलिए व्यष्टि का वास्तविक सत्त्व जाति के सत्त्व से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है।

"यह सब बहुत विचित्र है, किन्तु इससे बचना सम्भव नहीं था। एक ओर अरस्तू को यह ज्ञात था कि केवल 'यह' मनुष्य ही वास्तविक है, मनुष्य नहीं, किन्तु दूसरी ओर, वह इस निर्णय पर पहुँचता है कि 'इस' मनुष्य में वही वास्तविक या

'उपादान' शब्द इसके निकट है किन्तु सांख्य का 'प्रकृति' शब्द और भी निकट है। किन्तु 'महाभूत' पद अर्थतः पर्याप्त निकट है और इसके अपारिभाषिक प्रयोग को ध्यान में रखते हुए यह निकटतम है।

सत् है जो किसी भी मनुष्य को परिभाषित करता है। अब उसके 'इस' और 'परिभाष्य' में संगति कैसे स्थापित की जा सकती है ? यह सही है कि अरस्तू व्यष्टि का आकलन कर सकता है। उसके अनुसार व्यष्टि का अस्तित्व अपने भौतिक उपादान (मैटीरियल काज़) के कारण है। ठीक, किन्तु व्यष्टि का परिभाष्य तत्त्व उसका उपादान नहीं होता, यह (उपादान) उसमें निकृष्टतम अंश होता है, यहां तक कि अपने-आप में इसका कोई सत्त्व नहीं होता।"[9] जिल्सों की यह व्याख्या अरस्तू पर बलात् आरोप नहीं है, बल्कि अरस्तू के सिद्धान्त के विभिन्न सूत्रों में इसके बिना संगति ही नहीं बैठायी जा सकती, फिर चाहे यह अरस्तू की प्रकट स्थापनाओं से कितनी ही असमंजस क्यों नहीं प्रतीत हो।

इस प्रसंग में वेदान्त की स्थिति अधिक स्पष्ट है, यद्यपि प्लेटो की भी है, सिवाय इस बात के कि वह (प्लेटो) व्यवधान को अव्याख्यायित छोड़ देता है। प्लेटो के अनुसार भौतिक या ऐन्द्रिक विषय सत् का बाधक है जबकि प्रत्येय विषय (आइडिया) शुद्ध सत् है और वह शुद्ध प्रत्यय को गम्य है। किन्तु तब भौतिक की विद्यमानता का क्या हेतु है ? इस प्रश्न का प्लेटो में कोई समाधान नहीं है। किन्तु प्लेटो में सत् भी अन्तिम स्तर नहीं है, उच्चतम स्तर सत्तातिक्रामी है जो एक तथा अखंड(वन) तथा शिव (दि गुड) है। प्लोटाइनस में सत्तातिक्रामी तत्त्व की विस्तृत चर्चा मिलती है, वह इसे असत् कहता है, क्योंकि सत् उसके अनुसार अपने कारक या हेतु की अपेक्षा करता है जो स्वयं सत् नहीं हो सकता, वह उससे परात्पर ही हो सकता है। यह कथन तैत्तिरीय उपनिषद् के 'असद्वा इदमग्र आसीत्' और नागार्जुन के शून्य का स्मरण कराता है, यद्यपि शून्य का प्रत्यय अधिक तार्किक है जबकि प्लोटाइनस और उपनिषद् के 'असत्' का प्रत्यय रहस्यात्मक : प्रातिभ : है।

शांकर वेदान्त भी अस्तित्व या जगत् को व्यवहित सत् के रूप में ही देखता है, जिसे वह उपहित कहता है। सत् उसके अनुसार, एक, अद्वितीय, और परिपूर्ण है। इसका अर्थ है कि, जो कुछ भी व्यष्टि रूप में है वह वास्तव में यह अखंड सत्त्व ही है, जैसे विभिन्न लहरों में जल। वास्तव में लहरों की विभिन्नता भी, वेदान्त के अनुसार, वास्तविक नहीं है, यह केवल प्रातीतिक है, अथवा, है तो सही किन्तु तब भी नहीं है। इस अतात्त्विक या असत् अस्तित्व को वेदान्त 'विवर्त' का नाम देता है, जो सत् के विविध हुए बिना त्रिविध रूपात्मक अस्तित्व में प्रकट होने का वाचक पद है। किन्तु तब वैविध्य की प्रतीति या प्रतिभास किस कारण से है और क्यों है ? वेदान्त का उत्तर है, अविद्या के कारण है और अविद्यामूलक साध्यों की सिद्धि के लिए है। किन्तु तब अविद्या का अधिष्ठान क्या है ?

9. एटीने जिल्सों–बींग एण्ड सम फिलोसोफर्स, पृ० 48.

वास्तव में यदि एक प्रस्तर-खंड, पुष्प, या गाय को देखें तो इनके अधिष्ठान के सम्बन्ध में एक प्रकार से कोई समस्या नहीं है, क्योंकि प्रस्तर प्रस्तरत्व में, पुष्प पुष्पत्व में और गाय गोत्व में स्थित है, और ये अपने-अपने तत्त्व से अविभक्त कहे जा सकते हैं, और तब गोत्व का पशुत्व में और प्रस्तरत्व का भूतत्व में लय कल्पनीय है और इन दोनों का अन्ततः एक परम तत्त्व में।[10] यह परम तत्त्व मूल, आद्य, अखंड और सर्वगत है। दो व्यष्टियों का और दो जातियों का वैशिष्ट्य उस चित्त की कल्पना भी कहे जा सकते हैं जो चित्त आहंकारिक अस्मिता के कारण विशिष्ट है। इस प्रकार समस्या उस चित्त की है जो अहंकार और अस्मिता के कारण अपने अविशिष्ट : अविच्छिन्न : मूल से विच्छिन्न है। यह अविच्छिन्न मूल तत्त्व ही अहंकार की अपनी व्यष्टिता का और अपने विषय की व्यष्टिता का आधार है। अन्यथा सब जैसा और जो है, वैसा वही है—अनवच्छिन्न, अविशिष्ट, अनिर्धारित, अखंड और आपूर्ण। किन्तु यह आहंकारिक चित्त बाहर और भीतर से व्यवहित होकर सर्वत्र इतरत्व से आक्रान्त हो जाता है।

किन्तु इससे समस्या का समाधान नहीं होता, क्योंकि केवल मानव-चित्त के ही इतर-व्यावृत्त या आत्म-व्यवहित होने पर भी आत्मव्यवहितत्व की विद्यमानता की समस्या समाप्त या न्यून नहीं हो जाती। न भौतिक और पाशव अस्तित्व में ये उपाधियां और आत्म-व्यवधान नहीं होने में ही कोई गौरव है, क्योंकि भौतिक अस्तित्व भीतर-बाहर उभयतः बन्द है और पाशव अस्तित्व भीतर से बन्द और बाहर इतरोन्मुख खुला है : यह केवल मानवीय अस्तित्व है जो भीतर और बाहर दोनों ओर खुला है और इस प्रकार खुले होने से ही जिसमें आत्म-अपर्याप्तता तथा उसका बोध और परिणामतः उस पर्याप्तता की स्मृति या आभास है जिससे वह वियुक्त है। (यह स्थिति आत्मसंशोधन के सभी प्रयत्नों में, उदाहरणतः अपने विचार या अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्ततर शब्द या वाक्य पर चिन्तन में, भी देखी जा सकती है।) और वास्तव में यह आत्म-अपर्याप्तता का बोध उपाधि और उस उपाधि के अस्तित्व की अज्ञानमूलकता का भी ज्ञापक है, अन्यथा यह उपाधि अनवगत रूप से पाशव चित्त और भौतिक अचित्त को पूर्णतः आत्म-विस्मृत रखती है, परिणामतः यह पूर्ण से अनवच्छिन्नता की स्थिति नहीं है। जैसे भी इसे देखा जाय, प्रस्तुत प्रश्न उपाधि की विद्यमानता का है, जो उपाधि असत् है; क्योंकि यदि यह असत् नहीं होती तब यह होती ही नहीं। और यह है, इसका प्रमाण यह है कि आत्म-अपर्याप्तता का बोध और तज्जनित आकुलता और आत्मप्रवास-जनित खिन्नता की अनुभूति का अस्तित्व है।

उपाधि के असत् नहीं होने पर उसकी अविद्यमानता कहने, अथवा दूसरे

10. यहां वे समस्याएं उपेक्षणीय हैं जो इस लय के तर्क से सम्बन्धित हैं।

शब्दों में, उसकी विद्यमानता से उसकी असत्ता निगमित करने, का कारण यह है कि 'सत् उपाधि' पद वदतोव्याघात है, क्योंकि असत् होने के कारण जो उपाधि है वह सत् होने पर स्वरूप हो जायगी : यदि मैं सत्त्वतः सीमित हूं तब उन सीमाओं के अतिक्रमण का प्रयत्न या आकांक्षा उसी प्रकार अविद्यामूलक कही जायगी जिस प्रकार स्वरूप को असीमित मानने के कारण उपाधि को सत् मानना अविद्यामूलक कहा जाता है। किन्तु अस्तित्व के इतिहास में मानव-चेतना ऐसा क्षण है जिसमें सीमा के अतिक्रमण के लिए आत्मप्रकाशित उद्विग्नता का आविर्भाव है और इस प्रकार जिसकी सीमाएं अपने असत्त्व में अवगम्य हैं। डेकार्ट अस्मिता में अपनी सीमितता और ईश्वर की असीमितता का युगपद् बोध देखता है। किन्तु यह प्रतिपादन युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि यदि विचारक्रिया में सीमा स्वरूपगत है तब असीमितता स्वरूपगत नहीं हो सकती और परिणामतः सीमा के साथ आत्म-प्रकाशित भी नहीं हो सकती। डेकार्ट का तर्क है कि सीमितता तब तक आत्मप्रकाशित हो ही नहीं सकती जब तक असीमितता भी उसी आत्म में युगपद् रूप से आत्मप्रकाशित नहीं हो। किन्तु यह प्रतिपादन एक गहरी भ्रांति पर आधारित है। आत्मप्रकाशित प्रत्यय या विचार होता है और प्रत्यय की ससीमता उसके गोचर विषय : यहां 'मैं' : के इतर-व्यावृत्ति-सहित प्रकाशित होने के द्वारा प्रकट होती है। 'मैं विचारता हूं' में 'मैं' यदि 'विचारता हूं' क्रियागत विषयिभाव मात्र है, जैसाकि डेकार्ट में है[11] तब उसमें ससीमता आत्मप्रकाशित या प्रकाशित नहीं कही जा सकती और यदि वह 'विचार-गोचर आत्म-प्रत्यय' है तब इसमें आत्म की ससीमता भी अन्य विचार-गोचर विषयों के समान ही इतर-व्यावृत्ति के द्वारा प्रकट होती है। अब यदि इस 'अहं' को अन्य विचार-गोचर विषयों की अपेक्षा विषयी के निकटतर भी मान लें तो भी इतर-व्यावृत्ति से प्रकाशित इसकी ससीमता इतर को असीम के रूप में प्रकट नहीं करती, जब तक कि इतर को वास्तविक इतर नहीं मानकर आत्म का समावेशक नहीं माना जाय। डेकार्ट की भ्रान्ति का स्रोत यह प्रतीत होता है कि जैसे 'गोत्व' 'अगोत्व' से व्यावृत्त होता है और परिणामतः गाय के साथ ही अगाय भी प्रदत्त होती है, उसी प्रकार ससीम भी असीम से व्यावृत्त होता है और दोनों युगपद्रूप से प्रदत्त होते हैं। किन्तु ऐसा नहीं है, सीमित अहं असीमित त्वं : ईश्वर : से नहीं, सीमित 'त्वं' से ही व्यावृत्त होता है, असीमित (अनिर्धार्य) से तो वह केवल अवसित होता है। यह केवल 'ससीम' पद है जो 'असीम' पद से व्यावृत्त होता है। यदि कहा जाय कि वास्तव में प्रत्येक व्यावृत्ति में व्यावर्तक

11. किन्तु बहुत से विचारक डेकार्टीय 'मैं' को विषय मानते हैं। उदाहरणतः हाइडेगर के अनुसार डेकार्ट की तत्त्वमीमांसा में सत्त्व (बींग्ज) पहली बार प्रत्यक्ष की विषयता के रूप में परिभाषित होते हैं। (माइकिअल मर्रे (सं.) हाइडेगर एण्ड मॉडर्न फिलोसोफी, पृ. 36.

असीम ही होता है, जैसे अगाय, जो गाय के अतिरिक्त सर्वव्यापक है, तो यह दो प्रकार से अयुक्त है। प्रथम तो, अगाय गाय से सीमित है इसलिए वह असीम है ही नहीं, जबकि ईश्वर जीवों से सीमित नहीं है, और दूसरे अगाय अनिर्धारित नहीं है, यदि उसे असीम मान भी लें तो, क्योंकि यह निर्धारणों पर व्यापक है। इस प्रकार सत्त्वगत सीमितता का बोध या अवगमन आत्मप्रकाशित होने पर स्वयं सत्त्व की अपनी ही असीमितता को असन्दिग्ध रूप से सिद्ध करता है और परिणामतः सत्त्व की सीमा की असत्ता : औपाधिकता : सिद्ध करता है, ईश्वर की सत्ता नहीं। यहां यह द्रष्टव्य है कि यह निष्कर्ष केवल तार्किक नहीं है बल्कि तर्क-समर्थित बोधमूलक है। इस प्रकार व्यवधान की विद्यमानता को भ्रान्तिमूलक देखने वाली वैदान्तिक दृष्टि सबसे अधिक प्रामाणिक है। यद्यपि सांख्य-दृष्टि भी व्यवधान को इसी प्रकार असत् देखती है, किन्तु सांख्य-दृष्टि व्यवधान का अधिष्ठान अन्यत्र और वास्तविक देखने से उद्विग्नता या प्रवासानुभूति की समुचित व्याख्या नहीं कर सकती।

किन्तु इससे अस्तित्वगत इतर-व्यावृत्ति समाप्त नहीं हो जाती; व्यष्टि व्यष्टिगत इतर से, और जाति-जातिगत इतर से व्यावृत्त रहती ही है। किन्तु यह व्यावर्तन व्यावृत्त की आत्म-अपर्याप्तता को ही प्रमाणित करता है, जो प्रमाण प्रत्यङ्मुख चैतन्य द्वारा अपनी सीमाओं, निर्धारणों या व्यावर्तनों के बीच से अपनी असीमता और अव्यवहितता के साक्षात्कार में प्रतिष्ठित होता है।

4

प्राकृतिक जगत्

'प्रकृति' शब्द का प्रयोग साधारणतः 'बाह्य जगत्' और 'स्वभाव' दो अर्थों में होता है। सांख्य ने इस शब्द का प्रयोग 'जगत्-स्वभाव' के अर्थ में किया है, जिसका विपरीत 'पुरुष' है जो चित्स्वभाव है। सो, प्रकृति सांख्य के अनुसार जड़ है। किन्तु यहां हम सांख्य को आधार बनाकर नहीं चल रहे हैं और न प्रकृति का जड़ के रूप में निरूपण हमारा प्रयोजन है। भारतीय दर्शन के अधिकांश सम्प्रदायों की प्रकृति विषयक एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवधारणा 'अनात्म' है। हेगल ने भी प्रकृति को इतर (अदर) के रूप में निरूपित किया है। किन्तु 'इतर' 'अनात्म' से सर्वथा भिन्नार्थक शब्द है। इसमें भारतीय अवधारणा हमें हेगल की तुलना में अधिक अर्थगर्भ प्रतीत होती है (यद्यपि भारतीय दार्शनिकों ने आत्म में से सब कुछ निकाल कर इसे रिक्त कर दिया है और हेगल ने इसमें सब कुछ समाहित कर इसे अत्यधिक विपुलता दी है)हेगल की प्रकृति-विषयक अवधारणा एक सीमा तक सांख्य के 'परार्थ' के अनुरूप है,[1] यद्यपि एक सीमा तक ही। किन्तु प्रकृति की अनात्म-रूप अवधारणा यहां हमारे लिए विशेष रूप से विचार्य नहीं है। प्रकृति प्रथमतः और सहज रूप से इन्द्रिय-गोचर प्रस्तुति का आधार तत्त्व है। सामान्यतः लोग इन्द्रिय-गोचर प्रस्तुति को ही प्रकृति कह देते हैं,[2] किन्तु 'इन्द्रिय-गोचर' को यदि हम व्यापक अर्थ में भी लें, जिसमें अध्यवसाय-गोचर भी सम्मिलित है, तो भी उसे प्रकृति नहीं कह सकते हैं, उसे प्राकृतिक कह सकते हैं। प्रकृति इस गोचर में व्यक्त तत्त्व है। अवश्य वह तत्त्व इन्द्रिगोचर नहीं है, इन्द्रियगोचर संख्या और परिमाण वाले विशेष विषय होते हैं, जबकि प्रकृति अखण्ड और परिमाण को धारण करने वाला अपरिमेय तत्त्व है। किन्तु यह तत्त्व इन विशेषों से उद्ग्रहण (एब्स्ट्रेक्शन) भी नहीं होता, इसी से यह सामान्य भी नहीं होता, यह विशेषों के साथ उनके आधार तत्त्व के रूप में उतना ही साक्षात् होता है जितने विषय। इस तत्त्व का क्या स्वरूप है?

इस प्रश्न को हम अगले अध्याय के लिए स्थगित कर यहां प्राकृतिक जगत् के स्वरूप पर विचार करेंगे। इसका स्वरूप क्या है?

1. हेगल, 'फिलोसोफी आफ नेचर', सं. एवं अनुवाद : मिलर, ए. वी., पृ० 13-14.
2. ह्वाइटहैड, ए. एन, 'दि कांसेप्ट आफ नेचर', पृ० 3.

इस प्रश्न के उत्तर की दो दिशाएं हो सकती हैं : एक प्रामाण्य की दिशा और दूसरी प्रमेय की, वस्तु-स्वभाव-निरूपण की, दिशा। प्रामाण्य की दिशा का अवलंबन करने पर विचार का केन्द्र मानव-चेतना हो जाती है और तब हम इस प्रकार के प्रश्नों के साथ अग्रसर होते हैं कि इसका ही क्या प्रमाण है कि बाह्य जगत् सत् है ? अथवा "बाह्य जगत् ज्ञान-सापेक्ष होने से, यह ज्ञान-विषय मात्र, और इस प्रकार प्रतिभास या आभास मात्र, ही नहीं हैं ?" और तब, जो स्वतः नहीं है उसके आभासित होने का हेतु ढूंढने का प्रसंग उपस्थित होता है, जिसके उत्तर में एक ओर बौद्ध, वेदांतिक और सांख्यीय आदि मत हैं और दूसरी ओर कांट, फ़िख़्ते और शोपेन्हावर आदि के मत हैं, जिनके अनुसार प्रतिभास का हेतु वासना या संकल्प है। यद्यपि ये दोनों प्रकार के मत जगत् का आविर्भाव व्यक्ति-चित्त के विकल्प या संकल्प में नहीं देखकर अतिवैयक्तिक चित् या चित्त में देखते हैं, किन्तु विकल्प या संकल्प अतिवैयक्तिक चित् में किस प्रकार उद्भूत या निहित हो सकते हैं, इस सम्बन्ध में पर्याप्त सन्तोषजनक विचार नहीं मिलता। एक तीसरे प्रकार का मत ईश्वरीय सृष्टि-विषयक है। यह मत प्रकृति को एक प्रयोजनात्मक (टीलियोलोजी-कल) व्यवस्था के रूप में देखता है जिसका नियामक उससे इतर है। यह इतर आत्मचेतन प्रत्यय भी हो सकता है और अनात्मचेतन प्रत्यय भी। अनात्म-चेतन प्रत्यय किस प्रकार व्यवस्था का नियामक हो सकता है यह एक अत्यन्त समस्यात्मक प्रश्न है, जिस समस्या से सृष्टि का ईश्वर-कर्त्तृत्व मुक्ति देता है। किन्तु ईश्वर की कल्पना में यह एक अलंघ्य कठिनाई है कि इतर से व्यावृत्ति के बिना अस्मिता कैसे सम्भव है और अस्मिता के बिना कर्त्तृत्व कैसे संभव है ? ऐतरेय उपनिषद् में आत्म-चेतना का आविर्भाव इतर के साथ ही कहा गया है—उसके अनुसार आत्म-अचेतन तत्त्व आत्म और अनात्म के द्वित्व में आविर्भूत होता है—"असद्वा इदमग्र आसीत्, ततो वै सदजायत, तदात्मानं स्वयमकुरुत।"[3] यही कल्पना फ़िख़्ते और शैल्लिंग में भी है। किन्तु इन सबमें प्रकृति ही इतर है और यह चैतन्य में आत्म-चेतना के साथ ही आविर्भूत होती है। ईश्वरीय सृष्टि की कल्पना में प्रकृति ईश्वर का इतर नहीं है, वह प्रकृति-तत्त्व या उपादान है जो ईश्वर द्वारा प्रयुक्त होता है। सांख्य ने इसका एक दूसरा समाधान प्रस्तुत किया है जो अद्भुत सूझ का परिचायक है। उसके अनुसार प्रकृति स्वरूपतः अपेक्षी तत्त्व है, उसका प्रत्यय तद्बाह्य है, किन्तु वह प्रत्यय पुरुषगत नहीं है, वह प्रकृतिगत-पुरुषोल्लेखी है।[4]

3. इसके विपरीत सांख्यदर्शन प्रकृति को सामान्य कहता है। द्रष्टव्य सांख्यकारिका, 11. किन्तु वास्तव में यह सन्दर्भ-भेद के कारण है। सांख्य जबकि वस्तु के पक्ष से देख रहा है, हम ज्ञान के पक्ष से देख रहे हैं।
4. 'संघार्थ परार्थत्वात्'। इसकी व्याख्या के लिए द्रष्टव्य : भगवती का लेख : 'सांख्य-विवेचन', दार्शनिक त्रैमासिक, अक्तूबर, 1974.

दूसरा मार्ग वस्तु-स्वभाव-निरूपण का है। यद्यपि यह मार्ग प्रथमतः अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है किन्तु थोड़ा गहराई से देखने पर यह अपनी अगम्यता प्रकट कर देता है। वास्तव में कांट की स्वलक्षण या स्वगत वस्तु (थिंग इन-इट्सेल्फ) की प्रपत्ति इसका एक उत्कृष्टतम दार्शनिक उदाहरण है। कांट को इसके सम्बन्ध में यही श्रेय दिया जाना चाहिए कि उसने दर्शन की एक बहुत महत्त्वपूर्ण समस्या को इतनी स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया। कोई निरूपण बुद्धि-विकल्पगत प्रत्ययों या प्रपत्तियों के बिना नहीं हो सकता और कोई स्वभाव अवधारणा या प्रत्यय से विलगाया नहीं जा सकता। 'देशगतत्व' एक-साथ भौतिक वस्तु-स्वभाव भी है और भौतिक वस्तु-अवधारण भी, इसी प्रकार 'गोत्व' और 'मनुष्यत्व' हैं। कुछ दार्शनिक इन्हें केवल अवधारणाएं और इस प्रकार सत्त्वतः निराधार मानते हैं और दूसरे इन्हें बुद्धिगम्य वस्तुएं। हमें इनमें पहला मत पूर्वाग्रह-ग्रस्त प्रतीत होता है, क्योंकि इसके समर्थक दो संप्रदायों में से एक केवल संवेद को वस्तु-प्रकाशन-समर्थ मानने वालों का है और दूसरा वस्तु को अगम्य मानने वालों का। किन्तु केवल संवेद को ही वस्तु-प्रकाशक कहने में भी वस्तु-स्वभाव का एक प्रकार से निर्धारण है, और अगम्य कहने में एक-दूसरे प्रकार से निर्धारण है। यदि यह मानें कि 'अगम्य' कहने में कोई निर्धारण नहीं है, तो वास्तव में यह न अगम्य कहा जा सकेगा और न गम्य ही, तब उसके वस्तु-स्वभाव होने का प्रश्न भी उत्पन्न नहीं होगा। यह बात कांट में स्पष्ट है—वस्तु-स्वभाव उसके अनुसार विषयता की कोटियों में अवधार्य नहीं है, किन्तु संकल्प में वह आत्म-प्रकाशित होता है। कांट यहां उसे 'संकल्प की कोटियों में निर्धार्य' भी कह देता है, जिसे यहां उत्प्रेक्षात्मक प्रयोग-रूप में ही देखना चाहिए। किन्तु विषयात्मक रूप से अनिर्धार्य अनवगम्य नहीं होता, जैसे डेकार्ट और शंकर का 'अहं' और शंकर का ब्रह्म अगम्य नहीं हैं, यद्यपि वे विषय-रूप कोटियों या अवधारणाओं के लिए अगम्य हैं। यही बात कांट की स्वलक्षण वस्तु :स्वतन्त्र संकल्पः के लिए भी है।

वस्तु-स्वभाव की अविकल्पनीयता के आधार में एक दूसरी बड़ी भ्रांति है, कि चित्त स्वयं वस्तु नहीं है, अथवा वस्तु है किन्तु तब अपने स्वरूप में वह उसी प्रकार अविकल्पनीय : अनवधार्यः है जिस प्रकार अचैतसिक वस्तु या वस्तुएं हैं। अब यदि चित्त वस्तु है और विकल्प चैतसिक हैं, तब विकल्पों को भी वास्तविक होना चाहिए, और यदि चित्त वस्तु नहीं है तब अवश्य विकल्प भी वास्तविक नहीं हैं, किन्तु तब वे ज्ञान या भ्रम के आधार भी नहीं हो सकते। इसका एक हल चित्त को विषयापेक्षा (इंटेंशन) के रूप में परिभाषित करके निकाला गया है, जिसके अनुसार चित्त वस्तु नहीं होकर वस्तु की अपेक्षा मात्र है। किन्तु यह हल वास्तव में चित्त और अचित्त दोनों को अवस्तु बना देता है और केवल चैतसिक को वस्तु-अपेक्षा के रूप में शेष छोड़ता है। यहां कहा जा सकता है कि अपेक्षा का विषय

चैतसिक नहीं होता, वह अचैतसिक ही होता है। किन्तु यह सही नहीं है। अवश्य उसे ज्ञानात्मक दृष्टि से अचैतसिक कह सकते हैं, किन्तु सत्ता की दृष्टि से उसे चैतसिक द्वारा अचैतसिक का आक्षेप ही कहा जाएगा उसे उतना भी बाह्य नहीं कहा जाएगा जितना 'बाह्यात्मक प्रत्यय' (आइडिया एक्स्टर्नेलाइज़्ड) पद में अभिप्रेत है।

किन्तु वेदान्त और कुछ बौद्ध दर्शन-सम्प्रदाय अचित्त या अचैतसिक को चैतसिक का आक्षेप मात्र मानते हैं और स्वयं चैतसिक को भी मिथ्या मानते हैं। दूसरे शब्दों में, उनके अनुसार केवल चैतन्य ही सत् है, चित्त और अचित्त दोनों मिथ्या हैं। किन्तु कठिनाई यह है कि इस सत् और असत् दोनों के इस प्रकार निरूपण के लिए प्रमाण चैतसिक ही बनता है: उपाधि की निस्स्वभावता स्वयं उपाधि में ही अपने को प्रकट करती है। परिणामतः यदि इन मतों को स्वीकार भी कर लिया जाए तो भी वस्तु-स्वभाव का निरूपण संभव नहीं है, केवल निस्स्वभाव : असत् : का निरूपण ही संभव है। इस प्रकार वस्तु-जगत् का निरूपण केवल निरूपण-के-आत्मनिरूपण के मार्ग से ही सम्भव है। किन्तु अन्ततः परिस्थिति यही होने पर भी निरूपण या ज्ञान अपने प्रथम प्रवर्तन में जिसका साम्मुख्य करता है वह आत्म-भिन्न निरूप्य या विषय ही होता है। उसकी सत्ता चाहे जो भी हो, उसका धर्म निरूपण-बाह्य ही प्रकट होता है—दूसरे शब्दों में, अर्थ (वस्तु) चाहे असत् ही हो, किन्तु अवभासित वही होता है। यहां हम इन अवभासित अर्थों पर, उनकी सत्यता-असत्यता के प्रश्न से निरपेक्ष, विचार करेंगे।

बाह्यार्थों में यद्यपि हमारी रुचि का अधिकतम और प्रमुखतम विषय मनुष्य ही होता है, उसके अनन्तर मनुष्यकृत उपकरण, उसके अनन्तर पशु-पक्षी, और भौतिक जगत् सबसे अन्त में विषय होता है; और वास्तव में भौतिक जगत् भी आदितः भौतिक रूप में गृहीत नहीं होता : ग्रह-नक्षत्र, यहां तक कि नदी-पर्वत भी, देवों के देहों के रूप में, अथवा कम से कम प्राण और चेतनावान् व्यक्तियों के रूप में, गृहीत होते हैं। बहुत से भारतीय दार्शनिक ही नहीं, ग्रीक दार्शनिक भी—प्लेटो पर्यन्त—ग्रह-नक्षत्रों को देवात्माओं के अधिवासों या देहों के रूप में ही देखते हैं। किन्तु तब भी दर्शन के इतिहास के प्रायः आदिकाल से कुछ ऐसी स्थिति है कि जब हम जगत् के सम्बन्ध में विचार करते हैं तब उसको 'भौतिक' विशेषण ही देते हैं। किन्तु वास्तव में अजैव प्रकृति की भी शुद्ध भौतिक के रूप में कल्पना अपेक्षाकृत बहुत बाद की बात है। किन्तु 'शुद्ध भौतिक' का क्या अर्थ है, यह भी अपने-आप में कोई सर्वसम्मत तथ्य नहीं है। किन्तु यहां हम देशात्मकता या विस्तारात्मकता को इसका एक अनिवार्य धर्म मानकर आरम्भ कर सकते हैं। यह द्रष्टव्य है कि डेकार्ट और लॉक ने इसी को भौतिक का एकमात्र धर्म माना, कांट ने एक दूसरे प्रकार से इसकी पुष्टि की जब उसने बाह्य संवेदन का आकार देश को कहा। किंतु भारतीय दर्शनों में पांच प्रकार के बाह्य संवेदनों के अनुरूप

भूतों के भी पांच प्रकारों की कल्पना की गई है जो अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होती है। किन्तु तब यह प्रश्न रह जाता है कि क्या इन पांच में कोई एकता है? यदि नहीं है तब इन्हें एक वर्ग में किस आधार पर रखा जाता है? यदि इसका उत्तर दिया जाय कि यह वर्गीकरण ज्ञानेन्द्रिय-विषयता के आधार पर है, तब आगे यह प्रश्न हो सकता है कि पांच ज्ञानेन्द्रियों में क्या एकता है? यदि उत्तर हो कि एकता विषयता (अपेक्षा)की है, तो यह विषयता अनुभूति (इच्छा, भावना आदि) और विचार में भी होती है, केवल इन्द्रियों में ही नहीं होती, परिणामतः उनके विषयों को भी इनमें सम्मिलित करना चाहिए जो नहीं किया जाता। दूसरा उत्तर हो सकता है कि 'इनकी एकता बाह्यता में है, अर्थात् जो विषय बाह्यता-धर्म से युक्त हैं वे भौतिक हैं, और इन विषयों की विषयता केवल इन्द्रिय-मूलक ही होती है।" किन्तु तब शब्द, स्पर्श, गन्ध और रस किस प्रकार बाह्यता से युक्त हैं? यदि कहें कि शब्द का ग्रहण हमें बाह्यता के भाव के सहित होता है, तो यह उस प्रकार स्वतःस्पष्ट नहीं है जिस प्रकार रूप के सम्बन्ध में यह स्पष्ट है। स्पर्श का अनुभव अवश्य कुछ अवस्थाओं में विस्तार और बाह्यता के साथ होता है, उदाहरणतः तर्जनी में सर्वाधिक, किन्तु शीत और घाम का अनुभव इस प्रकार नहीं होता। रस का अनुभव पूर्णतः अबाह्यात्मक होता है। यदि कहें कि यह अनुभव किसी रस-दायक आधार-वस्तु के सहित होता है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि इस आधार या कारक वस्तु का बोध स्पर्शमूलक होता है, स्वयं रसास्वाद वस्तु-अपेक्षी नहीं होता। यह केवल रूप का अनुभव है जो स्पष्टतः और अनिवार्यतः दैशिक आकार के सहित होता है। इसी से केवल यह प्रतिज्ञप्ति ही विश्लेषणात्मक है कि 'कोई भी वस्तु, यदि वह वर्णात्मक है तो वह विस्तारात्मक भी है।' किन्तु यह प्रतिज्ञप्ति विश्लेषणात्मक नहीं है कि 'यदि कुछ गन्धवान् है तो वह विस्तारवान् भी है।' इसी प्रकार अन्य ज्ञानेन्द्रिय-विषयों के लिए भी है, अर्थात् विस्तार उनका स्वरूप-धर्म नहीं है। इस पर यदि कहा जाय कि सब ज्ञानेन्द्रियां परस्पर निर्भर रूप में व्यापार करती हैं और मनुष्य में दर्शनेन्द्रिय मुख्य नियामक होती है, तो यह दार्शनिक युक्ति नहीं है, क्योंकि जन्मान्ध मनुष्यों में यह इन्द्रिय ही नहीं होती किन्तु तब भी उनमें विषय की बाह्यता का बोध होता है। इसके उत्तर में यदि कहा जाय कि कुछ स्पर्श बाह्यता और विस्तार के सहित होते हैं और ये जन्मान्ध व्यक्तियों में विस्तार और बाह्यता की अवधारणा के आधार बनते हैं, तो यह भी सही नहीं है, क्योंकि एक तो यह आवश्यक नहीं है कि इस प्रकार के कोई स्पर्श घटित हों ही : यदि किसी व्यक्ति को पीठ के बल लिटाकर उसकी पीठ को संज्ञा-शून्य कर दिया जाय तब वह शीत-घाम का अनुभव बिना विस्तार के ही करेगा : और दूसरे, न तब उसे अन्य इन्द्रियों से ही विस्तार का ग्रहण होगा। इसके विरुद्ध कहा जा सकता है कि यह स्वाभाविक नहीं है। यह सही है, किन्तु इससे यह स्पष्ट

है कि देश सब बाह्य संवेदनों का आकार नहीं है। यह केवल रूप का आकार है और कुछ स्पर्शों का सहगामी है। इस पर भी यह कहा जा सकता है कि देश भौतिक वस्तु का मूल धर्म है, अथवा कहें भौतिकता और देशात्मकता पर्यायवाची हैं, और यह धर्म केवल दर्शनेन्द्रिय को ही सम्यक् रूप से प्रकट होता है। किन्तु यह सर्वथा दूसरी बात होगी और इसके लिए प्रमाण की अपेक्षा होगी, जो प्रमाण ज्ञानेन्द्रियमूलक अनुभव के विवेचन से प्राप्त नहीं किया जा सकता।

वास्तव में बाह्यता रूप-रसादिमूलक और इस प्रकार इन्द्रिय-विषयक नहीं होकर इनसे प्राक् होती है, यह चित्त की जगत्प्रवृत्ति में अन्तर्निहित भाव है जो स्वयं देह का भी हेतु कहा जा सकता है, अथवा कहें जो स्वयं इन्द्रियों के उपकरणों (आंख, कान आदि अंगों) से युक्त देह-रूप में व्यक्त होता है।[5] बाह्योन्मुखता का यह भाव ही इन्द्रिय-विषयों का आकलन बाह्य देश में करता है, उस देश का कोई निश्चित आकार भी आकलित हो, यह आवश्यक नहीं है। यह स्थिति अविकसित पाशव स्तर पर, अथवा हमारे शुद्ध स्पर्शमूलक देश-ग्रहण के स्वरूप पर विचार से अधिक स्पष्टता से देखी जा सकती है। कुत्ता दूसरे कुत्ते का शब्द सुनकर चौंकता है और सहज ही उसे बाहर किसी वस्तु :कुत्ते: में स्थापित करता है, पक्षी धमाका सुनकर भयभीत होता है और उस शब्द को बाहर स्थानित करता है। यहां यह द्रष्टव्य है कि व्यष्टि-पक्षी धमाके का आकलन स्पष्टतः बाह्य देश में करता है, यह नहीं कहा जा सकता, सम्भवतः वह केवल उससे भयभीत होता है, किन्तु इस भय का मूल 'अन्य से आघात' के अभिज्ञान में ही होता है। इसलिए धमाके से भय अन्य से, अर्थात् अपने से बाहर किसी से आक्रमण के आगमनात्मक अभिज्ञान को पूर्व-कल्पित करता है। यह अभिज्ञान व्यष्टिमूलक हो, यह आवश्यक नहीं है, यह आनुवंशिक अथवा सहज भी हो सकता है : केंचुआ भूख लगने पर भोजन-अन्वेषणार्थ किसी व्यष्टिगत अभिज्ञान के बिना ही अग्रसर होता है। देश की उत्पत्ति का यही मूल है। अन्यथा न शब्द के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी दैशिक आकार में घटित हो और न भूख के लिए ही यह आवश्यक है कि उसकी संतुष्टि में किसी दैशिक आकारमय वस्तु का बोध हो। यही बात रस और गंध के लिए भी है।

यहां यह आपत्ति की जा सकती है कि, हम वस्तुओं का बाहर सामुख्य करते हैं, और दूसरे कुत्ते के शब्द से चौंका हुआ कुत्ता अपने पिछले अनुभव से कुत्ते और शब्द का सम्बन्ध जानता है। यह सही है, किन्तु 'दूसरा कुत्ता' यहां रूप और स्पर्श-गुणों की अधिष्ठानभूत वस्तु का वाचक है जिसे तीसरे एक और गुण : शब्द : का अधिष्ठान बनाया जा रहा है। अब यदि कुत्ता जात्या ही चक्षुविहीन होता तब भोंकने वाला कुत्ता यहां केवल स्पर्श का अधिष्ठान होता, जिसे शब्द से और जोड़ा

5. इस प्रसंग में द्रष्टव्य : यशदेव शल्य, विषय और आत्म, अ० 2.

जाता। किंतु तब ऐसी स्थिति में कुत्ते को शब्द के अधिष्ठान-रूप में अबाह्य क्यों नहीं देखा जाता? स्पर्श के लिए भी यह आवश्यक नहीं है कि उसका अधिष्ठान बाह्य ही हो। ऐसी स्थिति में, दुःख और इच्छा के, अथवा खुजली और पीड़ा के एक अबाह्य अधिष्ठान के ग्रहण के समान उस कुत्ते के भी शब्द और स्पर्श का अबाह्य अधिष्ठान अन्य कुत्ता नहीं होता, वह स्वयं होता। इस प्रकार अन्य कुत्ते की बाह्य ज्ञान-विषय-रूप में उपस्थिति मेरी बाह्योन्मुख प्रवृत्ति के कारण है, जो प्रवृत्ति संवेदों का संयोजन बाहर देश में करती है, यह स्वयं संवेद-विषय का धर्म नहीं है। अब यदि यह बात सही है तब इस देश का आकार भी बाह्योन्मुखता के क्रियान्वयन की विधा के अनुसार ही निर्धारित होगा, जो विधा अंततः चेतना की जगद्भाव में आत्माभिव्यक्ति की विधा से निर्धारित होती है। उदाहरण के लिए दर्शनेन्द्रिय-सहित और उससे रहित जीवों के देश का आकार समान नहीं हो सकता। यही बात अन्य इन्द्रियों के लिए भी सही है। और यह द्रष्टव्य है कि भिन्न-भिन्न प्राणियों में भिन्न-भिन्न इन्द्रियां प्रमुख होती हैं और इस प्रमुखता के अनुसार ही जगद्भाव की विधाएं भी भिन्न-भिन्न होना अनिवार्य है। यह द्रष्टव्य है कि मनुष्य में देश का निर्धारण पाशव-निर्धारणों से बहुत मौलिक रूप से भिन्न होता है, जिसका कारण मनुष्य की विषय-ग्रहण वृत्ति की आवेग और वासना से पर्याप्त स्वतन्त्र होने की सामर्थ्य है। किन्तु तब भी हमारा विषय-मूलक देश-ग्रहण किस सीमा तक विषयिमूलक आग्रहों से निर्धारित होता है, यह हम अंशतः एक ही दृश्य के अनभ्यस्त ग्रहण और कलाकार द्वारा ग्रहण में तुलना से देख सकते हैं।

यहां चेतनामूलक सृजन के हमारे मूलगामी सिद्धांत का कुछ और विशदीकरण आवश्यक है। हमारे उपर्युक्त प्रतिपाद के अनुसार हमारा इन्द्रियविषय-ग्रहण चेतना की बाह्योन्मुख प्रवृत्ति का परिणाम है, क्योंकि अन्यथा ऐंद्रिय संवेदों का संयोजन बाह्य विषय के रूप में होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि स्वयं संवेदनों में, चाक्षुष संवेदनों को छोड़कर, ऐसा कुछ नहीं है कि वे अधिष्ठान के रूप में किसी बाह्य वस्तु की अनिवार्यतः अपेक्षा करें। तब देह में इन्द्रिय-द्वार या उपकरण (आंख, कान आदि) भी इसी प्रवृत्ति के परिणाम होने चाहिएं, क्योंकि उपकरण केवल प्रयोजनोपकार के लिए ही अस्तित्व में आते हैं। इसके अतिरिक्त, स्वयं देह भी केवल बाह्योन्मुख वृत्तिता को ही प्रदर्शित करती है, मानो इस प्रवृत्ति ने अपने क्रियान्वयन के लिए ऐसे उपकरण का आविष्कार किया हो जो बाह्यता के नियोजन के लिए बाह्यात्मक क्रिया का केन्द्र हो सके। देह को 'बाह्याभिसारी चेतना' के रूप में भी परिभाषित किया जा सकता है, क्योंकि बाह्योन्मुख प्रवृत्ति के संतोष के लिए बाह्याभिसरण अनिवार्य है और बाह्याभिसरण के लिए बाह्याभिसरण के बीच स्थित बाह्यता, अर्थात् ऐसी स्थिति अनिवार्य है जो अपने को सबसे और सबको अपने से, बल्कि अपने को अपने से भी, बाहर रख सके। इसके लिए देशगत सीमित अस्तित्व

अनिवार्य है। यह दशा केवल मूर्त : भौतिक : माध्यम में ही प्राप्त हो सकती है, क्योंकि अमूर्त या अदैशिक स्वभावतः बहिष्कारक नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए विचार को लें। विचार चेतना की एक दूसरे प्रकार की सीमित या अवच्छिन्न अभिव्यक्ति है, जैसाकि उसकी अनिवार्य द्वन्द्वात्मकता से प्रकट होता है। किन्तु यह अवच्छिन्नता भाषा के सहारे ही अस्तित्व ग्रहण करती है, जो अंशतः भौतिक है, और उसी अंश तक विचार भी सीमितता या अवच्छिन्नता से उपहित होता है। विचार द्वारा एक द्वन्द्व का व्यापकतर द्वन्द्व में अतिक्रमण और स्वयं अपने अतिक्रमण की सामर्थ्य, जिसका उल्लेख हमने प्रथम अध्याय में किया था, सीमा की इसी आंशिकता के द्योतक हैं। किन्तु मूलतः विचार भी बाह्यता की प्रवृत्ति के पोषक के रूप में ही उत्पन्न होता है : ऐन्द्रिक ग्रहण का स्वतंत्र बाह्यार्थ के रूप में सम्यक् रूप से निर्धारण अध्यवसाय के द्वारा ही होता है। इन्द्रियों में दर्शनेन्द्रिय बाह्यात्मक ग्रहण में सर्वोत्कृष्ट है, क्योंकि इसका विषय स्पष्टतः दैशिक आकार से युक्त होता है, और विचार इस प्रवृत्ति की पराकाष्ठा है, क्योंकि केवल यही सभी इन्द्रिय-विषयों का दर्शनेन्द्रिय द्वारा गृहीत देश में स्वतंत्र बाह्य वस्तु के रूप में निश्चय करता है।

किन्तु वस्तु की बाह्यता और स्वतंत्रता अपनी पूर्णता तब प्राप्त करती है जब वह पूर्ण रूप से विचार को समर्पित हो जाती है और ऐन्द्रिकता से मुक्त हो जाती है। वास्तव में इन्द्रियविषयक बाह्यता विषयनिष्ठ धर्म नहीं होकर प्रवृत्तिमूलक भाव ही होती है। विषय-धर्म के रूप में बाह्यता अध्यवसाय के द्वारा ही आविर्भूत होती है, जो विषय को चेतना से पृथक् ग्राहक के विरुद्ध ग्राह्य के रूप में स्थिर करता है। अध्यवसित इन्द्रिय-गोचर वस्तु का तत्त्व इन्द्रिय-अगोचर, अथवा कहें शुद्ध विचार-गोचर, भौतिकता है जो रूप-रस-गन्ध आदि से रहित है। इसका देश अवश्य दर्शनेन्द्रिय-गम्य देश के तारतम्य में होता है, किन्तु तब भी उससे अत्यधिक दूराकृष्ट होता है : यह पूर्णतः ज्यामितिक है, जिसमें रूप का लेशमात्र भी अग्राह्य होता है। बिन्दु और रेखा की यूक्लिडीय परिभाषा इसका स्पष्ट प्रमाण है।

यहां भौतिक वस्तु-विषयक ज्ञान के चार स्तर देखे जा सकते हैं—(1) एकेन्द्रिय विषयक, (2) इतरेन्द्रिय-समर्थित, (3) अध्यवसाय-विनिश्चित इन्द्रिय-विषयक और (4) निरिन्द्रिय अध्यवसायात्मक-आत्मविमर्शमूलक। यह स्तर-क्रम वस्तु के विषयी से स्वतंत्र स्वरूप-विनिश्चय का क्रम है। किन्तु जैसे-जैसे हम इसमें विषयी से स्वतंत्र होते जाते हैं वैसे-वैसे विशेष से सामान्य की ओर तथा मूर्त और ठोस से अमूर्त और अगोचर की ओर अग्रसर होते जाते हैं। यह क्रम एक ओर विषयिनिष्ठता से मुक्ति का है और दूसरी ओर प्रत्यक्ष से विकल्प की ओर अग्रसरता का। अब, यदि इन्द्रिय बाह्य वस्तु की साक्षात्कारक है तब अध्यवसाय, और उसके आगे आत्मविमर्शी अध्यवसाय (रीफ्लेक्टिव जज्मेंट) अवस्तु-विषयक होगा,

और यदि अध्यवसाय वस्तु-ग्राहक है तब इन्द्रिय वस्तु-संकेतक भले ही मान ली जाय किन्तु वस्तु-ग्राहक किसी भी प्रकार नहीं मानी जा सकती। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को साक्षात्कारात्मक कहने वाले दार्शनिक, जैसे दिङ्नाग, इसमें एक छोर पर हैं और भौतिक विज्ञान को वस्तु-प्रापक कहने वाले दार्शनिक दूसरे छोर पर। यहां कांट बीच की भूमि पर है, और वह इन्द्रिय तथा अध्यवसाय दोनों को संयुक्त रूप से प्रतिभास कहता है, जिसमें प्रतिभासित बाह्य वस्तु होती है। किन्तु तब भी, यदि उसे कटघरे में खड़ा किया जाय तो वह कहने को बाध्य होगा कि इन्द्रिय वस्तु के निकटतम होती है। किन्तु दूसरी ओर वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष जैसा कोई ज्ञान या ग्रहण नहीं मानता, उसके अनुसार संवेद देश या काल के आकार, संवेद-समन्वय (अप्पर्सेप्शन) और विकल्प इन तीनों के बिना घटित नहीं होते, वे सायुज्य में ही घटित होते हैं, जैसे गाय व्यक्ति-जाति सायुज्य के बिना अस्तित्व में नहीं आती।

स्पष्टतः कांटीय समाधान सत्ता-विषयक नहीं होकर ज्ञान-विषयक है। सत्ता-विषयक इसे इसी रूप में कहा जा सकता है कि इसके अनुसार ज्ञान के लिए सत्ता सब प्रकार से अगम्य है। वास्तव में यदि हम ज्ञान को इस प्रकार ही परिभाषित कर लेंगे कि वह संवेद के आगे नहीं जा सकता, और वस्तु जिसके परे है, तब यह केवल पुनरुक्ति मात्र है कि ज्ञान का विषय प्रातिभासिक होता है, सत्ता नहीं होती। किन्तु जो मार्ग कहीं पहुँचाता ही नहीं उसके अवलम्बन का औचित्य ही क्या, यदि उद्देश्य भ्रमण ही नहीं हो तो?

किन्तु अन्य मार्ग भी कोई सहज प्रशस्त नहीं हैं। यदि बाह्यता को केवल बाह्यात्मक प्रवृत्ति का परिणाम मान लिया जाय और बाह्य वस्तुओं को इस प्रवृत्ति द्वारा जनित इन्द्रिय और अध्यवसाय का परिणाम, तब भी स्थिति में कोई मौलिक अन्तर नहीं आता, क्योंकि तब हम वस्तु को पूर्णतः खो बैठते हैं। तब दूसरा मार्ग क्या है?

वास्तव में हमारे समाधान के प्रयत्न का मार्ग स्वयं प्रयत्न की वस्तुता की दिशा में है: जगद्भाव सत् चैतन्य में सत् प्रवृत्ति है और यह प्रवृत्ति इन्द्रिय और बुद्धि के माध्यम से भौतिक वस्तुजगत् का सर्जन करती है। किन्तु यह समाधान आकारिक दृष्टि से अपर्याप्त नहीं होने पर भी उसी प्रकार असन्तोषजनक प्रतीत होता है जिस प्रकार वर्ण्य व्यक्ति के निश्चय के अभाव में वर्णन प्रतीत होते हैं। भौतिकसत्ता इस अर्थ में बाह्य है कि यह चित् के सम्मुख उसकी इच्छा-अपेक्षा के बिना स्वतः प्रस्तुत होती है और उसकी इच्छा-अपेक्षा के अनुसार वहां से नहीं हटती। इसके अन्य सब गुण-धर्म: रूप-रसादि और देश-कालादि: चैतन्य में अन्तर्भूत (अपचयित-रिड्यूस) किये जा सकते हैं किन्तु यह धर्म: अनपवार्यता: इस प्रकार अपचयित नहीं किया जा सकता। किन्तु यह युक्ति सही नहीं है, क्योंकि यह सही

होने पर भी कि ऐन्द्रिक विषय का आविर्भाव और तिरोभाव ग्राहक की इच्छा के अधीन नहीं होता, यह स्थिति उस विषय को चित् से स्वतंत्र प्रतिष्ठा नहीं दे देती, क्योंकि स्वयं इच्छा और विचार का भी आविर्भाव स्वतः और अनपवार्य होता है। यदि कहा जाय कि इच्छा और विचार भी प्राकृतिक हैं, तो यह तर्क अपुष्ट है, क्योंकि 'प्राकृतिक' और 'भौतिक' एक ही बात नहीं है। इच्छा और विचार प्राकृतिक तो हैं किन्तु भौतिक नहीं हैं, ये चैतसिक हैं, और यहां हम भौतिकता पर विचार कर रहे हैं। यदि यह कहा जाय कि इच्छा और विचार का आविर्भाव मानसिक अभ्यास से रोका जा सकता है, तो संवेद्य विषय का आविर्भाव भी सम्पर्क हटाकर रोका जा सकता है, और अवधान नहीं होने पर वह अग्राह्य होता ही है।

किन्तु इस प्रसंग में मौलिक महत्त्व की बात यह है कि निर्विकल्पक इन्द्रिय-विषय में प्रस्तुति का नावीन्य तो होता है किन्तु बाह्य अनपवार्यता नहीं होती, क्योंकि बाह्यता और अनपवार्यता वस्तुविनिश्चय के अंग होते हैं और परिणामतः अध्यवसाय के विषय होते हैं। किन्तु यहां यह द्रष्टव्य है कि इन्द्रियगम्यता भौतिकता का कोई मौलिक धर्म नहीं है, भौतिक विज्ञान उसे इससे परिभाषित नहीं करता। इसका मूल धर्म सम्भवतः अचैतसिक जड़ता को कहा जा सकता है और तदनुसार मूल लक्षण आन्तर-राहित्य अथवा नितान्त बहिर्भाव को, सामान्यात्मकता और पारिमाणिकता को कहा जा सकता है। वास्तव में दूसरा लक्षण पहले से आपादित होता है, क्योंकि विशिष्टता स्वगत धर्म के रूप में भौतिक नहीं होकर चैतसिक, या कहें प्रत्ययमूलक, होती है। उदाहरण के लिए दो प्रस्तर-खंडों में, अथवा प्रस्तर और स्वर्ण में, कोई मौलिक भेद नहीं है, दो प्रस्तरखंड उस प्रकार एक जाति के दो व्यष्टि नहीं होते जिस प्रकार दो गायें एक जाति की दो व्यष्टि होती हैं, अथवा दो घट एक धर्म से अधिष्ठित दो व्यष्टि होते हैं। वे केवल इस बात में भिन्न होते हैं कि वे अपने बीच दैशिक अवकाश से पृथक्कृत होते हैं। इसीसे एक प्रस्तर-खंड को तोड़कर कभी भी दो बनाये जा सकते हैं, किन्तु न घर को तोड़कर दो घर बनाये जा सकते हैं और न गाय को काटकर दो गायें बनायी जा सकती हैं। प्रस्तर और स्वर्ण में प्रकटतः बहुत भेद होने पर भी तत्त्वतः केवल मात्रा-भेद है : इनके मालीक्यूल्स में केवल परमाणु-भेद है, जिनमें पुनः संख्या-भेद मात्र है।

किन्तु भौतिकता के चाहे कोई भी धर्म और गुण माने जायं, यदि इसे ज्ञान-विषय के रूप में परिभाषित किया जाता है तब यह ज्ञान में अन्तर्भूत हो जाती है और यदि ज्ञान-विषय के रूप में परिभाषित नहीं किया जाता है तब इसका कोई निरूपण या परिभाषा सम्भव ही नहीं हो सकती। ऐसा इसलिए है क्योंकि भौतिक वस्तु आन्तर-रहित होती है, और आन्तर-रहित होने से यह या तो ऐन्द्रिक ग्रहण में अशेष्य हो जाती है अथवा बौद्धिक ग्रहण में, अथवा दोनों में संयुक्त रूप से। और इससे भी कोई अन्तर नहीं पड़ता कि हम ऐन्द्रिक को केवल बाह्य लक्षण या

विषयिमूलक गुण मानकर केवल दूसरे को ही वस्तु-मूलक मानते हैं, याकि दूसरे को विषयिमूलक उपचार मानकर केवल प्रथम को वस्तु से सम्बन्धित करते हैं, याकि दोनों को वस्तु पर बाह्यारोप मानते हैं, याकि भौतिक को अवस्तु मानकर इन दो से, अथवा इनमें दूसरे से, उत्सृष्ट मानते हैं। भौतिक में जो इन दोनों से अतिरिक्त शेष रहता है और जो इनमें अन्तर्भाव्य नहीं है वह है ज्ञान से बाहर देश में सत्ता, जिसका मूल चित्त की जगत्-प्रवृत्ति में है।

किन्तु इस अत्यन्त सामान्यात्मक निरूपण के उपरान्त बहुत कुछ है जो भौतिक जगत् के सम्बन्ध में निरूपणीय है, उदाहरण के लिए विभिन्न भौतिक वस्तुओं का अपना वैलक्षण्य। वास्तव में 'भौतिक वस्तु' के साथ बहुवचन का प्रयोग उस प्रकार उपयुक्त नहीं है जिस प्रकार निर्मित वस्तुओं— घट, मेज़ आदि—के साथ, क्योंकि भौतिक जगत् में व्यष्टिता या वैयक्तिकता नहीं है। किन्तु भौतिक जगत् में संरचनाएं (स्ट्रक्चर्स), संस्थान (पैटर्न्स) और गतियां हैं जो एक नियम और व्यवस्था को प्रकट करती हैं। प्रस्तरों, धातुओं आदि में अवलोक्य विभिन्न संरचनाओं, ग्रहों-नक्षत्रों तथा परमाणुओं में अवलोक्य विभिन्न संस्थानों और गतियों में एक स्वायत्त क्रिया-कारित्व एक या विभिन्न नियमों के अधीन हैं। वास्तव में जगत् के इस आयाम की नियमाधीनता इतनी पूर्ण और इतनी सुघड़ है कि शुद्ध तर्क के अतिरिक्त केवल भौतिक तत्त्व-विषयक विज्ञान ही इतने पूर्ण नियम के न्यूनाधिक आकलन की आशा कर सकता है। यह कहना कि मानव-बुद्धि भौतिक जगत् पर नियम का आरोप करती है, अयुक्ति-संगत है। ऐसा इस आधार पर कहा जाता है क्योंकि एक तथ्य की व्याख्या विभिन्न सिद्धान्तों के अनुसार की जा सकती है। भौतिक विज्ञान के विकास के इतिहास को इस रूप में भी देखा जा सकता है कि गेलिलियो, न्यूटन और आईंस्टाईन के सिद्धान्त वैकल्पिक व्यवस्थाएं हैं जिनमें से एक दूसरी को सौष्ठव और लाघव के आधार पर विस्थापित करती है, सत्य के दावे के आधार पर नहीं। एक प्रकार से अध्यवसाय और विकल्प को उपचार कहने के पीछे भी इसी प्रकार की धारणा कही जा सकती है। वास्तव में, युक्ति, अध्यवसाय और विज्ञान मानव-बुद्धि के साथ ही आविर्भूत हुए हैं, जिस प्रकार रूप आंख के साथ और गंध घ्राण के साथ आविर्भूत होती है। मनुष्य से पूर्व कहीं नियम का ग्रहण नहीं है, सिवाय व्याप्ति के, जो वास्तव में नियम न होकर प्राणिक धारणा और सुविधा-धर्म है।

यह सब एक अंश तक सही है, किन्तु मूलतः यह भ्रान्ति है। यह कहना अधिक युक्त है कि आंख का आविर्भाव सत्ता के एक आयाम का उद्घाटन करता है, जो इसके बिना अव्यक्त या ढँका पड़ा रहता है। इसके पीछे हमारी युक्ति यह है कि दर्शनेन्द्रिय की विद्यमानता या उसका आविर्भाव संदिग्ध नहीं है और परिणामतः इसकी सत्ता भी असन्दिग्ध है। परिणामतः यह सत्ता के एक आयाम का आविर्भाव

है। इस पर आपत्ति की जा सकती है कि, यहां प्रश्न दर्शनेन्द्रिय का नहीं, दृश्य रूप का है। इसके लिए हमारा उत्तर है कि दृश्य रूप और दर्शनेन्द्रिय दोनों का आविर्भाव समान रूप से जगद्भाव या बाह्योन्मुखता की वासना से होता है—आंख (चक्षु-गोलक) व्यष्टि-देह में होती है और दर्शनेन्द्रिय भी व्यष्टि-मूलक होती है, किन्तु ये दोनों अधिकांश जीवों में समान रूप से हैं, इसलिए इनका अस्तित्व व्यष्टि-मूलक होने पर भी इनका तत्त्व या सत्ता व्यष्टिता के साथ युगपद् है, अर्थात् दर्शनेन्द्रिय, आंख, देह और व्यष्टित्व एक ही आद्य जगद्भाव के उन्मीलन हैं और उसीका उन्मीलन दूसरे पक्ष में दृश्य रूप है। यही बात भौतिक नियम और नियम-ग्राही बुद्धि के लिए भी सत्य है। इनमें नियम बुद्धि का आरोप नहीं है, बल्कि दोनों चित्-सत् के युगपद् आविर्भाव हैं और सत् हैं।

इसका अर्थ यह नहीं है कि प्राणि-जगत् से पहले भौतिक जगत् नहीं था और मनुष्य से पहले भौतिक जगत् में नियम नहीं था। यह कहना ऐसा ही होगा जैसा यह कहना कि प्राणि-लोक की उत्पत्ति से पहले इसकी कारणभूत मूल वासना नहीं थी। लोक यदि वासना का क्रियान्वयन है तो वह क्रमिक ही हो सकता है। इस लोक का स्वरूप भी ऐसा ही है कि इसमें क्रियान्वयन तत्काल नहीं हो सकता, केवल क्रमिक ही हो सकता है। इसे विचार के उदाहरण से समझा जा सकता है: (1) मैं या तो गलत विचार करता हूं, या सही विचार करता हूं। इसका अर्थ है कि विचार की प्रामाणिकता स्वयं मेरे विचार के अन्तर्भूत नहीं है। (2) जब मैं सही विचार करता हूं तब भी विचार्य का ग्रहण क्रमिक ही होता है, यद्यपि स्वयं विचार का विषय कालात्मक नहीं होता, वह काल-बाह्य होता है। यही बात जगद्वासना के सम्बन्ध में है, यह कालातीत प्रत्यय का काल में क्रियान्यवन है। इस प्रकार जबकि प्राणी की उत्पत्ति से पहले भी जगत् बाह्यात्मक प्रत्यय-रूप में अरूप-अनाम था, इस प्रत्यय के आगे क्रियान्वयन के क्रम में रूप और नाम का आविर्भाव इन्द्रिय और इन्द्रिय-विषय के रूप में और अध्यवसायात्मिका बुद्धि और अध्यवसेय वस्तु के रूप में हुआ। यहां इस बात को दुहराना अस्थाने नहीं होगा कि विषय विषयी की कल्पना या आक्षेप नहीं है, क्योंकि ये दोनों एक ही क्रियान्वयन के दो पक्ष हैं, और विषयि-पक्ष जबकि व्यष्टि-रूप में विभक्त होता है, विषय पक्ष चैतन्य में बुद्धि-तत्त्व के विकास के अनुसार क्रमशः सामान्यता और अनिवार्यता की ओर अभिक्रमित होता जाता है और इसके माध्यम से विषयी सीमितता और व्यष्टिता से मुक्त होता जाता है। यह विषय-ग्राह से मुक्त चित्त का विषय के साथ पुनः सामरस्य प्राप्त करना है। किन्तु अब चित्त इस सामरस्य को आत्म-स्वातंत्र्य में प्राप्त करता है, विषय के तंत्र में नहीं: विषय और विषय के नियम-विषयक विभिन्न सिद्धान्त चित्त के विषय और जगत् के साथ स्वतंत्र सामरस्य के द्योतक हैं, उपचार या आत्म-प्रवंचना के नहीं।

भौतिक प्रकृति में सामान्यता का यह दर्शन, अथवा कहें भौतिक प्रकृति का सामान्य नियमों की व्यवस्था के रूप में यह रूपान्तरण, इन्द्रिय-वृत्ति पर बुद्धि-वृत्ति की विजय है। किन्तु प्रकृति से संपर्क का सूत्र तब भी इन्द्रिय ही रहती है। ऐन्द्रिकता से पूर्ण मुक्ति प्राकृतिक विषयता के लिए सम्भव नहीं है, केवल यह गौण से गौणतर हो जाती है। वास्तव में भौतिक विज्ञान में इन्द्रिय-विषय सामान्य नियम में ही अन्तर्भूत रहता है, किन्तु तब भी नियम सत्ता से सम्पर्क-सूत्र के रूप में इन्द्रिय-विषयता का ही आश्रय लेता है।

किन्तु जैसा कि हमने पीछे संकेत किया, भौतिक प्रकृति का अध्यवसाय के अधीन इन्द्रिय-विषयमात्र के रूप में ग्रहण स्वयं मानव-इतिहास में भी बहुत बाद की स्थिति है। उससे पूर्व यह प्रकृति अलौकिक चेतन सत्त्वों : देवों : से अनुप्रविष्ट विशेष सत्त्वों (प्रस्तर, पर्वत, नदी, ग्रह, नक्षत्र आदि) की धातृ महत्तर और दिव्य सजीव सत्त्व ही थी। शुद्ध इन्द्रिय-विषयता में इसका रूपान्तरण वास्तव में साथ ही इसके निर्विशिष्ट नियमता में रूपान्तरण का आधार भी बना। विशिष्ट स्वतः सामान्य का एक उदाहरण मात्र होता है, जब तक कि चित्त विशिष्ट को उसके अपने आधार से उद्गृहीत कर अपने में समाहित नहीं कर लेता। यही कारण है कि दिङ्नाग का निर्विकल्पक विषय केवल बुद्ध को ही गम्य हो सकता है, अंशतः अत्यन्त अभ्यस्त कलाकार को भी हो सकता है, किन्तु अध्यवसाय-सामर्थ्य से शून्य पशु को नहीं हो सकता।

इस प्रकार प्रकृति का भौतिक के रूप में ग्रहण वास्तव में विषय-ग्राह से अंशतः विमुक्त चित्त का विषय-ग्रहण है। किन्तु इसमें भी स्तर-भेद हैं। प्रथम स्तर पर दृश्य या स्पृश्य रूप से पृथक् कोई भी प्रस्तर खंड पृथक् वस्तु के रूप में ही ग्रहण किया जाता है, और कम से कम एक सीमा तक व्यष्टित्व से आरोपित भी किया जाता है। व्यष्टि का अर्थ है इतर से व्यावृत्त आत्मतंत्र व्यवस्था। इस प्रकार वह वस्तु : प्रस्तर खंड : आत्मतंत्र रूप में कल्पित की जाती है। उदाहरणतः विभिन्न ग्रह, नक्षत्र, यह नदी, वह पर्वत, और यह प्रस्तर ये सब इस स्तर के विषय-ग्रहण के लिए व्यष्टि होते हैं। अवधारणा के इस स्तर पर ये देवात्माओं से युक्त भी देखे जाते हैं। यह तथ्य हमारे उपर्युक्त कथन की और पुष्टि करता है। इनके विपरीत दार्शनिक लोग हैं जो प्रत्यक्ष ज्ञान पर विचार के प्रसंग में घट-पट आदि को उसी प्रकार देखते हैं जिस प्रकार प्रस्तर-खंड को। किंतु प्रस्तर-खंड जबकि प्रत्यक्ष-गम्यता में निश्शेष, आन्तर-रहित, अथवा कहें पूर्णतः बहिर्भूत, वस्तु(प्रत्यय)है पेड़ और घट अपने अंतर्गत प्रत्ययों से निर्धारित व्यवस्थाएं हैं, ये प्रत्यक्षगम्यता में निश्शेष व्यवस्थाएं नहीं हैं।[6]

6. यहां द्रष्टव्य है कि कांट 'फोर्म्स आफ नेचर' प्रकृति के व्यष्टि-विषयों को कहता है और इनके उदाहरणों के रूप में प्रस्तर और पेड़ का उल्लेख करता है। द्रष्टव्य—कासीरर,

जैसाकि ऊपर कहा गया, प्रत्यक्षगम्य वास्तव में एक ओर नितान्त विशिष्ट होता है : इन्द्रिय-विषय होने से, और दूसरी ओर वह नितान्त सामान्य में अन्तर्भुक्त भी होता है : आन्तर शून्य होने से। इसके विपरीत व्यष्टि में सर्जनात्मक प्रत्यय व्यक्त होता है और इस प्रकार वह प्रेरणा, कल्पना और भाव्यता से अन्तर्गर्भ होता है। इन्द्रिय-गोचरता इसके लिए भी अनिवार्य होती है, किन्तु वह इसमें निश्शेष नहीं होता, यह वास्तव में भौतिकता के एक नितान्त भिन्न स्वरूप को प्रकट करता है : इसमें चैतन्य भौतिक का, उसके भीतर से, उसकी उपादान और उपकरण-स्वरूपता में, साक्षात्कार करता है। उदाहरणतः घट को लें। यह जबकि मिट्टी का एक पिंड भी है, यह पिंडत्व इसका तत्त्व नहीं है, इसका तत्त्व प्रयोजन-प्रत्यय है जो मृत्तिका-पिंड के माध्यम से आकारित या व्यक्त हुआ है। इसे एक प्रयोजन-प्रत्यय का देहावतरण भी कह सकते हैं।

यह घट घटत्व-सामान्य का एक उदाहरण है, किन्तु यह सामान्य प्रस्तरत्व या काठिन्य के समान सामान्य नहीं है जो विशिष्ट के पक्ष से मात्र एक उद्ग्रहण (एब्स्ट्रेक्शन) और इस प्रकार कल्पना मात्र है, और दूसरी ओर विचार के पक्ष से वह सब कुछ है जिसका कोई भी कठिन वस्तु या कोई भी प्रस्तर-खंड एक उदाहरण मात्र है। घटत्व इनके विपरीत एक रचनात्मक और भाव्यात्मक प्रत्यय है जिसके क्रियान्वयन या अभिव्यक्ति के क्रम में घट-व्यष्टियों (विशेषों से भिन्न) का आविर्भाव होता है और प्रत्येक घट स्वयं में भाव (सत्) होने पर भी इस प्रत्यय के प्रसंग से भाव्यात्मक और इस प्रकार अपर्याप्त होता है। कठिन वस्तु या प्रस्तर काठिन्य या प्रस्तरत्व का आविर्भाव नहीं है, कठिन वस्तु युगपद् रूप से कठिन और काठिन्य है और प्रस्तर प्रस्तरत्व और अंततः भौतिकत्व है। कठिन-काठिन्य को युगपत् : उभयः कहने का औचित्य यह है कि कठिन संवेदनगत विषय मात्र है, जो यद्यपि ग्राह्य होने के लिए चैतसिक समन्वय (यूनिटी ऑफ अप्पसैप्शन) की अपेक्षा करता है किंतु काठिन्य के ग्रहण की अपेक्षा नहीं करता। काठिन्य कठिन की धर्मता का बौद्धिक या अध्यवसायात्मक ग्रहण है, जो कठिन पर निर्भर रूप में उद्ग्रहण (एब्स्ट्रेक्शन) है किन्तु स्वतंत्र रूप में संवेदनगत वस्तु के तत्त्व का साक्षात्कार है, जिसका विशिष्ट वस्तु : संवेद-प्रदत्तः सम्यक् उदाहरण है : कठिन-धर्मता कठिन संज्ञान या ज्ञप्ति-विषय से सम्यक्तर नहीं हो सकती, किन्तु इनमें

एच. डब्ल्यू., 'ए कामेन्ट्री आन कांट्स क्रिटीक आफ जजमेंट', 1938, पृ० 119। इसी प्रकार सांख्यकारिका 3 पर टिप्पणी करते हुए वाचस्पति मिश्र 'प्रकृति विकार' की व्याख्या करते हुए कहते हैं : "यद्यपि पृथ्वी आदि महाभूतों के गो, घट, वृक्ष आदि बिकार हैं..." इनमें वह प्रस्तर का भी समावेश कर सकता था। भारतीय और पाश्चात्य दोनों दार्शनिक घट, मेज़ आदि का उदाहरण प्रत्यक्ष-गोचर प्राकृतिक विषयों के रूप में ही देते हैं। किन्तु किस प्रकार ये इन्द्रिगोचर विषयमात्र नहीं हैं, इसका विशद विवेचन हमने मनुष्य और जगत् पुस्तक के प्रथम अध्याय में किया है।

व्याप्ति-भेद है जो स्वरूप-भेद के कारण है। कठिन संज्ञानात्मक या संवेदनात्मक घटना या तद्गत विषय है और यही उसका निश्शेष स्वरूप होता है, जबकि काठिन्य उसी का अवेदनात्मक और अघटनात्मक ग्रहण होता है। किन्तु इससे भिन्न घटत्व में सम्बन्ध यौगपद्य का और सामान्य-विशेष का नहीं है, यह सम्बन्ध घट के पक्ष से भाव्य के साथ भाव का है और घटत्व के पक्ष से शुद्ध आकार के साथ उसके भौतिक उपादान में अपर्याप्त निरूपण का। भौतिक उपादान में निरूपित आकार अपने प्रत्यय से आकारत: भिन्न नहीं होता, केवल वह अधिष्ठानत: भिन्न होता है: प्रत्ययगत आकार का अधिष्ठान चित्त में होता है और निरूपित का अधिष्ठान भौतिक में। इसीसे घट संज्ञा या वेदनागतत्व में निश्शेष नहीं होता, अर्थात् घट प्रत्यक्षगम्य विषय मात्र या संवेदनमूलक संरचना (कंस्ट्रक्शन फ्राम सेंसडेटा) मात्र नहीं है, यह पक्ष केवल उसका धारक या माध्यम है, घट इस माध्यम में निरूपित आकार या प्रत्यय है। यहां यह उल्लेखनीय है, और अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, कि आकार के माध्यम के रूप में संवेदनगम्य (भौतिक) पक्ष भी मौलिक रूप से रूपान्तरित हो जाता है, अब यह अवयवी (व्यष्टि) हो जाता है जो देशिक बिन्दुओं का संघात नहीं होकर एक अंतर्गर्भ गति और छन्द से अपने प्रत्येक बिन्दु में नियोजित होता है। एक वर्णसंस्थान या प्रस्तर-खंड में घटक बिन्दुओं का परस्पर सम्बन्ध पूर्णत: बाह्य होता है और उनकी बाहरी सीमाएं अनिर्धारित होती हैं। वे कहीं से भी तोड़े या बढ़ाए जा सकते हैं, किन्तु घट अपने आकार की गतिमय वर्तुलता से अपने प्रत्येक बिन्दु को अपने में समाहित करता है। यही उसकी व्यष्टिता है। यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक आकारित या सृजनात्मक प्रत्यय से अनुप्रविष्ट वस्तु व्यष्ट्यात्मक हो, जैसे वस्त्र आकारित होने पर भी व्यष्ट्यात्मक नहीं होता, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है कि कोई व्यष्टि सृजनात्मक प्रत्यय से अनुप्रविष्ट नहीं हो। यहां आपत्ति की जा सकती है कि यह कैसे निश्चय हो कि कोई प्रातीतिक व्यष्टि वास्तव में भी व्यष्टि है या नहीं? और इस निश्चय के लिए यह आवश्यक है कि हमें पहले से पता हो कि वह आकार से अनुप्रविष्ट है या नहीं। यह सही है, किन्तु यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यद्यपि अधिकांश अवस्थाओं में हमें व्यष्टि ही प्रस्तुत होते हैं जिनमें हमें आकार का संकेत[7] लेना होता है, किन्तु यह संकेत मिलने तक हम यह नहीं कह सकते कि प्रातीतिक व्यष्टि वास्तव में भी व्यष्टि है या नहीं। उदाहरणत: किसी पत्थर में बनी कोई आकृति, या कागज़ अथवा भूमि पर बनी रेखाएं मूर्ति या चित्र हैं या नहीं, इसमें हम भ्रम में पड़ सकते हैं। यहां प्रश्न किया जा सकता

7. यहां हमने 'अनुमान' के बजाय 'संकेत' का प्रयोग इसलिए किया है क्योंकि हम संकेत से आकार को साक्षात्कार्य मानते हैं, व्याप्तिगम्य नहीं।

है कि यदि कागज पर बनी रेखाएं वास्तव में आकारित नहीं हों : किसी बच्चे ने यों ही खींच दी हों : किन्तु देखने वाले को उनमें आकार दिखायी दे, तब क्या कहा जाएगा ? हम कहना चाहेंगे कि तब ये इस देखने के साथ ही आकार से अनुप्रविष्ट हो गईं और इस प्रकार व्यष्टित्व की निरूपक हो गईं।

किन्तु जहां आकार होने पर भी व्यष्टित्व नहीं है, जैसे वस्त्र में, वहां आकार हमें उपादन और संरचना में भेद के द्वारा गम्य होता है। जैसे वस्त्र में तंतुओं का सम्बन्ध आवयविक होता है, क्योंकि इस सम्बन्ध में परिवर्तन स्वयं रुई या तन्तुओं को प्रभावित नहीं करता, किन्तु यह परिवर्तन वस्त्र को परिवर्तित कर देता है।

अब भौतिक माध्यमों में घट-पटादि के रूप में व्यक्त आकार हमें अपरोक्षतः प्रदत्त होते हैं क्योंकि इन आकारों का प्रत्ययन मानव-चित्त में होता है और उसी चित्त में इनके क्रियान्वयन के कर्त्तृत्व का धारण होता है। इसलिए हम यह असंदिग्ध रूप से कह सकते हैं कि ये वस्तुएं निरूपित आकार हैं और इस प्रकार इनकी आकृतियां या मुद्राएं प्रत्ययों से निर्दिष्ट हैं। जब इसी प्रकार की यद्यपि इनसे कहीं अधिक जटिल और कुशल आकृतियां, व्यष्टि और संस्थान हम प्रकृति में देखते हैं तब सहज ही हम इनमें भी आकारों के संकेत देखते हैं। जैव प्रकृति में न केवल आकार-तत्त्व, अथवा कहें सृजनात्मक प्रत्ययों का आत्म-निरूपण, दृष्टिगोचर होता है बल्कि प्रत्येक भाव अपने भाव्य स्वरूप के निरूपण की उदग्रता अपने भीतर प्रकट करता है, जो मानवीय सर्जनों में हम नहीं पाते, जिनमें भाव्य का बोध आकार या प्रत्यय के साक्षात्कारी चित्त में होता है, निरूपक वस्तु में नहीं। उदाहरणतः घटों को देखकर हम उन्हें न्यूनाधिक उपयुक्त कहते हैं, किन्तु घट अपने भाव (भवता) में स्थिर होता है, जबकि प्रत्येक पौधे और प्रत्येक देह में अपर्याप्तता के निवारण का प्रयत्न, अपने भाव्य स्वरूप की सिद्धि के लिए उदग्रता और इस प्रकार अपर्याप्तता का बोध: वह बोध चाहे आत्म-अचेतन ही क्यों नहीं हो: दृष्टिगत होता है।

मानवीय कृतियों में आकारों का निरूपण मानव-चित्त में उनके साक्षात्कार-पूर्वक होता है जिस कारण हम मनुष्य को उन कृतियों का कर्त्ता, सर्जक या कलाकार कहते हैं। यह कर्म कर्त्तृत्वाभिमानपूर्वक होता है। जैव प्रकृति में हम इनकी अनुरूपता इनसे अत्यधिक जटिल और कुशल रूप में निष्पादित देखते हैं। इसी आधार पर बहुत से लोग प्रकृति अथवा ईश्वर में प्राकृतिक वस्तुओं का कर्त्तृत्व देखते हैं। न्याय ने ईश्वर का अस्तित्व इसी आधार पर स्वीकार किया है। और कांट यह स्वीकार नहीं कर पाने के कारण इसे आत्मोन्मुख अध्यवसाय (रीफ्लेक्टिव जज्मेंट) का बाह्यारोप मानता है।[8] द्रष्टव्य है कि कांट "प्रकृति ऐसा करती है" प्रकार के वाक्यों का प्रयोग करता है, किन्तु ये प्रयोग वास्तव में उत्प्रेक्षात्मक (मानो ऐसा है) या लाक्षणिक

8. क्रीटीक् आफ जज्मेंट, पृ० 20, अनुच्छेद 61 (पृ० 205-207) भी द्रष्टव्य।

हैं, अभिधात्मक नहीं। किन्तु कांट का यह ऊर्ध्वमूल सिद्धान्त उसके इस मौलिक सन्देहवाद के कारण है कि क्योंकि हम प्राकृतिक आकृतियों का कर्त्तृत्व अपने आनुभविक ज्ञान की प्रागनुभविक वर्गणाओं (अ-प्रायराई-केटेगरीज-आफ अंडरस्टैंडिंग) में नहीं देख सकते इसलिए यह कर्त्तृत्व प्रकृतिमूलक नहीं होकर हमारी विषयिनिष्ठ अपेक्षामूलक है। इसे दिङ्नाग की पदावली में कहें तो—यह अनादि वासनामूलक नहीं होकर व्यवस्थापनात्मक मानवीय विचारमूलक है। यहां हम कांट की विषयनिष्ठता-विषयिनिष्ठता की विचित्र अवधारणाओं का सन्दर्भ छोड़ कर इस प्रश्न पर विचार करना चाहेंगे कि क्या प्रयोजनात्मक प्रतीत होने वाली प्राकृतिक सावयव वस्तुओं को कर्त्तृत्वाभिमान के बिना भी वस्तुगत सृजनों या प्रत्यय-निरूपणों के रूप में समझा जा सकता है ?

इस दृष्टि से जैव प्रकृति भौतिक प्रकृति से मौलिक रूप से भिन्न है। यह एक ओर कृति के सब लक्षण प्रकट करती है और दूसरी ओर चैतन्य की चित्त के रूप में जागतिक प्रतिष्ठा की माध्यम बनती है। वास्तव में कृति चित्त की अभिव्यक्ति का एक माध्यम होती है जैसे घर, चित्र और काव्य, और चित्त अनभिव्यक्त चैतन्य का अभिव्यक्त रूप है। अब, दर्शनेन्द्रिय चित्त है और आंख उसकी देह, स्पर्शेन्द्रिय चित्त है और त्वक् उसकी देह, विचार या प्रत्यय चित्त है और मस्तिष्क उसकी देह। अब, ऐसा नहीं है कि देह चित्त के उपकरण के रूप में आविष्कृत यंत्र है, बल्कि ये दोनों चैतन्य की अभिव्यक्ति के, तत्-सत् के अस्तिव में आविर्भाव के, दो पक्ष हैं। इसे चित्त की अभिव्यक्ति के उदाहरण से समझने में सहायता मिलेगी—चित्र या काव्य चित्त की भौतिक माध्यम में अभिव्यक्तियां हैं, किन्तु इन्हें अभिव्यक्ति के उपकरण नहीं कहा जा सकता, ये चित्त के ही बाह्याभिव्यक्त रूप हैं। अवश्य वर्ण और रेखाएं भौतिक हैं, इसीसे चित्र का एक भौतिक पक्ष भी है, किन्तु यह भौतिकता चित्र में रूपान्तरित हो जाती है : चित्र चित्त का बाह्याकार बनता है, जिस प्रकार चित्र की कल्पना उसका आन्तर आकार है। वास्तव में जैव-देह :आंख, कान और मस्तिष्क आदि: ज्ञान के माध्यम के रूप में तो अंशत: अचैतसिक उपकरणता का भ्रम उत्पन्न करती भी है किन्तु वेदना और प्राण उसमें इस प्रकार अन्तर्गत हैं कि इनमें एक को दूसरे से केवल कल्पना में ही विलगाया जा सकता है। देह शैशव से मृत्यु तक प्राण का व्यापार है और प्रतिक्रिया तथा वृद्धि इसके लक्षण हैं। कहा जा सकता है कि हम निष्प्राण देह की बात करते हैं। किन्तु देह के मूल धर्म व्यष्टिता, वेदना-क्षमता, और वृद्धि या निष्पन्नता उसमें नहीं होते। देह बीज में स्फुटन के आरम्भ से मृत्यु-पर्यन्त एक ही अन्त:शासित क्रम है।[9]

9. यह द्रष्टव्य है कि यह व्यष्टित्व जैव सृष्टि में भी सहजसिद्ध स्थिति नहीं है, बल्कि एक साध्य आदर्श है। इसी से यह केंचुए और थोर (कैक्टस) में अत्यधिक न्यून और मनुष्य में अधिकतम होता है।

किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में जैव जगत् की दूसरी विशेषता विचारणीय है, और वह है इसकी वस्तुता का स्वरूप। भौतिक जगत् जबकि एक तार्किक नियम की अद्भुत् प्रांजलता और सौष्ठव प्रकट करता है, प्राणि-जगत् में सृजन की अदम्य-अपार वासना और कलात्मकता प्रकट होती है। प्राणि-जगत् की विशिष्टता इसकी वस्तुओं में व्यष्टिता, जातिता और प्रत्यय के क्रियान्वयन की अभीप्सा और प्रयत्न है। भौतिक जगत् में जो विशिष्टता ऐन्द्रिक विषयता के रूप में और जो सामान्यता अध्यवसेय के रूप में सरल और अमिश्रित शुद्धता में मिलती हैं वे दोनों यहां क्रमश: जटिल कल्पना से उपलक्षित विशिष्ट कृति (देह) और उस कृति के आदर्श आकार (जाति) के क्रियान्वयन के न्यूनाधिक सफल प्रयत्नों के रूप में उपलब्ध होती हैं। वास्तव में भौतिक जगत् में विशिष्टता बाह्यारोप मात्र है, वहां केवल सामान्य नियम ही लक्षित होता है, किन्तु प्राणि-जगत् में विशिष्टता वास्तविक और सामान्यता विशिष्टता के माध्यम से क्रियान्वित होती है। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि यहां प्रत्यय का रूप तार्किक नहीं होकर कलात्मक होता है और परिणामत: वह विशिष्ट कृतियों के रूप में व्यक्त होता है, जो कृतियां अपनी सम्यक्ता के प्रमाणीकरण के लिए जाति-रूप में अपने मूल प्रत्यय को लक्षित करती हैं। मानव-कृत कलाकृतियों से इनका भेद यह है कि मानव-कृत कलाकृतियां व्यक्ति-मूलक कल्पना और प्रत्यय की अभिव्यक्तियां होती हैं जबकि प्राणि-जगत् अवैव्यक्तिक-अतिक्रामी चित्त का व्यापार है। इतना ही नहीं, स्वयं प्राणि-क्रिया और प्राणि-सर्जन भी अतिक्रामी चित्त के ही व्यापार हैं, ये केवल आत्मचेतन मनुष्य में वैयक्तिक चित्त के स्तर के व्यापार बनते हैं।[10]

अनात्मचेतन प्राणियों की क्रियाओं का मूल व्यक्ति-चेतना में नहीं हो कर जाति-चेतना में होने से उनकी कृतियों को शिल्प या कला नहीं कहकर सहज प्रवृत्ति (इंस्टिंक्ट) कहा जाता है। पक्षी बिना सीखे घोंसला बनाते और सही दिशा में प्रवास-यात्राएं करते हैं; चींटियां, दीमक और मधुमक्खियां घर और व्यवस्थित समूह बनाती हैं, आदि-आदि। इस सबमें कलात्मक-प्रयोजनात्मक प्रत्ययों का क्रियान्वयन दृष्टिगोचर होता है, जो क्रियान्वयन व्यक्ति-चेतनामूलक नहीं होकर जाति-चेतनामूलक होता है। इस प्रत्यय को कलात्मक कहने का तात्पर्य यह है कि यह मूर्त सर्जनों में प्रतिफलित होता है। परिणामत: इसमें इन्द्रिय-विषयता उपचारात्मक (आरोणात्मक) नहीं होकर स्वरूप होती है, यद्यपि यह विषयता भौतिक नहीं होकर व्यक्त विषयिता-रूप होती है। 'व्यक्त विषयिता' से हमारा तात्पर्य है, जिसमें चेतना अपने को अभिव्यक्त करने के लिए किसी इन्द्रियगम्य आकृति या संस्थान को उत्कीर्ण करती है। यह आकृति या संस्थान इन्द्रियगम्य होने

10. इस पर 'मनुष्य और जगत्' में अध्याय 'जगचैतन्य' भी द्रष्टव्य है।

पर भी भौतिक नहीं होता है, यह इन्द्रियगम्य चित्त ही होता है। किन्तु यहां यह स्मरणीय है कि यह विषयिता ज्ञातृत्व या कर्त्तृत्व के अभिमान-सहित, अस्मिता-बोध-पूर्वक, नहीं होती, जैसी मनुष्य में होती है, यह इसी रूप में विषयिता कही जा सकती है कि यह बाह्यात्मक नहीं होकर अन्तरार्थ-मूलक होती है। यद्यपि प्राणी बाह्योन्मुख प्रवृत्ति को ही प्रदर्शित करता है किन्तु यह प्रवृत्ति स्वयं बाह्यात्मक नहीं होती, बाह्यता की ओर होती है। यहां प्राणि-चित्त की क्रिया देह, उसके व्यवहार और उससे निष्पन्न बाह्याकृति, जैसे घोंसला, तक अपने को निष्पादित करती है। जैसाकि हमने पीछे कहा, केवल भौतिक ही शुद्ध रूप से बाह्यात्मक प्रत्यय है, देह भी पूर्णतः बाह्यात्मक नहीं है, वह देहात्म के रूप में बाह्योन्मुख आत्म :अस्मिता: का एक अधिष्ठान और चित्त के बाह्योन्मुख क्रियान्वयन का एक रूप है।

मनुष्य में चैतन्य मौलिक रूप से एक दूसरा स्तर प्राप्त करता है, यद्यपि बहुत से स्तनपायी पशुओं में इसके आरम्भ के चिह्न मिलते हैं। यह स्तर-भेद अहं और पर के अध्यवसायात्मक ग्रहण का है। ये दोनों विषय (अहं और पर) अर्थ (आशय) के वैभव में अपार समृद्धि से पूर्ण हैं और इस प्रकार चैतन्य के आत्म-क्रियान्वयन के इतिहास में यह एक उतना ही क्रांतिकारी अध्याय है जितना भौतिक के बाद प्राणिक जगत् के आविर्भाव का था। चित्त में अस्मिता के आविर्भाव के साथ क्रिया के अधिष्ठातृत्व का आविर्भाव होता है, जो चैतन्य में, या सत्ता में एक सर्वथा नवीन अवस्था और दिशा है। यहां केवल देह ही व्यष्टीकृत नहीं होती, चित्त भी होता है, जिसका आधार चित्त का विषय के साथ तादात्म्य समाप्त होना है। इस अस्मिता को कभी-कभी अहंकार समझ लिया जाता है, जो यह वास्तव में नहीं है। अहंकार अतिक्रामी (दैहिक और चैतसिक अस्तित्व का निर्धारक) है, यह दैहिक और चैतसिक सभी रूपों में विभक्ति या सीमा के आविर्भाव का कारण होता है। इस प्रकार गाय-व्यष्टि और उसके ग्रहण दोनों अहंकारमूलक हैं। उसी प्रकार मनुष्य और उसके ग्रहण भी हैं। किन्तु मनुष्य का अस्मिता-बोध चित्त में अहंकारातिक्रमण के प्रयत्न का, और चैतन्यमूलक निरवच्छिन्न स्वरूप की पुनराप्ति का, आरम्भ है। अनात्मचेतन चित्त का विषय प्रायः पूर्ण रूप से विशिष्ट होता है, क्योंकि वह मात्र आवेगाधीन और ऐन्द्रिक होता है। विषयिता की ये दोनों अवस्थाएं देश और काल दोनों में केवल प्रस्तुत तक ही सीमित रहती हैं। इसमें प्रस्तुत का अतिक्रमण केवल उसी स्तर के संस्कारों के द्वारा होता है। उदाहरण के लिए गाय मनुष्य के हाथ में डंडा देखकर उसकी भयावहता को पहचानती है, जो उसमें दर्शनेन्द्रियगम्य प्रस्तुत के अतिक्रमण का द्योतक है। ये संस्कार जातिमूलक भी हो सकते हैं: कृमियों में ये पूर्णतः जातिमूलक ही होते हैं: किन्तु क्रिया और प्रतिक्रिया का केन्द्र व्यष्टि ही होता है, उनमें यही आहंकारिकता है। मनुष्य में यह आहंकारिकता व्यक्ति-देह,

व्यक्ति-संस्कार, व्यक्ति-ग्रहण, व्यक्ति-अवधारणा और व्यक्ति-उपकारक मूल्य (स्वार्थ) सब स्तरों पर, जो कि मानव-चेतना में हैं, उपलब्ध होती है। किन्तु इसके साथ ही मनुष्य में इसके अतिक्रमण की सामर्थ्य भी दृष्टिगत होती है। मनुष्य में साधारण ऐन्द्रिक विषय-ग्रहण तक में अहंकार और उसका अतिक्रमण देखा जा सकता है। विषय की अवच्छिन्नता जबकि ग्राहक की अवच्छिन्नता और इस प्रकार आहंकारिकता की द्योतक है, उसकी विषयनिष्ठता : सब दर्शकों के लिए समान विषयता : ग्राहक में अहंकार के अतिक्रमण की द्योतक है। यह अतिक्रमण विचार-विषय में और अधिक स्पष्ट होता है। अहंकार चैतसिक अवच्छिन्नता का नियामक तत्त्व (प्रिंसीपल) है और इस प्रकार यह देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण और बुद्धि सब स्तरों पर व्यष्टिता का निर्धारक (डिटर्मिनेंट) होता है। किन्तु चित्त में प्रत्यङ्मुखता के आविर्भाव के साथ विचार के स्तर पर इसका अतिक्रमण हो जाता है।

यहां यह द्रष्टव्य है कि घट या चित्र व्यष्टि होने पर भी अहंकार-मूलक नहीं हैं, क्योंकि ये आत्मचेतन प्रत्यय के सर्जन हैं। इसी प्रकार जैव देह भी प्रत्यय के निरूपण के पक्ष से आहंकारिक नहीं है, किन्तु दैहिक चित्त के रूप में, अर्थात् उस चित्त के रूप में जो देह की उपाधि से उपहित है, यह आहंकारिक निर्धारण ही है। इस प्रकार गोत्व के निरूपक के रूप में गो-देह प्रत्यय का अवतरण है जबकि व्यष्टि गाय के रूप में यह अहंकार से अवच्छिन्न चित्त है।

चित्त जागतिकता का तीसरा आयाम है जिसका अवांतरतः कुछ निरूपण प्राणिक के साथ ऊपर हो चुका है। चित्त भौतिक और प्राणिक के समान प्रत्यय नहीं होकर चैतन्य का जागतिक अस्तित्व है। चैतन्य अपना अस्तित्व वेद में प्राप्त करता है और अपने को विदित होता है। वेदना का माध्यम देह बनती है, वेदना को देह का गुण भी कह सकते हैं, किन्तु चैतन्य का यह उपजीव्य है : इसके रूप में, अथवा इसकी उपाधि में, चैतन्य अस्तित्व धारण करता है। इच्छा, कर्म, ज्ञान और विमर्श अन्य उपाधियां हैं जो चैतन्य के अस्तित्व-धारण पर उसे आकार देती हैं। ये अस्तित्वात्मक उपाधियां मूलतः चैतन्य के जागतिक आविर्भाव के उपभोग की माध्यम बनती हैं। इस प्रकार भौतिक जगत् ज्ञानेन्द्रियोपभोग्य रूप-रसादि गुणों के रूप में और प्राणि-जगत् राग-द्वेषादि के विषयों के रूप में प्रस्तुत होता है, ज्ञान इन उपभोगों का उपकारक बनता है। किन्तु चित्त की यह अवस्था या स्तर भौतिक और प्राणिक से अवियोज्य होता है और इस पर वह अपने विषय में आपादमस्तक निमग्न रहता है। यह अपनी स्वायत्तता और परिणामतः उपभोग के तात्पर्य या अर्थ की विपुलता केवल तभी सिद्ध कर पाता है जब यह स्वयं अपने जगद्भाव को, अपनी उपभोग-स्वरूपता को, विषय बनाता है। अपने अर्थ-वैभव की सिद्धि या अवगमन चित्त का विमर्शात्मक व्यापार है जो केवल विषय-विमुक्त,

अथवा कहें आत्मचेतन चित्त में ही संभव है। विमर्श चित्त की अनुद्भिन्न या विषय-विमूढ़ावस्था में निमीलित अर्थों का उन्मीलन है। कला, शिल्प और विज्ञान आदि इसके विभिन्न रूप हैं। कला, शिल्प आदि को चित्त का आत्मविमर्श कहना प्रथमतः अटपटा लग सकता है, किन्तु थोड़ा गहराई से देखने पर इसका औचित्य स्पष्ट हो जायगा। उदाहरण के लिए पाकशास्त्र को ही लें। यह अपनी रस-नोपाधि से उत्क्रमित चित्त द्वारा इस उपाधि में अव्यक्त रूप में निहित अर्थ का विमर्श है, इसी प्रकार संगीत है, जो शब्द (ध्वनि) गत अर्थों का विमर्श है।[11] इसी प्रकार विज्ञान भौतिक विषयानुभव एवं और शिल्प उपयोगी कर्म-मूलक अनुभव का विमर्श है। उदाहरण के लिए घोंसला-निर्माण और गृह-निर्माण को लें। इनमें प्रथम में पक्षी-चेतना ऋतु, प्रसव और शिशुपालन आदि परिस्थितियों से तदाकार रहती है और निर्माण-कार्य परिस्थिति-जनित वासना से नियुक्त यन्त्र-क्रिया जैसा होता है। आप अंडे नष्ट कर दें और घोंसला हटा दें, किन्तु पक्षी का घोंसला-निर्माण-कार्य ऋतु-पर्यन्त चलता रहता है। ऐसा नहीं है कि पशु-पक्षियों में नयी परिस्थिति के लिए उपयुक्त नयी प्रतिक्रिया नहीं होती, और न यही है कि मनुष्य में विषय-निबद्धता नहीं रहती। वास्तव में पशु और मानव में एक तारतम्य भी है। किन्तु हम पशु और मनुष्य में भेद की बात वैसी नहीं कर रहे हैं, हम विषया-वच्छिन्न और विषयानवच्छिन्न चेतनाओं की बात कर रहे हैं, जो क्रमशः पशु और मनुष्य में प्रमुखतः लक्षित होती हैं।

वास्तव में उस अर्थ में मानवीय चेतना भी मुख्यतः विषयोन्मुख ही है जिस अर्थ में फिनामिनलॉजी दार्शनिक चेतना को विषयोन्मुख कहते हैं, किन्तु अस्मि-तात्मक और अनस्मितात्मक चेतनाओं की विषयोन्मुखता में आधारभूत अन्तर होता है, अथवा कहें इनकी विषयता में आधारभूत अंतर होता है। परिणामतः यह आत्मचेतन चित्त भौतिक और प्राणिक के समकक्ष एक तीसरा आयाम बनाता है, अनात्मचेतन चित्त अधिकांशतः प्राणिक-दैहिक-ऐन्द्रिक आयाम के एक गुण के रूप में ही रहता है।

जैसा कि हमने पीछे देखा, आत्मचेतन चित्त एक ओर विषय को स्वायत्त बनाता है, दूसरी ओर अपने को। उदाहरणतः इन्द्रिय-विषय भौतिक वस्तुता का स्तर केवल इन्द्रिय-ग्रहण का अतिक्रमण होने पर ही पाता है, और ऐन्द्रिकता का जितना ही अपवारण हम कर पाते हैं विषय की स्वायत्तता उसी सीमा तक स्थापित हो पाती है। भौतिक विज्ञान इसी स्वायत्तता की अधिकाधिक सिद्धि का प्रयत्न है। (प्राणिविज्ञान और मनोविज्ञान इस दृष्टि से भ्रान्त हैं, क्योंकि ये प्राणिक और मानसिक की स्वायत्तता इन्हें भौतिक में घटाकर सिद्ध करना चाहते हैं)

11. द्रष्टव्य : मनुष्य और जगत् में 'प्रत्यङ्मुख चैतन्य: दर्शन का आरम्भ बिंदु' अध्याय 1.

विषय को इस प्रकार स्वायत्त बनाकर ही चित्त अपनी स्वायत्तता स्थापित करता है। यहां यह स्मरणीय है कि यह चित्त जगत् का अतिक्रमण नहीं करता, यह उसमें अपने को स्वायत्त रूप में प्रतिष्ठित करता है। उदाहरण के लिए, इस चित्त के लिए काम-वासना 'स्वतोद्भूत क्रिया के व्यय होने तक की उद्विग्नता मात्र' नहीं है, अब यह स्वयं चित्त द्वारा अपने स्वाराज्य में लौटकर अपने अर्थों का प्रत्यक्षीकरण है जिससे प्रेम की जटिल मनोव्यवस्था जन्म लेती है, और यह व्यवस्था विमृश्य बनकर काव्य, संगीत आदि में अपने अर्थ-वैभव का साक्षात्कार करती है। यह अर्थ-वैभव जगत् में एक अतिजगत् का आविर्भाव तथा मूल जगत् का अतिरेकीकरण-उत्तानीकरण है। यही बात विज्ञान के लिए भी है, सिद्धांत-पक्ष में यह ऐन्द्रिक अनुभवगत युक्ति का सन्धान और यन्त्र-पक्ष में उपयोगात्मक अनुभव का विमर्श हैं।

आत्मचेतन चित्त की, जगत् के अन्य दो आयामों से मूलत: भिन्न, एक अद्भुत् विशेषता चैतसिक व्यष्टिता का आविर्भाव है जिसे प्राणिक व्यष्टिता से भिन्न, व्यक्तित्व कहा जाता है। प्राणिक व्यष्टिता देह-मूलक है और यह अपनी संरचना में तथा वेदना, आवेग और क्रिया की व्यष्टिमूलकता या पार्थक्य में व्यक्त होती है। किन्तु चैतसिक व्यष्टिता आत्म के इतर से चैतसिक पार्थक्य-बोध में व्यक्त होती है। यह चैतसिक पार्थक्य-बोध देह के समान चैतसिक विशिष्टता : अनुभूति, विचार, संकल्प, स्मृति और अपेक्षाओं की विशिष्टता : में प्रतिफलित होता है। चित्त के आत्म-चेतन होने से यह पार्थक्य या वैशिष्ट्य भी देह से भिन्न आत्मचेतन होता है, किन्तु इसका आविर्भाव या सर्जन आत्मचेतन व्यापार का फल नहीं कहा जा सकता, यह अतिक्रामी ही हो सकता है : व्यक्ति के रूप में मैं अपने चित्त का अधिष्ठाता हो सकता हूं, किन्तु स्वयं अपने अधिष्ठातृत्व के आविर्भाव का कारण नहीं हो सकता।

इस प्रकार प्राणिक व्यष्टि-जाति के समान चैत्त व्यक्ति-जाति का आविर्भाव भी चैत्त नहीं होकर आद्य चैतन्य में आविर्भाव है। यहां पुन: अस्तित्व की दृष्टि से जाति के व्यक्तिमूलक होने से आत्मचेतन चित्त चैतन्य में कलात्मक प्रत्यय की ही अभिव्यक्ति है। आत्मचेतन चित्त की वैयक्तिकता के दो आधार हैं, प्राणिक या जैव और चैतसिक। प्राणिक आधार चैतन्य को अस्तित्व देता है और चैतसिक आधार उसे इस अस्तित्व पर अधिष्ठातृत्व देता है। किन्तु आत्मचेतना : प्रत्यङ्-मुख चेतना : में चित्त की एकसाथ दो वृत्तियां प्रकट होती हैं : चैतसिक का अधिष्ठातृत्व, और इस अधिष्ठातृत्व की निर्धारितता (कंडीश्नैलिटी) तथा अपारमार्थिकता का बोध। अपनी निर्धारितता का यह बोध अधिष्ठातृत्व अथवा आत्म के लिए एक ओर अधिष्ठाताओं के समाज के एक सदस्य के रूप में अपनी व्यक्तिगत सीमाओं के अतिक्रमण का प्रसंग सुलभ करता है और दूसरी ओर

अनिर्धार्य तत्त्व में अपने स्वरूप का संकेत पाता है।

पिछले अध्याय में हमने अपर्याप्तता-बोध की चर्चा की थी। उसका आधार यह स्वरूप-बोध ही है। यह बोध जहां एक ओर निर्धारणों से परे सत्ता का संकेत करता है, वहां निर्धारणों की विद्यमानता के सम्बन्ध में एक अत्यन्त विषम समस्या भी प्रस्तुत करता है जिसका विचार यहां प्रासंगिक है। वस्तु-जगत् स्वरूपत: निर्धारणात्मक है : निर्धारण उसके अस्तित्व का आधार है। आत्मचेतन-चित्त इस अस्तित्व की, और इसमें अपने अस्तित्व की, निर्धारणात्मकता को देखता है और इस द्रष्टृत्व में अनिर्धार्य का आभास पाता है, किन्तु वह इन निर्धारणों का अस्तित्व में अतिक्रमण नहीं कर सकता : मैं इस देश-काल बिन्दु पर हूं, किन्तु जबकि यह मेरे लिए अनिवार्य नहीं था कि मैं इस बिन्दु पर होता अस्तित्वत: मैं इस बिन्दु पर ही हूं, और अन्यत्र कहीं नहीं हो सकता। यद्यपि मैं अन्यन्त्र कहीं भी हो सकता था, किन्तु सर्वत्र नहीं हो सकता था, जबकि किसी भी बिन्दु पर होने की आगन्तुकता और किसी भी बिन्दु पर हुए होने की शक्यता मेरे स्वरूप की बिन्दु-रहित निरपेक्षता की द्योतक है। किन्तु बिन्दु-रहित निरपेक्षता उस सम्पूर्ण विपुलता के लय की, उस अस्तित्व के निरसन की, स्थिति है जो जगत् में है और जो मैं हूं। इसका कुछ समाधान आत्मचेतन ज्ञान और कर्म में होता है, क्योंकि इन दोनों में अस्तित्व का, उसके निरास के बिना, अतिक्रमण होता है। अतिक्रामी ज्ञान में अस्तित्व की उपाधियों के सहित उनका अतिक्रमण होता है। यद्यपि इस ज्ञान में अस्तित्व ज्यों का त्यों बना भी रहता है : मैं जानता हूं कि इस दीवार का दूसरा पक्ष भी है और भीतरी भाग भी है, किन्तु मैं उन्हें तब तक नहीं देख सकता जब तक प्रस्तुत पक्ष को देखना नहीं छोड़ता। इसी प्रकार विचार में मैं किसी प्रतिज्ञप्ति को और उसकी निषेधक प्रतिज्ञप्ति को जानता हूं, किन्तु मैं दोनों की सत्यता एक-साथ ग्रहण नहीं कर सकता। अवश्य मैं व्यापकतर प्रतिज्ञप्ति प्राप्त कर सकता हूं और उसमें इन दो विरोधी प्रतिज्ञप्तियों का विरोध समाप्त कर सकता हूं, किन्तु तब यह प्रतिज्ञप्ति अन्य अनेक विरोधी प्रतिज्ञप्तियों से बाधित हो जाती है। विरोधरहित प्रतिज्ञप्ति विचार के लिए अग्राह्य है, अथवा कहें, ऐसी प्रतिज्ञप्ति असंभव है, यह केवल प्रतिज्ञप्ति-राहित्य की स्थिति है और यह विचार का, और इस प्रकार बौद्धिक अस्तित्व का, अतिक्रमण है। यह अतिक्रमण निरपेक्षता देता है, किन्तु अस्तित्व में यह निरपेक्षता असम्भव है और परिणामत: खेद और अवसाद-जनक है।

कर्म इस स्थिति से विमुक्ति का प्रयत्न है। इसका मूल इच्छा में है जो अस्तित्वगत अभाव की अनुभूति है, और इस प्रकार कर्म अस्तित्वगत अभाव की पूर्ति का प्रयत्न है। उदाहरणत: मैं एक-साथ दो बिन्दुओं पर नहीं हो सकता, किन्तु मैं एक से अधिक बिन्दुओं पर आधिपत्य स्थापित कर सकता हूं : अर्थात् मैं देह से

एक-साथ दो बिन्दुओं पर नहीं होकर भी संकल्प और अधिकार से दो पर हो सकता हूं। किन्तु कर्म की मुख्य विशेषता एक दूसरे प्रकार के अतिक्रमण में है : मैं किसी भी बिन्दु पर हो सकता था, यद्यपि केवल एक पर ही हो सकता था, किन्तु किसी भी बिन्दु पर होने की संभावना तत्त्वतः होते हुए भी अस्तित्वत: मुझे उपलब्ध नहीं है, क्योंकि मैं जिस भी बिन्दु पर हूं या हो सकता था वह मेरा चयन नहीं है और न हो सकता है। सम्भावनाओं का यह क्षेत्र मेरे लिए तब तक पूर्णत: बन्द है जब तक मैं अस्तित्व पर अपना संकल्प स्थापित नहीं करता। कर्म यह स्थापना है, यह अस्तित्व की अनिवार्यता को भेद कर तात्त्विक सम्भावनाओं के व्योम में प्रतिष्ठित होना है। सम्भावनात्मकता का यह बोध जगत् को उपादान के रूप में रूपान्तरित कर देता है जिसमें चेतना अपने को कृति के माध्यम से सिद्ध करती है। अथवा कहें प्राकृतिक जगत् : कार्यप्रकृति : अब पुन: कारण-प्रकृति में रूपान्तरित होकर नये और द्वितीय स्तरीय जगत् के आविर्भाव के लिए उपादान बनती है। यह जगत् अब स्वतन्त्र चैतन्य की कृति या सृष्टि बनता है। सृजन की उपयुक्त परिभाषा है : "आत्मसाक्षात्कारी विषयिभाव का विषय में आत्मनिरूपण अथवा आत्म-क्रियान्वयन।" इस अर्थ में केवल कर्म-कृत जगत् ही सृजन या सृष्टि है, अकर्मोत्पन्न वस्तुएं नहीं। किन्तु तब वस्तुजगत् सृष्टि है या नहीं ? इस प्रश्न के सम्मुख हम पुन: प्रस्तुत हैं।

इस प्रश्न का उत्तर बहुत समस्यात्मक है : यदि हम जगत् को कर्मकृत कहते हैं तब कर्तृत्व की अपेक्षा होती है और कर्त्तृत्व सीमित चेतना को पूर्वापेक्षित करता है, अर्थात् केवल सीमित चेतना ही कर्म में प्रवृत्त हो सकती है। यह इसलिए नहीं कि कर्म इच्छा को और इच्छा अभाव को और पूर्तिकर भावी स्थिति की कल्पना को आपादित करती है, क्योंकि सब कर्म अभावमूलक नहीं होता: आत्मसर्जनात्मक कर्म भावमूलक ही होता है, वह अव्यक्त की व्यक्त होने की कामना-मूलक होता है। यह कामना भी अभावमूलक नहीं होती, यह भावमूलक ही होती है, क्योंकि अव्यक्तता की स्थिति अभाव की स्थिति नहीं है, न व्यक्त में अव्यक्त से अधिक भाव (सत्त्व) ही होता है, व्यक्त केवल भाव की क्रियात्मकता है। व्यक्त भाव को अव्यक्त भाव की प्रसन्नता, स्फुटता या विकास कह सकते हैं। इस अर्थ में चाहें तो इसे सत्त्व की अधिकता भी कह सकते हैं। इसमें 'कामना' शब्द का प्रयोग एक प्रकार से रूपकात्मक प्रयोग मात्र है। यह इसलिए है क्योंकि कर्त्तृत्व आत्मचेतन कर्त्ता को पूर्वापेक्षित करता है और आत्म इतर को, यह इतर चाहे विषयकृत आत्म ही क्यों न हो। यह अनिवार्य अवच्छिन्नता की स्थिति है, जो ईश्वर में कल्पनीय नहीं है। यदि इस पर कहा जाता है कि सृजन में व्यक्त होने के लिए अव्यक्त चैतन्य का इतरव्यावृत्त आत्म से अवच्छिन्न होना आवश्यक नहीं है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि स्वयं सृष्टि भी स्रष्टा से इतर होती है; यदि सृष्टि

तत्त्वत: असत् भी हो तो भी उसकी प्रतीति इतरत्व के प्रत्यय की विद्यमानता के बिना नहीं हो सकती। इस प्रसंग में वेदान्त का समाधान उल्लेखनीय है। वेदान्त के अनुसार जगत्-स्रष्टा ईश्वर माया से उपहित ब्रह्म है। जिसका अर्थ है कि अद्वय चैतन्य सृजन में आत्म-व्यवहित हो जाता है, वह अद्वय-अव्यवहितत्व नहीं रहता। **माया के मिथ्यात्व का यही अर्थ है : चैतन्य का अपने में अपने से व्यवहित होना**। तैत्तिरीय उपनिषद् के मंत्र : "पहले केवल असत् ही था, उससे सत् उत्पन्न हुआ। उस सत् ने अपने को स्वयं जगद्रूप में रचा,"[12] का भी यही आशय है, यद्यपि इसमें इतरत्व की या आत्मव्यवधान की बात स्पष्टत: नहीं कही गई है। किन्तु इसका तीसरा पद (तदात्मानं स्वयमकुरुत) इस प्रसंग में महत्त्वपूर्ण है : सृष्टि के लिए असत् (अव्यक्त) का सत् होना (व्यक्त भाव को धारण करना) ही पर्याप्त नहीं है, उसका आत्मत्व और इसके बोध (स्वायत्तता) से अवच्छिन्न होना भी आवश्यक है।

वास्तव में जगत्स्रष्टा में इस अवच्छिन्नता की विद्यमानता अयुक्तियुक्त नहीं है यदि उसका यह सर्जकत्व व्यवहित आत्मचैतन्य में प्रतिष्ठित हो, क्योंकि अन्तत: जगत् में इतर सत्ता से व्यावृत्त आत्मचेतना (मानव-व्यक्ति) और इतर सत्ता से व्यावृत्त अनात्मचेतना (पशु) दोनों तो हैं ही, पुन: संस्कृतियों के रूप में विराट्तर व्यक्तित्व भी जगत् में विद्यमान हैं, ऐसी अवस्था में विराट्तम आत्मचेतना (ईश्वर) का अस्तित्व अकल्पनीय नहीं है। किन्तु यदि ईश्वर को ही आद्य सत् माना जाय तब यह अकल्पनीय है कि वह आत्मचेतन और सर्जक हो, क्योंकि तब आद्य सत् ही इतरव्यावृत्त और इस प्रकार ससीम हो जाएगा। ईश्वर के स्रष्टा होने से एक दूसरी कठिनाई प्रकृति के स्थान की है : क्या मूल प्रकृति भी ईश्वरीय सृष्टि है या कि स्वतन्त्र है? अधिकांश ईश्वरवाद इसे और जीव को ईश्वर से स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं, दूसरे इसे उससे सृष्ट और उसके अधीन मानते हुए भी आविर्भाव के बाद अस्तित्वत: उससे अलग मानते हैं। इनमें पहला मत विचारणीय नहीं है, क्योंकि यह ग्राम्य है, जहां तक दूसरे मत का प्रश्न है, यह वदतोव्याघातपूर्ण है, क्योंकि यह ईश्वर को असीम कहकर उसे व्यक्तित्व दे देता है जो सीमित में ही सम्भव है, क्योंकि व्यक्तित्व प्रत्यङ्मुख चैतन्य का व्यष्टिरूप में आत्मक्षेप है।

किंतु तब प्रश्न होगा कि व्यक्तित्व-रहित आद्य सत् में व्यक्तित्व का आविर्भाव कैसे सम्भव है? वास्तव में इसका उत्तर स्वयं हमारे अपने व्यक्तित्व के आविर्भाव के साक्षात्कार से मिल सकता है। मानव-व्यक्तित्व का आविर्भाव निरात्मक चेतना में आत्म के व्यक्ति-रूप में आत्मप्रतिष्ठापन से होता है, और व्यक्तिरूप में आत्म-प्रतिष्ठापन एक ऐसे मूर्त प्रत्यय की अस्मिता का आत्मप्रतिष्ठापन होता है जिसकी

12. असद्वा इदमग्र आसीत्, ततो वै सदजायत, तदात्मानं स्वयमकुरुत। (सप्तम अनुवाक)

सामान्यता व्यक्ति में अद्वितीयत: उदाहृत होती है। जैसे राम रामत्वधर्म से विशिष्ट व्यक्ति है। किन्तु यह धर्म घटत्व के समान अनेकत्र घटित नहीं हो सकता, क्योंकि यह आत्मचेतना द्वारा प्रत्यय का अपने में निरूपण और उसका आत्मसात्करण होता है।

इसे हमने अन्यत्र[13] ज्ञातृत्व और कर्त्तृत्व के अभिमान की संज्ञा दी है। कुछ लोग इस अभिमान या व्यक्ति-प्रत्यय को सामाजिक परिवेश से अर्जित कहना चाहेंगे। किन्तु तब विशिष्ट संस्कृति : सांस्कृतिक प्रत्यय : के आविर्भाव का बाह्य परिवेश क्या होगा? विशिष्ट संस्कृति संस्कृति-सामान्य की एक सम्भावना का क्रियान्वयन और प्रत्यय का आत्म-प्रतिष्ठापन होती है, और संस्कृति-सामान्य असंस्कृत (असत्-अव्यक्त) चैतन्य में संस्कार का बीज। यदि संस्कृति का उदाहरण रहस्यात्मक लगता हो तो भाषा का उदाहरण लिया जा सकता है: प्रत्येक भाषा भाषा-सामान्य (परावाक्) का विशिष्ट आविर्भाव है और भाषा-सामान्य मूल चेतना में भाषा-बीज का आविर्भाव। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति-प्रत्यय भी अवैयक्तिक-निरात्मक चेतना में अस्मितामूलक व्यक्ति-प्रत्यय का आविर्भाव है। अब हमारा व्यक्तित्व हमारे साथ सहज है, इसी प्रकार भाषा और संस्कृति भी, किन्तु हम इनके अव्यक्त-असत् मूल से आविर्भाव का प्रत्यक्ष भी कर सकते हैं। इन आविर्भावों को सृजन कहना उपयुक्त है, काव्य या चित्र के समान ही, क्योंकि काव्य या चित्र भी अव्यक्त भाव में प्रत्यय का आविर्भाव और अनुक्रमश: इस प्रत्यय का अद्वितीय क्रियान्वयन होता है। चित्र में चित्रकार द्वारा प्रयुक्त तूलिका और स्याही को उपकरण और इस प्रकार इतर के रूप में देखना उपयुक्त नहीं है, बल्कि इन्हें चित्र-कल्पना के ही क्रियान्वयन: चरितार्थन: के अवयवों के रूप में देखना उपयुक्त है। यह बात काव्य में स्पष्ट है जिसमें मूल्याकांक्षी अमूर्त प्रत्यय अपने को चरितार्थ करता है। कवि यहां काव्य-प्रत्यय से अभिन्न नहीं होता, न भिन्न ही होता है। वह उससे भिन्न इसलिए होता है क्योंकि वह उससे अधिक होता है, और अभिन्न इसलिए होता है क्योंकि प्रत्यय उसका ही अंश होता है। इसी प्रकार ईश्वर को भी जगत् से भिन्न और अभिन्न नहीं कहा जा सकता। वह भिन्न होता है, क्योंकि जगत् कृति होने से अन्य सम्भव कृतियों में से एक होता है और ईश्वर उन सब सम्भावनाओं का अकृत प्रत्यय के रूप में, और उससे परे प्रत्यय के बीज के रूप में, और उससे परे अव्यक्त के रूप में, अतिक्रमण करता है। किन्तु जगत् उससे भिन्न भी नहीं होता : यह उसकी ही अभिव्यक्ति होता है।

अब, इस अभिव्यक्ति या कृति को कर्त्तृत्वाभिमानमूलक कहा जा सकता है या नहीं, यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। जैसाकि हमने ऊपर देखा, 'भौतिक' नितान्त

13. द्रष्टव्य : यशदेव शल्य : ज्ञान और सत् में अन्तिम अध्याय।

सामान्यात्मक और स्वरूपतः अमूर्त प्रत्यय है, इसलिए इसे जगत् और सृष्टि नहीं कहा जा सकता, और परिणामतः 'भौतिक सृष्टि' यह पद किसी पदार्थ का वाचक नहीं रहता। भौतिक में मूर्तता और इस प्रकार जागतिकता का आविर्भाव प्राणियों के आविर्भाव के साथ होता है और तब भौतिक इन्द्रिय-ग्राह्य विषय के रूप में आविर्भूत होता है। यह भौतिक सृष्टि अनादि, अनन्त और रूप के अपार वैभव से पूर्ण है, क्योंकि यह ग्रहण से, उसकी कल्पना के सहित, प्राक् और पर है, किन्तु इस प्राक् और पर के रूप में यह या तो नितान्त सामान्य प्रत्यय में अन्तर्भाव्य है अथवा आद्य कामना में, जो इन्द्रियों और उनके ग्राह्य रूपों में व्यक्त होती है।

5

प्रकृति–तत्त्व

पिछले अध्याय में हमने देखा कि प्राकृतिक जगत् अवच्छिन्न और भाव्यात्मक : साध्योन्मुख : अस्तित्वों की समष्टि है। किन्तु अवच्छिन्नता ग्राहक और ग्राह्य, विषयी और विषय दोनों पक्षों में आत्यन्तिक रूप से संवेदनमूलक वस्तुओं का ही धर्म है। संवेदग्राह से मुक्त होने पर वस्तुएं अपनी अवच्छेदक भित्तियों से मुक्त हो जाती हैं। विषय-पक्ष में अवच्छेदों से मुक्ति की पराकाष्ठा प्रकृत्ति-तत्त्व के प्रत्यय में चरितार्थ होती है। अवश्य, जगत् भी अवच्छिन्न अस्तित्वों के समकक्ष अस्तित्व नहीं होकर इनकी सावयव व्यवस्था है और इस प्रकार असंवेदग्राह्य है, अवच्छिन्न वस्तुएं भी नितान्त अवच्छिन्न नहीं होकर अध्यवसाय के माध्यम से अपने को अपने बाहर व्यापक पाती हैं, किन्तु प्रकृति-तत्त्व इनसे मौलिक रूप से भिन्न है। प्रकृति-तत्त्व वस्तुओं की और जगत् की सत्ता, स्वभाव और तात्पर्य है, यह प्राकृतिक निर्धारणों का अनिर्धार्य आधार है। इस कारण इसका वस्तुओं के प्रकट रूप से कोई साम्य होना अपेक्षित नहीं है, बल्कि कहना चाहिए, इनमें कोई साम्य सम्भव ही नहीं है, क्योंकि जैसाकि हमने पीछे देखा, निर्धारित और अनिर्धार्य में कोई तारतम्य नहीं हो सकता।

किन्तु यदि हम प्रकृति-तत्त्व को नितान्त अनिर्धार्य कहें तो इसका अर्थ होगा कि यह इतर भी नहीं हो सकता, क्योंकि इतरता भी एक निर्धारण है। किन्तु इतरता का उच्छेद या उल्लंघन प्रकृति की सत्ता या स्वभाव का ही उल्लंघन करना है, क्योंकि 'प्रकृति' वास्तव में इतरता की अनपचेयता (इर्रिड्यूसेबिलिटी) और अनिवार्यता की स्वीकृति है, इतरता को अपचेय और केवल एक आगन्तुक उपाधि मानने पर प्रकृति भी एक आगन्तुक उपाधि मात्र रह जाती है।

जैसा कि हमने पिछले अध्याय में संकेत किया, इतर के समकक्ष प्रकृति की दूसरी अवधारणा अनात्म के रूप में की गई है। यह कुछ भारतीय दर्शनों की अवधारणा है, यद्यपि यह ग्रीक (प्लेटो) और ईसाई दर्शनों में, और अनन्तर कांट में भी देखी जा सकती है। 'अनात्म' के विपरीत 'इतरता' विषयात्मक तत्त्व है और वह सब विषय है जो आत्म का बाह्य व्यावर्त्तक या बाधक है। इसके विपरीत अनात्म मूल्यात्मक अनवधानजन्य आत्मविमुखता है। इसे आत्मपरक दोष या अपर्याप्तता भी कह सकते हैं। विषय का तत्त्व यदि अनपचेय है, अथवा इसी प्रकार, यदि दोष

या अपर्याप्तता आगन्तुक या औपचारिक (अध्यस्त) नहीं हैं, तो प्रकृति अनिवार्यतः एक स्वाधीन व्यवस्था हो जाती है। अन्यथा यह अनिर्धार्य चित्-तत्त्व में अपचेय है।

किन्तु यहां द्रष्टव्य है कि इतरता आत्म के व्यावर्तक के रूप में निर्धार्य होने पर भी विषय के तत्त्व के रूप में अनिर्धार्य ही रहती है, क्योंकि यह तत्त्व विषय के सब निर्धारणों का अतिक्रमण करता है। किन्तु तब यह केवल अनिर्धार्य चेतना द्वारा ही ग्राह्य हो सकती है, जो वदतोव्याघात है, क्योंकि अनिर्धार्य चेतना इतर-व्यावृत्त और इस प्रकार इतर-निर्धारित नहीं हो सकती। इस कारण इतरता वास्तव में आत्मा का आत्मनिर्धारण मात्र ही हो सकती है, स्वतन्त्र तत्त्व नहीं। किन्तु तब आत्म भी अनिर्धार्य नहीं हो सकता, यह अपने ही अन्तस्तल में निर्धारित हो जाता है। किन्तु यह वास्तविकता के स्पष्टतः विपरीत है, क्योंकि जैसाकि हमने प्रथम अध्याय में देखा, निर्धारण अनिर्धार्य की आश्रय के रूप में अनिवार्यतः अपेक्षा करते हैं, और निर्धारणों का यह अतिक्रमण या तो विषय पक्ष में हो सकता है : जिसका अर्थ है कि विषय आत्ममूलक, अथवा कहें आत्मपरक, एक निर्धारण है : अथवा दोनों पक्षों में हो सकता है : जिसका अर्थ है कि पुरुष और प्रकृति दो पूर्णतः स्वतन्त्र और निरपेक्ष तत्त्व हैं। किन्तु जैसाकि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, यह अतिक्रमण दोनों पक्षों में होने पर विषय-पक्ष का ग्राह्यता या इतरता से रहित होना आवश्यक है। दिङ्नाग की निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की अवधारणा में एक प्रकार से इसी उभयात्मक अनिर्धार्यता को साधने का प्रयत्न है। सांख्य का प्रयत्न समग्र-ग्राही और सूक्ष्म है, क्योंकि यह दिङ्नाग के समान प्राकृतिक जगत् को केवल इन्द्रिय-गोचरता तक ही सीमित नहीं करता, बल्कि उसमें अनुभव के सभी आयामों का आकलन करता है। तब उसका समाधान यह है कि आत्म स्वरूपतः अनिर्धार्य है, जबकि प्रकृति निर्धारणों का अनिर्धार्य आश्रय है। इसके अनुसार इतर आत्म के लिए प्रकृति नहीं होकर प्रकृति के लिए आत्म है, जिसकी इतरता का बोध प्रकृतिगत निर्धारणों के लय के रूप में प्रतिफलित होता है। दूसरे शब्दों में, आत्म इतरता के बोध का विषय तो है किन्तु आश्रय नहीं है, और इस प्रकार इतरता से व्यवहित भी नहीं है; इसके विपरीत प्रकृति इतरता की आश्रय होने से केवल प्राकृतिक निर्धारणों की अपेक्षा से अनिर्धार्य आधार है, अन्यथा वह अनिर्धार्य नहीं है, क्योंकि वह पुरुष की इतरता से निरन्तर और अनिवार्यतः व्यावृत्त है।[1]

यहां यह देखना उपयोगी होगा कि सांख्य को, वेदान्त से भिन्न, प्रकृति की

1. सांख्य की यह व्याख्या सांख्य की पदावली के अनुसार नहीं है, क्योंकि सांख्य पुरुष को आत्म और विषयी तथा प्रकृति को विषय कहता है। किन्तु उपर्युक्त पदावली उसके प्रतिपादन से असंगत नहीं है।

स्वतंत्र सत् के रूप में आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई? इसका कारण यह है कि इतरता का आश्रय इतर-वास्तविकता नहीं होने पर उसका आश्रय स्वयं आत्मा में हो जाएगा और परिणामतः आत्मा आन्तरतः इतर-व्यावृत्त हो जाएगा। जैसाकि हमने पीछे देखा, घट पट से भी व्यावृत्त है और स्वयं अपने स्वरूप से भी व्यवहित और अपर्याप्त है। ये दोनों इतरताएं हैं, एक प्रकटतः बाह्य है और दूसरी आंतरिक। घटादि में यह आंतरिक इतरता, इनके स्वरूप के अविपुल : क्षुद्र : होने से, उतनी मुखर नहीं होती जितनी मनुष्य में, जो कि अत्यधिक विपुल स्वरूप-प्रत्यय है और आत्मचेतन है। आत्मचेतन होने से इसकी स्वरूपगत पूर्णता और वास्तविक अपूर्णता में खाई आन्तरतः प्रकाशित : विदित : होती है। इसी से सांख्य और शंकर ने क्रमशः दुःख और युष्मद्-अस्मत् व्यामिश्र को विवेच्य : विवेक से निवार्य : बताया है। अब प्रश्न है कि वह अविद्या जो दुःख या युष्मदस्मत्-व्यामिश्र के रूप में प्रकट होती है, आत्मगत है या परगत? यदि आत्मगत है, तो आत्मा स्वरूपतः निर्धारित है, और तब अनिर्धार्यता का कोई अर्थ नहीं हो सकता। इसलिए सांख्य का समाधान है कि यह आत्मगत नहीं है, यह इतर है; आत्मा स्वरूपतः और वस्तुतः पर्याप्त और पूर्ण है, उसमें भाव और भाव्य का भेद नहीं है। किन्तु स्वरूपतः पूर्ण भाव और पूर्ण अभाव में भेद कर पाना असम्भव है, इसलिए आत्मा पूर्ण भाव और पूर्ण अभाव के बीच तटस्थ हो जाता है। स्वयं सांख्यकारिकाकार ने प्राकृतिक व्यापार का प्रयोजन पुरुष-विमुक्ति कहा है, जो व्यंग्यतः केवली पुरुष में भाव और अभाव से ताटस्थ्य की, और इस ताटस्थ्य से मुक्ति के लिए प्रकृति की अपेक्षा की स्वीकृति है।

वास्तव में सांख्य के इस अत्यन्त अर्थगर्भित प्रयत्न की महत् असफलता से प्रकृति-विषयक समस्या में गहरी अन्तर्दृष्टि मिलती है। समस्या है कि भाव या अभाव भाव्य कैसे हो सकते हैं? क्योंकि भाव्य केवल अभाव से अन्तःप्रविष्ट भाव, भाव की न्यूनता, भवितव्यता (बिकमिंग) का ही गंतव्य हो सकता है। किन्तु भाव तब तक अभाव से व्यवहित कैसे हो सकता है जब तक वह पूर्ण भाव से अन्तर्गर्भ नहीं हो, क्योंकि अभाव भाव की अपेक्षा से ही हो सकता है। और यदि भवितव्य या भावाभाव पूर्ण भाव से अन्तर्गर्भ है तब पूर्ण भाव व्यवहित क्यों या कैसे है? उदाहरण के लिए घट-विशेष को लें जो घटत्व का एक आविर्भाव है। अब घट स्पष्टतः अपने प्रत्यय की अपेक्षा न्यून है, इसीसे असंख्य प्रकार के घटों की संभावना है। किन्तु समस्या है कि घटत्व घटों में अपने से व्यवहित क्यों होता है, अथवा अधिक उपयुक्त शब्दों में, घटत्व के सत् होने पर उसमें आत्म-व्यवधान का (घटास्तित्त्वों का) आविर्भाव क्यों होता है? दूसरे शब्दों में, अविद्या, दुःख, न्यूनता या दोष की विद्यमानता क्यों है और किस अधिष्ठान में है? सांख्य के अनुसार यह व्यवधान आत्मा या पूर्ण भाव में नहीं हो सकता।

किन्तु यहां आपत्ति हो सकती है कि दोष या अभाव यदि भाव के अन्तर्गत नहीं होंगे तो वे दोष या अभाव ही नहीं होंगे। उदाहरणत: घट की अपर्याप्तता घट में घटत्व के भाव की अपर्याप्तता है, यदि इस अपर्याप्तता का अधिष्ठान घटगत नहीं हो तो घट अपर्याप्त नहीं होगा। सांख्य की ओर से इसका उत्तर हो सकता है कि घट घटत्व नहीं है, घट घटत्व की अपेक्षा से अपर्याप्त है, स्वयं घटत्व अपर्याप्त नहीं है : अपर्याप्तता घटगत है, न कि घटत्वगत। किन्तु तब आपत्ति होगी कि घट घटत्व के अतिरिक्त केवल उपादान (मिट्टी) है, जो स्वत: न अन्यून घट है और न न्यून घट है। इसका सांख्यीय उत्तर होगा कि घट उपादान में घटत्व का अपर्याप्त आविर्भाव है, अधिक पारिभाषिक पदावली में कहें तो, घट उपादान में घटत्व की अपेक्षा से घटत्व-निरूपण है जो अनिवार्यत: अपर्याप्त होता है। इस प्रकार अपर्याप्तता का अधिष्ठान निरूपण में है, न उपादान में है, न निरूपित में।

सांख्य का विचार्य विषय मनुष्य है, घटादि नहीं, जो उसके लिए नाम-रूप मात्र हैं। मनुष्य मुक्त नहीं है, किन्तु मोक्षाकांक्षी है। इसका अर्थ है कि मुक्ति है, क्योंकि यदि मुक्ति : मुक्त-भाव, स्वातंत्र्य : वस्तुसत् नहीं हो तो मोक्षाकांक्षा भी नहीं हो सकती। मुक्त-सत् के बिना मोक्षाकांक्षा असम्भव है, क्योंकि आकांक्षा भाव-अभाव का यौगपद्य है, और अभाव यदि भावाश्रित नहीं है, भाव का आत्म-व्यवधान नहीं है, तो वह स्वयं एक भाव हो जाएगा, और परिणामत: आकांक्षा एक अनन्त, शाश्वत और अनिवार्यत: असफल पर्येषणा हो जाएगी। किन्तु यदि मुक्तावस्था मोक्षाकांक्षा का साध्य नहीं होकर नित्यसिद्ध अवस्था हो, तो भी मोक्षाकांक्षा नहीं हो सकती। दूसरी ओर, यदि मोक्षाकांक्षा और मुक्त अवस्था एक ही अधिष्ठान में हों तो वह वास्तव में मोक्षाकांक्षा ही होगी, मुक्तावस्था नहीं, क्योंकि मोक्षाकांक्षा मुक्तामुक्त अवस्था है और अमुक्तता के रहते वहीं मुक्त-पूर्णता नहीं हो सकती। इसलिए उसका समाधान है कि भाव : मुक्ति : नित्यसिद्ध अवस्था है और मोक्षाकांक्षा अभाव में भाव का आत्म-व्याकरण है।[2] इसके विपरीत वेदान्त इनका एक ही अधिष्ठान मानता है, किन्तु तब वह मोक्षा-कांक्षा को, अभाव को, मिथ्या मानता है।

हेगल एक भिन्न प्रसंग में इसके अनुरूप प्रश्न उठाता है। उसकी समस्या भवितव्यता (बिकमिंग) है, जिसे वह न प्लेटो के समान असत् मानता है और न हेराक्लाइटस के समान सत्। किन्तु तब उसका समाधान नितान्त विचित्र है। उसके अनुसार भाव (बींग) शुद्ध निरपेक्ष विचार (थॉट) और अव्यवहितता (इमी-डियेसी) है। किन्तु भाव अपने शुद्ध रूप में उद्ग्रहण (एब्स्ट्रेक्शन) मात्र है और परिणामत: पूर्ण रूप से निषेधात्मक है : इसी प्रकार भाव के समान ही अभाव भी

2. ईश्वरकृष्ण : सांख्यकारिका, कारिका 56-65.

निरपेक्ष और अव्यवहितत्व है। परिणामतः भाव और अभाव का सत्य इन दोनों की एकता में है, जो एकता कि भवितव्यता (बिकमिंग) है।"[3] इस प्रसंग में हेगल ने नागार्जुन के शून्यवाद का भी उल्लेख किया है, किन्तु यह द्रष्टव्य है कि नागार्जुन शून्य को स्पष्ट रूप से भावात्मक कहता है, अभावात्मकता केवल व्यवहार (फिनोमिना) की है।[4] जहां तक हेगल के 'अभाव' का प्रश्न है, इसमें एक-साथ दो कोटियों का व्यामिश्र प्रतीत होता है : पहले वह कहता है कि मात्र भाव नितान्त विपन्न अवधारणा है और अपनी अवस्तुता या रिक्तता में पूर्णतः उद्ग्रहणात्मक (एब्स्ट्रेक्ट) है, परिणामतः यह अपने निषेध से अभिन्न है। किन्तु आगे वह इसी आधार पर कहता है कि भाव और अभाव का सत्य इन दोनों के मिश्रण में, एकस्थता में है, जो मिश्रण भवितव्यता को जन्म देता है। किन्तु यहां कठिनाई यह है कि भवितव्यता में भाव और अभाव विपन्नता या रिक्तता के कारण समान अवधारणाएं नहीं रहतीं, बल्कि संयुक्त रूप से अस्तित्व मात्र का स्वरूप हो जाती हैं, जो अस्तित्व अपनी सम्पन्नता में निरपेक्ष प्रत्यय में अपने परमार्थ का लाभ करता है। यहां स्पष्टतः भाव और अभाव दो भिन्न कोटियां हैं। अब यह दूसरी कोटि हमें पुनः उसी समस्या के सामने ला खड़ा कर देती है जिसके एक समाधान का प्रयत्न हमने सांख्य के रूप में देखा था। हेगल इसका दूसरा समाधान देता है। उसके अनुसार भाव और अभाव दोनों पूर्ण भाव की विपुल सम्पन्नता के विधायक हैं, जिनके सम्मिश्रण के बिना पूर्ण भाव पूर्णतः रिक्त होगा।

यहां एक आपत्ति पर विचार करना स्थाने होगा : यह कहा जा सकता है कि अनिर्धार्यता और निरपेक्षता वास्तविक नहीं हैं, ये बौद्धिक कल्पनाएं हैं। इसी प्रकार मोक्ष के सम्बन्ध में भी, "मनुष्य में मोक्षाकांक्षा : पुरुषार्थान्वेषण : हो सकती है, किन्तु मोक्षावस्था या पुरुषार्थ भी सत् है, यह एक दूसरी बात है। यह आपत्ति वास्तविकता विषयक एक मौलिक भ्रान्ति पर आधारित है। इसमें वास्तविकता के सम्बन्ध में यह धारणा निहित है कि यह कोई देशकालमूलक स्थिति ही हो सकती है, और देशकालमूलक स्थितियां केवल वर्तमान में ही होती हैं, भावी स्थितियां केवल सम्भव होती हैं। किन्तु ये लोग यह भूल जाते हैं कि विचार भी सत्ता का एक आयाम है और यह चेतना के उच्चतर स्तर से सम्बन्धित होने के कारण सत्ता को उच्चतर आयाम में प्रकट करता है। विचार केवल अपने निजी क्षेत्र में ही सदुन्मुख नहीं होता, यह इन्द्रियगोचरता के क्षेत्र को व्यापकता और गहराई भी देता है। इन्द्रियगोचरता के क्षेत्र में चेतना द्वारा विषय का स्वतंत्र निरीक्षण और विनिश्चय, और उसके गहनतर अर्थों का उद्घाटन विचार के कारण

3. लॉजिक, पृ० 128।
4. नागार्जुन : मूलमाध्यमिक कारिका—13. 8; 15.5; 15.6; 15 10.

ही सम्भव होता है। किन्तु ऐन्द्रिक स्तर पर चेतना विचार के द्वारा कितनी भी स्वतंत्र होकर भी अन्तर्विभक्त ही रहती है। यहां वह इतर का विचार करती है, यद्यपि विचारक के रूप में यह इतर से अपने पार्थक्य का भी ग्रहण करती है। इस स्तर पर इस पार्थक्य के अन्तराल में ही उसकी स्वतंत्रता अधिष्ठित होती है। यह द्रष्टव्य है कि इसमें चेतना बाह्यतः नियुक्त होने पर भी नियमाधीन नहीं होती, नियम यहां चेतना के अपने प्रभुत्व का ही प्रसार होता है। किन्तु यह नियम आत्मनि युत नहीं होकर इतर-नियुक्त होता है : उदाहरणतः 'यह पुस्तक है' वाक्य में तीनों पद सामान्य-ग्राही हैं, विशेषग्राही नहीं, जो कि इन्द्रिय-गोचरता का लक्षण है, और इन सामान्य पदों की व्यवस्था और इनके द्वारा व्यष्टि का अवच्छेदन यह सब भी विचार का स्वतंत्र व्यापार है, किन्तु यह व्यापार इन्द्रिय-प्रदत्त का अतिक्रमण नहीं कर सकता, और यह इन्द्रिय-प्रदत्त इसके नियम के अधीन नहीं है। अब यहां वास्तविकता : वस्तुसत्ता : उस सीमा तक नितान्त उथली और विपन्न होती है जिस सीमा तक यह इन्द्रिय-विषयक होती है, इसके विपरीत काव्य, राजनीति, विज्ञान और दर्शन के सर्जन या चिन्तन में अवगत वस्तुसत्ता की गहराई अतल होती है। जैसा कि हमने पिछले अध्यायों में देखा विचार-ग्राह्य वस्तु निर्धारणों या अवच्छिन्नताओं के माध्यम से अनिर्धार्य या अनवच्छिन्न होती है, यह अनवच्छिन्नता विचारात्मक निर्धारणों की अनिवार्य पर्यन्तता है, और यही उनकी परम वस्तुता भी है, क्योंकि निर्धारित आत्मनिर्भर और परिणामतः पर्याप्त सत् नहीं होते। नागार्जुन और ब्रैड्ले कम-से-कम इस पक्ष में सही हैं। इस प्रकार मोक्ष, या अनवच्छिन्न, अथवा पूर्ण भाव मौलिक वास्तविकता है जो पर्येषणाओं और अवच्छिन्नताओं को वास्तविकता देती है। किन्तु तब निर्धारणों की अपनी कोई वास्तविकता है या नहीं ?

हमने पिछले अध्यायों में देखा था कि 'निर्धारित भाव' का अर्थ है 'अभाव-व्यावृत्त भाव'। भाव की यह अभाव-व्यावृत्ति तीन प्रकार से होती है : (1) अपने प्रत्यय से न्यूनता के रूप में : जैसे मनुष्य की अपने स्वरूप से, (2) जाति या गुण-मूलक व्यावृत्ति के रूप में : जैसे गाय की अश्व में, और नील की रक्त में और कठोर में, (3) देश-काल-मूलक, जैसे दो व्यष्टियों या घटनाओं में। किन्तु थोड़ा गहराई से देखने पर इस निर्धारण में कठिनाइयां दिखाई देने लगती हैं : 1 और 3 में प्रकट भेद 1 में संगृहीत हो सकता है, उदाहरणतः एक ही जाति के दो व्यष्टियों में भेद का एक आधार व्यष्टियों की अपने प्रत्यय से न्यूनता होता है। यदि सब व्यष्टि अपने प्रत्यय को समग्रतः धारण कर सकें तो उनमें व्यष्टि-भेद केवल देशमूलक या काल-मूलक ही रहेगा, जैसे एक ही इन्द्रिय-गोचर एक गुण दो संवेद-प्रदत्तों में होता है; किन्तु केवल देश और कालमूलक भेद केवल संवेदों और संवेद-प्रदत्तों में ही हो सकता है, अध्यवसायारूढ़ इन्द्रियगोचर विषयों में भी यह नहीं हो सकता,

विचार-गोचर विषयों की तो बात ही क्या है। विचारगोचर वस्तुएं अपने तात्पर्य में इतनी अधिक सम्पन्न होती हैं कि व्यष्टि के लिए उनको समग्रता में धारण करना असंभव होता है। प्राणिजातियों में यह तथ्य जननकण-मूलक सम्भावनाओं की अगणनीयता के रूप में स्थूलत: भी द्रष्टव्य है, जबकि मानवीय कृतियों में यह तथ्य प्रत्यय को आत्मगोचर होता है। अब, यदि यह सही है तो दो घट घट-प्रत्यय से व्यवधान की मात्रा और प्रकार के आधार पर अवच्छिन्न होते हैं और घट तथा पट अपने प्रत्ययों की परस्पर व्यावर्तकता के द्वारा अवच्छिन्न होते हैं। किन्तु यहां दिङ्नाग और धर्मकीर्ति आदि आपत्ति करेंगे कि गोत्व आदि मात्र कल्पनाएं हैं: दो गायें संवेद्य गुणों के आधार पर ही परस्पर भिन्न होती हैं। इस प्रकार इनके अनुसार दो व्यष्टियों में भेद, चाहे वे दो गायें हों और चाहे गाय और अश्व, संवेद्य गुणमूलक ही होता है। किन्तु ये दार्शनिक यह नहीं देख पाते हैं कि संवेद्य गुणात्मक व्यावर्तन अवयवियों, जैसे गाय और अश्व आदि, अथवा घट-पटादि में नहीं हो सकता, केवल संवेद्य गुणों में ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त इनके पक्ष में और कोई भी युक्ति नहीं है सिवाय इस पूर्वमान्यता के कि चैतन्य केवल संवेद के द्वारा ही वस्तु-साक्षात्कार कर सकता है। किन्तु यह भी सही है कि दो गायों या दो मेज़ों में व्यावर्तन संवेद्य गुणात्मक भी होता है। किन्तु संवेदात्मक निर्धारण को जिस प्रकार बौद्ध या अनुभववादी देखते हैं उस प्रकार से ये निर्धारण नहीं होकर चेतना के मौलिक उद्दीपन हैं। किन्तु तब चेतना परस्पर स्वतंत्र उद्दीपनों का समूह मात्र रह जाती है जिसमें सामूहीकरण का कोई आधार नहीं है, सिवाय कथंचित्ता या सांयोगिकता के। बौद्ध इस निष्कर्ष को स्वीकार करने का साहस भी दिखाते हैं। किन्तु जबकि अत्यधिक अविकसित पाशव चेतना इसी स्तर पर क्रिया करती है, मानव-चेतना संवेद-गत सीमाओं का विचार में अतिक्रमण कर संवेद-प्रदत्त विशिष्ट को सामान्य में और संवेदग्रहण को प्रत्ययन की व्यापकता में उन्मुक्त कर देती है और अनुक्रमश: इस स्तर के ग्रहणों को भी अनिर्धार्य और निरवच्छिन्न को समर्पित कर देती है। इस प्रत्ययन या अवधारण को उपचार या विकल्प कहना चेतना के निम्नतम स्तरों को उच्चतम मूल्य देना है।

इस प्रकार अभाव और न्यूनता भाव की पूर्णता की अपेक्षा से ही होते हैं और भाव की पूर्णता के अत्यन्त वास्तविक होने से अभाव और न्यूनता केवल प्रकटत: ही वास्तविक होते हैं, वस्तुत: नहीं। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय तो सांख्यीय प्रकृति की पृथक्त: कोई आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। किन्तु इस पर सांख्य की आपत्ति होगी कि अभाव या न्यूनता आत्यन्तिक भले ही नहीं हों किन्तु वे अनात्यन्तिक : तात्कालिक : रूप से तो हैं ही। अथवा इन्हें आत्यन्तिक सापेक्षताएं भी कह सकते हैं, क्योंकि अनिर्धार्यता निर्धारणों को समाप्त नहीं करती, उसमें उनका अतिक्रमण होता है; जैसाकि हमने पिछले अध्याय में देखा, घट-

प्रत्यय स्वरूपतः व्यष्टिमूलक है और इस प्रकार उसमें निर्धारण स्वरूपगत और निरपेक्ष हो जाता है। जहां तक अपने प्रत्यय से न्यूनता का प्रश्न है, यह न्यूनता प्रत्यय की अन्यूनता से असत् नहीं हो जाती। घट, चित्र, या मानव-व्यक्ति की न्यूननता निवार्य है, किन्तु यदि वह हो ही नहीं तो उसके निवारण का प्रश्न ही कहां रह जाता है?

इस प्रकार निर्धारितता या न्यूनता जगत् के स्वभाव में मौलिक है, परिणामतः यह जगत् अनिर्धार्य पूर्णता में अधिष्ठित नहीं होकर अपनी इतरता में अधिष्ठित है। जगत् रूप में व्यक्त सभी प्रत्यय व्यावर्तनात्मक हैं, ये व्यावृत्त वस्तुएं और प्रत्यय अंततः परस्पर व्यावर्तनात्मक त्रैगुण्य में अधिष्ठित हैं। यह त्रैगुण्य आत्यन्तिक है, यद्यपि आत्मपर्याप्त नहीं है: इसका अपना कोई अर्थ :प्रयोजनः नहीं है, अर्थ के लिए यह उस तत्त्व का अपेक्षी है जो अपनी पर्याप्तता को और प्रकृति के अर्थ को धारण कर स्वातंत्र्य में प्रतिष्ठित है।[5] दूसरे शब्दों में, प्रकृति का प्रयोजन उस स्वातंत्र्य, निरपेक्षता, सहज अन्यूनता या विपुलता का सापेक्षता, न्यूनता और विपन्नता के माध्यम से प्रकाशन है, जो इसके बिना अपने भाव की पूर्णता में अविदित रहता है।[6]

डेकार्ट के लिए प्रकृति एक दूसरे कारण से आवश्यक है, और यही 'प्रकृति' का अधिक प्रचलित अर्थ भी है। उसके अनुसार प्रकृति इन्द्रियगोचर अर्थों का सत्यापक तत्त्व है और इसका स्वरूप विस्तार या देशमात्रता है। जिसका दूसरा आशय है कि यह तत्त्व ग्राहक चेतना से स्वतन्त्र है। किन्तु यहां प्रश्न होगा कि गोचर अर्थों (विषयों) का सत्य उन अर्थों से इतर होना क्यों आवश्यक है? यदि इसलिए कि चित् सत्य के लिए अन्य सत् का अपेक्षी है, तो यह बात डेकार्ट को अभिप्रेत नहीं है। पश्चिमी दर्शन के इतिहास में इस बोध का श्रेय डेकार्ट को ही दिया जाता है कि चित् जिस सत् का असंदिग्ध रूप से साक्षात्कार करता है वह उसके अपने से अभिन्न है, कि असन्दिग्ध रूप से ज्ञात सत् चित् का अपने से अव्यवहितत्व ही है। इतर सत् वास्तव में डेकार्ट के लिए केवल अनुमेय और दो पद दूर है। उसके अनुसार अव्यवहित ज्ञान और अव्यवहित सत् एक ही हैं: 'मैं विचारता हूं' यह तथ्य चित् और सत् का यौगपद्य है, ईश्वर का ज्ञान भी इसी ज्ञान के अन्तर्गत है, क्योंकि 'मैं विचारता हूं' अपने स्वरूप की अपूर्णता का भी ज्ञान है और अतएव इतर पूर्णता का भी ज्ञान है। किन्तु यहां प्रश्न हो सकता है कि यह अपूर्णता ज्ञान की है या भाव की? स्पष्टतः ज्ञान की अपूर्णता भाव की अपूर्णता को भी आपादित

5. संघार्थ परार्थत्वात्···। 17,
6. नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः,
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति। 60।

करती है और परिणामतः पूर्णता ज्ञान और भाव दोनों में आपादित ही होती है प्रत्यक्ष नहीं : अर्थात् यह तर्कानुमान है, प्रत्यक्ष नहीं। किन्तु डेकार्ट अपूर्ण विचार को पूर्ण विचार का अनिवार्य अपेक्षी मानता है और यह अपेक्षा तार्किक नहीं बल्कि प्रत्यक्षात्मक है। किन्तु तब वह पूर्ण के अस्तित्व को तर्कसाध्य मानता है। किन्तु यदि अपूर्ण विचार ज्ञान में अव्यवहितत्व के कारण ही असंदिग्ध सत् है तो उसी प्रकार पूर्ण विचार भी अव्यवहित ज्ञान होने से असन्दिग्ध सत् होगा। किन्तु वास्तव में पूर्ण न ज्ञान में अव्यवहित प्रदत्त है और परिणामतः, न भाव में ही है, वह दोनों में अनिवार्य अतिक्रामी आधार है। जो भी हो, मुख्य बात यह है कि यदि ईश्वर का ज्ञान और भाव दोनों अव्यवहित भी माने जायें तो भी उसकी श्रेयस्ता प्रकृति के अस्तित्व को आपादित नहीं करती, क्योंकि यदि पूर्णता अनिवार्यतः अकलुष है तो अपूर्णता सकलुष होगी, और परिणामतः अपूर्ण सदैव अपने ग्रहणों और धारणाओं में भ्रान्त ही हो सकता है। इस प्रकार डेकार्ट को प्रकृति की आवश्यकता आन्तरिक रूप से नहीं है, केवल उन अर्थों या प्रत्ययों की सत्यता के लिए है जिनकी सत्यता की रक्षा वह अपनी पहली आलोचना में नहीं कर सका। किन्तु डेकार्ट निगमनात्मक रूप से भी प्रकृति को प्रमाणित नहीं कर सका। किन्तु यहां यह द्रष्टव्य है कि डेकार्ट को प्रकृति की सत्ता स्वीकार करना आवश्यक प्रतीत हुआ: गोचर अर्थों की अतिक्रामी सत्ता की धारणा हममें इतनी सहज है कि उसका निषेध हमें क्रूरतम प्रवंचना प्रतीत होता है, जो हम स्वयं अपने प्रति कर नहीं सकते, तब दूसरे के सम्बन्ध में देखने की आवश्यकता है कि वह कर सकता है या नहीं ?

कांट भी इन्द्रियगोचर अर्थों को इसी प्रकार एक बाह्य आधार पर प्रतिष्ठित देखता है। उसकी युक्ति है कि, यह सम्भव नहीं है कि प्रतीति (इन्द्रियगोचर अर्थ) किसी बाह्य आधार के बिना हों। किन्तु अंततः वह इस आधार की बाह्यता की रक्षा नहीं कर पाता। अंततः उसकी यह स्वलक्षण वस्तु स्वातंत्र्य या आत्म-नियामक आद्य संकल्प ही सिद्ध होती है, इन्द्रियगोचर अर्थों की इन्द्रियातिक्रामी आधार नहीं। यहां इस बात की ओर पुनः ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है कि कांट स्वलक्षण वस्तु के स्वरूप के सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं है। जिसे वह प्रतीतियों का आधार और इन्द्रियों के लिए अगम्य किन्तु विचार के लिए गम्य कहता है वह वस्तु वही नहीं है जो स्वातंत्र्य या संकल्प-स्वरूप है। किन्तु कांट को इस दुविधा में पड़ने का श्रेय देना होगा जो उस प्रकार दिङ्नाग और शंकर को नहीं दिया जा सकता। दिङ्नाग शुद्ध संवेद को गम्य शुद्ध वस्तु को निर्द्वन्द्व भाव से स्वीकार करता है और शंकर इसी प्रकार अध्यवसायात्मक इन्द्रियार्थों को वस्तु-मूलक मानता है, अलीक अर्थों से भिन्न, किन्तु यह वस्तु उसके लिए ब्रह्म है। कांट की उलझन है कि संवेद अपने अनुरूप वस्तु के अपेक्षी हैं, परिणामतः आधार-वस्तु प्राकृतिक होनी चाहिए। किन्तु संवेद केवल बाह्य ही नहीं आन्तर भी होते हैं,

तब इन दोनों की आधार वस्तु एक ही है या दो ? शुद्ध रीज़न इसके लिए दो निर्देशक प्रत्ययों (आइडियाज़) की अपेक्षा करता है, किन्तु आधार वस्तुएं दो नहीं हो सकतीं। किन्तु तब यह एक वस्तु प्रयोजन क्या सिद्ध करती है ? सम्भवतः वही जो शंकर के लिए ब्रह्म करता है, जो सब प्रतीतियों और प्रतीत वस्तुओं का तत्त्व है। दिङ्नाग इस ओर देखता ही नहीं, उसके लिए स्वलक्षण वस्तु निर्विकल्पक संवेद की विषय है। किन्तु श्रवण और दर्शन के, और सुखादि के संवेदों में मौलिक भेद है। तब क्या स्वलक्षण वस्तु में भी ये भेद हैं ? पुनः, इन्द्रियमूलक बुद्धि(विकल्प) और उससे स्वतंत्र बुद्धि (शुद्ध विचार) में भी भेद है। शुद्ध विचार इन्द्रियगम्य की निर्विकल्पकता का और अध्यवसायगम्य की सविकल्पकता का आकलन कर सकता है, स्वयं दिङ्नाग उसी के द्वारा उसका आकलन कर रहा है। किन्तु वह यह नहीं देख पाता कि इस विचार के बिना निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अपनी विपन्नता की अत्यन्तता में अनभिलाप्य और अग्राह्य रहता है। कांट यह देखता है, किन्तु वह निरन्तर ह्यूम से आक्रान्त रहता है। अनुभववाद के इस आतंक को निरस्त करते हुए फ़िख़्ते ने इन्द्रियगोचर वस्तु को उस आद्य चैतन्य में स्थापित किया जो एक-साथ अपने को विषयी और विषयरूप में विभक्त करता है। फ़िख़्ते का यह विचार उपनिषद् के कितना निकट है, यह प्रथम अध्याय में उद्धृत ईशावास्य तथा ऐतरेय उपनिषद् के मंत्रों से देखा जा सकता है। यह आद्य सत् स्वतः न विषयी है और न विषय, न चित् और न प्रकृति, वह दोनों का एक आधार है। किन्तु दोनों का यह एक आधार ऐसा भाव ही हो सकता है जो प्रत्यय में दोनों का अतिक्रमण करे। 'प्रत्यय में अतिक्रमण' कहने का अर्थ है कि विषयी और विषय, या चेतना तथा प्रकृति के भाव के बीच तटस्थ (इंडिफरेंट) इस पर-तत्त्व से द्वैत की उत्पत्ति न कारण-कार्यात्मक है, न निमित्त-निष्पन्नात्मक, यह प्रत्ययात्मक है जिसमें द्वैत के दोनों पक्ष परस्पर सापेक्ष हैं और परिणामतः यह युगल अपरम या अनंतिम है और अपने परम आधार के रूप में अन्य पद :निरपेक्षता: का अपेक्षी है। किन्तु जैसा कि हमने पीछे देखा, यह अपेक्षा इस कारण काल्पनिक नहीं हो जाती कि यह अकारण-कार्यात्मक है, बल्कि यह इस कारण अधिक वास्तविक हो जाती है क्योंकि यह प्रत्यङ्मुख चेतना को अव्यवहिततया गम्य है। किन्तु यहां आपत्ति की जा सकती है कि चेतना को अव्यवहिततया गम्य केवल चेतना स्वयं ही हो सकती है, ऐसी अवस्था में जगत् और प्रकृति स्वतः ही व्यवहित हो जाते हैं, और यदि ये व्यवहित हैं तब ये ज्ञेय हो ही कैसे सकते हैं, ये केवल कल्पनामात्र ही हो सकते हैं। किन्तु यहां कहा जा सकता है कि चेतना स्वयं को या तो विषयी रूप में जानती है, जैसे काव्य-संगीत आदि परक अनुभूति में, अथवा विषय रूप में, जैसे पशु में, जहां यह विषय में निश्शेष रहती है, अथवा उभय रूप में, जैसे प्रतिविषयाध्यवसाय में, जहां वह विषय का अपने से पृथक् रूप में निर्धारण करती है; यह कभी अति-

क्रामी-अद्वय रूप में अपने को जानती है ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार वास्तव में अन्तिमता या परमता की बात केवल काल्पनिक ही ठहरती है।

किन्तु यह सही नहीं है, क्योंकि विषय-विषयिता जबकि बाह्योन्मुख चेतना में गम्य है, प्रत्यङ्मुख चेतना के लिए बाह्योन्मुखता में प्रदत्त भाव या सत्ता आत्मपर्याप्त नहीं होती, इस चेतना के लिए केवल अतिक्रामी-अनिर्धार्य ही ज्ञान को धारण कर सकता है। जैसाकि स्पष्ट है, आधार विषयि-चेतना रूप या विषय-वस्तु रूप नहीं है, यह आधार चैतन्य की निरपेक्ष भाव में स्थिति है, जो स्थिति एक-साथ ज्ञान और सत् है। इस स्थिति की अनुरूपता हम दार्शनिक और कलात्मक सर्जनों के क्षणों में देखते हैं, जिन क्षणों में चैतन्य विषय को अपने भीतर से उत्सृष्ट कर विषयि-रूप में उसका साक्षात्कार करता है। इसमें सत्ता किसी भी दूसरी स्थिति की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक होती है, केवल विषयी यहां अपने को विषय से नियंत्रित नहीं देखता, जिस प्रकार वह इन्द्रियगोचरता की, तथा वासना और आवेग की स्थितियों में देखता है। इसी से इन दो स्थितियों को क्रमशः स्वातंत्र्य और प्रकृति या पारतंत्र्य के क्षेत्र कहा जाता है।

इस प्रकार प्रकृति पारतंत्र्य का क्षेत्र है। इस पारतंत्र्य का कारण यह है कि प्रकृति जिन निर्धारणों की आधार है वे निर्धारण परस्पर आगन्तुकतया ही सम्बन्धित होते हैं, स्वभावतया या अनिवार्यतया नहीं। इसमें एकमात्र सम्बन्ध कारण-कार्यात्मक होता है, जिसमें घटनाएं जबकि पूर्व घटनाओं से नियुक्तवत् घटित होती हैं पूर्वगामी घटनाओं के लिए ये बाह्य और आकस्मिक ही होती हैं। इस प्रकार इनमें कोई तंत्र नहीं रहता, सिवाय विवशतया नियुक्ति के। कारणता की चाहे जो भी व्याख्या स्वीकार करें: सत्कार्यवादी, प्रतीत्यसमुत्पादवादी, उत्पादवादी, अभ्यासवादी या कांटीय, इन सबमें यह तथ्य सामान्यतया स्वीकृत है कि प्रकृति घटनात्मक है और इन घटनाओं में यदि कोई सम्बन्ध है तो वह आगन्तुक है, सिवाय इस अनिवार्यता के कि द्वितीय घटना प्रथम से प्रेरित होती है और प्रथम द्वितीय से किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं होती। अवश्य कारणता-सम्बन्धी एक अनिवार्यात्मक अवधारणा भी है, जिसके अनुसार समान कारण समान कार्य का उत्पादक होता है, और यह अवधारणा अतर्कित रूप से वैज्ञानिक अन्वेषणों की भी आधार है। किन्तु इस प्रकार निर्धारित घटनाएं आनुभविक नहीं होकर उनके उद्गृहीत (एब्स्ट्रेक्ट) आकार मात्र होती हैं। इस अनिवार्यता-सम्बन्ध के विपरीत आभ्यासिक संबंध का सिद्धान्त घटनाओं में कोई भी संबंध नहीं देखता। किन्तु अभ्यास स्वयं प्राकृतिक सम्बन्ध है। ह्यूम, पश्चिमी दर्शन की प्रायः सर्वसामान्य धारणा के अनुसार, अन्तःकरण को मनस् के अन्तर्गत रखकर उसे अप्राकृतिक मान लेता है, जो सही नहीं है। अन्तःकरण उतना ही प्राकृतिक है जितना संवेद-प्रदत्त, परिणामतः अभ्यास स्वयं प्राकृतिक

घटनाओं में कारणता-सम्बन्ध है। किन्तु यहां आपत्ति की जा सकती है कि अभ्यासवश हम जिन घटनाओं में सम्बन्ध देखते हैं उनमें वह सम्बन्ध नहीं होता : जैसे पत्थर लगने और कांच टूटने में यह सम्बन्ध केवल ग्राहक अन्तःकरण में ही होता है। किन्तु तब, ग्राह्य घटनाओं में सम्बन्धाभाव होता है, यह भी कैसे कहा जा सकता है? वास्तव में बौद्धों को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने अन्तर-बाह्य के इस भेद को हटाकर कारणता-सम्बन्ध को प्रतीत्यात्मक : आश्रित्योत्पन्नात्मक : कहा, जिसमें सम्बन्ध का न विधान है, न निषेध। किन्तु जगत् के एक बड़े भाग में उत्पादकता-उत्पाद्यता का सम्बन्ध भी दिखायी देता है : सब प्राणी घटनाओं को उत्पन्न करते हैं—हाथ को हिलाने की इच्छा हाथ के हिलने को, हाथ का हिलना पत्थर के हिलने को, और पत्थर का हिलना कांच के टूटने को। इनमें हाथ से पत्थर का हिलना, और पत्थर से कांच का टूटना बाह्य : भौतिक : घटनाएं हैं, जबकि इच्छा से हाथ का हिलना क्रमशः मानसिक और बाह्य : दैहिक :। यहां मानसिक, दैहिक और भौतिक में सम्बन्ध की समस्या को छोड़ते हुए केवल यह द्रष्टव्य है कि एक प्राकृतिक घटना दूसरी को क्रियान्वित कर रही है और यह सम्बन्ध केवल 'ऐसा होने पर ऐसा होता है' का नहीं है, बल्कि स्पष्टतः उत्पादकता-उत्पाद्यता का है, जिसका प्रत्यक्ष हम स्वयं घटनाओं के उत्पादक के रूप में करते हैं। किन्तु कहा जा सकता है कि यह संबंध मानसिक घटना की प्रथम प्रवर्तकता के कारण है, जिसके कारण घटनाक्रम में एक मौलिक रूपान्तर घटित हो जाता है : यहां अनुक्रम केवल प्रथम से द्वितीय का नहीं है बल्कि प्रथम की अन्तिम में प्रयोजकता का और अन्तिम की प्रथम में अपेक्षा का एक ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है जैसा मात्र भौतिक घटनाओं में नहीं देखा जाता। किन्तु इस इच्छा का क्या कारण होता है? यदि इसे प्रथम कारण कहा जाय तब यह (इच्छा) प्राकृतिक नहीं रहती, यह स्वतंत्र हो जाती है, और यदि यह प्रथम कारण नहीं है तब प्रश्न होगा कि इसका कारण किस प्रकार का है, भौतिक प्रकार का या कि प्रयोजनात्मक प्रकार का? स्पष्टतः इच्छा प्रथम कारण नहीं होती, यह स्वयं कारित होती है, और इसका कारण दैहिक या मानसिक कुछ भी हो सकता है। यह कारण दैहिक होने पर उसका कारण भौतिक हो सकता है, जैसे भूख का कारण दैहिक होता है और दैहिक का कारण रासायनिक : भौतिक:। इस प्रकार यह कारण-शृंखला एक ओर अनादि और अनन्त होती है और दूसरी ओर कोई घटना ऐसी नहीं होती जो अपने से प्रथम से अनिवार्यतः अनुगत होती हो। दूसरे शब्दों में, जबकि कोई भी घटित प्राकृतिक घटना अनिवार्यतः घटनाओं की जनक-जननात्मक अनादि-अनंत शृंखला को आपादित करती है, इनमें से कोई भी विशेष घटना अनिवार्य नहीं होती, केवल आगन्तुक होती है। यहां कहा जा सकता है कि शृंखला में से कोई भी घटना भिन्न होने पर अनुगामी शृंखला भी भिन्न हो जायगी, और

परिणामतः पूर्वगामी शृंखला के वैसी रहे होने पर जैसी वह थी यह असम्भव है कि यह विशेष घटना भिन्न हो सकती, जिसका अर्थ है कि घटना-शृंखला में एक अनिवार्यता है। किंतु यह सही नहीं है, घटना 100 तक की पूरी शृंखला 101 वीं घटना के रूप और अस्तित्व को अनिवार्य नहीं करती। यह एक विचित्र विरोधाभास प्रतीत होता है कि जबकि कारण-शृंखला आकारतः अनिवार्य है, यह अस्तित्व और गुण में आगन्तुक है। किंतु इसमें कोई वास्तविक विरोध नहीं है, क्योंकि अस्तित्वतः प्रकृति संवेदग्राह्य है जबकि नियमतः बुद्धिग्राह्य।

इस पर आपत्ति की जा सकती है कि हमारे ग्रहण की विधा ग्राह्य के वस्तु-स्वरूप की निर्धारक नहीं कही जा सकती। इस आपत्ति के अनुसार, अस्तित्व और नियम ये प्रकृति के मूलतः भिन्न दो पक्ष नहीं हो सकते : एक स्वरूपतः आगन्तुक और दूसरा स्वरूपतः अनिवार्य। यह भेद केवल इस बात का द्योतक है कि प्रकृति न संवेदतः ग्राह्य है और न बुद्धितः ही। यह आपत्ति अयुक्त है, क्योंकि नितांत अग्राह्य होने पर हम न प्रकृति के निरूपण में प्रवृत्त हो सकते हैं और न निरूप्य का इस प्रकार निषेध कर सकते हैं। यह निरूपण और निषेध इस बात के द्योतक हैं कि निरूपण आत्यन्तिक नहीं है, केवल अंतरिम है। इस प्रकार, घटनाएं संवेदात्मकता में प्राकृतिक हैं, किंतु इनका यह स्वरूप : प्राकृतिकता : आत्मप्रतिष्ठित नहीं है, इसे इनकी निःस्वभावता या नितान्त विपन्नता भी कह सकते हैं। इन घटनाओं में जहां तक ग्राह्य-ग्राहक के भेद का प्रश्न है, यह भेद भी संवेद-स्तरीय नहीं है। जैसा कि इच्छा, सुख-दुःखादि में देखा जा सकता है इनमें संवेद और संवेद्य अभिन्न होते हैं। ठीक इसी प्रकार बाह्य संवेदों में है : निर्विकल्पक स्तर पर इनमें यह भेद नहीं रहता क्योंकि इस स्तर पर चित्त पूर्णतः विषय में निश्शेष रहता है। न इन्द्रियगोचर गुणों और आकारों को बाह्य वस्तु के कार्य कहने में कोई युक्ति है। किंतु तब ये आन्तर और बाह्य संवेद अपने-आप में इतने विपन्न होते हैं कि इनके प्रदत्तों को सत् कहना और शेष को विकल्प और उपचार कहना विकल्प और उपचार को सत् से अधिक संपन्न कहना है। इसीलिए इन संवेदों के आधार के रूप में स्वलक्षण वस्तु अथवा भौतिक तत्त्व का आक्षेप किया जाता है, जो प्रतिभास के लिए पर्याप्त आधार हो सके। किंतु यहां यह नहीं समझना चाहिए कि आधार-सत् की यह अपेक्षा केवल काल्पनिक है, जैसा कि बहुत से दार्शनिकों ने समझा है, इसकी अपेक्षा को यथार्थ कहने की युक्तता इस बात से और स्पष्टतया सिद्ध होती है कि आक्षिप्त आधार-सत् के बारे में कोई सहमति नहीं है जो कि काल्पनिक के बारे में सहज ही हो सकती है। इस असहमति का एक मुख्य कारण वास्तव में आधार-सत् की अनवगाह्य और अनिर्धार्य संपन्नता है। विचार जिस सीमा तक अपने को संवेद या विशिष्ट के ग्राह से मुक्त कर पाता है उसी सीमा तक सत्ता की अतल सम्पत्तियों का अवगाहन कर पाता है। वास्तव में विभिन्न प्रयत्नों का कारण प्रत्येक दूसरे प्रयत्न की अपर्याप्तता का ही बोध है।

इस प्रसंग में यहां तीन प्रयत्नों को उदाहरण रूप में देखना उपयुक्त होगा : एक में भौतिकवाद को, दूसरे में सांख्यीय प्रकृतिवाद को, और तीसरे में औपनिषद् अद्वैतवाद को लिया जा सकता है। शुद्ध भौतिकवाद, जैसे चार्वाकीय या हॉब्सीय, संवेदग्राह्य वर्ण, स्थौल्य और सुख-दुःख से आगे किसी भी अनुभव का आकलन नहीं कर पाता, और यह केवल इनके ही आधार के रूप में सत्ता को देखता है। यही बात डेकार्टीय भौतिक तत्त्व के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, सिवाय इसके कि उसका भूततत्त्व प्रत्ययगम्य शुद्ध विस्तार होने से भौतिक विज्ञान को आधार दे सकता है। किन्तु तब उसे संवेद, कल्पना, अनुभूति और मूल्य-बोध आदि सबके लिए एक अन्य सत्ता की आवश्यकता रहती है। इस प्रकार डेकार्ट सत्ता के वैभव के आकलन के लिए भौतिक के अतिरिक्त मानसिक तत्त्व की भी कल्पना करता है। किन्तु सत्ता का यह द्वित्व इस पार्थक्य में न तो अपने को धारण कर पाता है और न उस वैभव को जो एक ओर प्राकृतिक जगत् के रूप में दृष्टिगोचर होता है और दूसरी ओर इसमें से स्वातंत्र्य की ओर उत्क्रमित होती चेतना के प्रत्यङ्मुख व्यापार के रूप में।

सांख्यीय प्रयत्न डेकार्टीय प्रयत्न की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और सूझपूर्ण है। उसके अनुसार प्रकृति केवल ऐन्द्रिक प्रत्ययों का सत्यापक द्रव्य नहीं होकर वह व्यापार है जो साध्य अर्थ : स्वातंत्र्य : के साधन के रूप में उससे पृथक् है, अथवा जो विषयिता के परिपूर्ण वैभव को सापेक्ष विषयता के माध्यम से स्फुटित कर उसे निरपेक्ष विषयता में उपसंहृत करता है। इसके अनुसार इन्द्रियगोचर वस्तु और ऐन्द्रिक प्रत्यय एक ही जगद्व्यापार के दो पक्ष हैं : प्रत्यय सत्व-प्राधान्य है और वस्तु तमस्-प्राधान्य। पुरुष को सिद्ध-साध्य के रूप में और प्रकृति को साधक उन्मेष-व्यापार के रूप में कल्पित कर सांख्य अद्वैतवाद की इस समस्या के समाधान का प्रयत्न करता है कि स्वतंत्र और सम्पन्न अद्वय तत्त्व सापेक्षताओं में आत्मव्यवहित कैसे होता है, यद्यपि नागार्जुन, वसुबन्धु, और शंकर तीनों इसका समाधान देते हैं कि तत्त्वतः सापेक्षताएं असत् हैं : जिस प्रकार वृत्त के दो अर्ध भागों की सापेक्षता निरपेक्ष वृत्त में उसकी प्रतिष्ठा के कारण ही होती है उसी प्रकार जागतिक सापेक्ष-ताएं निरपेक्ष चित् में प्रतिष्ठित हैं। किन्तु भ्रम, अभाव और दोष की विद्यमानता मानव-चेतना में अनुभवगम्य भी है और तर्कगम्य भी। अब यदि अनुभवगम्य और तर्कगम्य अपेक्षाएं भ्रांति हैं तो फिर भ्रांति की वही समस्या होगी कि वह कैसे है? अवश्य उपर्युक्त तीनों दार्शनिक इस समस्या के समाधान का प्रयत्न भी करते हैं, किन्तु इसी समस्या के समाधान का एक द्वैतवादी प्रयत्न सांख्य करता है। सांख्यीय द्वैतवाद को निम्न तीन सूत्रों में रखा जा सकता है : (1) दर्शक-दृश्य, विचारक-विचार्य और भोक्ता-भोग्य सभी कुछ प्राकृतिक है। (2) परिणामतः जगत् या प्राकृतिक व्यापार पुरुषोल्लेखी, अथवा कहें अर्थान्वेषण की प्रक्रिया, है। (3) अन्वेष्य

इस प्रक्रिया का लक्ष्यभूत निरपेक्ष-स्वतंत्र चित्-सत् है, जो जगत्-प्रक्रिया के लिए साध्य होने पर भी स्वतः त्रिकाल सिद्ध है।

जैसाकि इस विवेचन से स्पष्ट है, यह सिद्धान्त जगत् और अतिक्रान्तता के सभी अर्थों की, उन्हें नकारे बिना, व्याख्या करने का प्रयत्न करता है। किन्तु इसका द्वैत उतना वास्तविक नहीं है जितना इसमें उद्घोषित है। क्योंकि प्रकृति की पुरुषापेक्षा, और प्राकृतिक व्यापार की पुरुषोन्मुखता प्रकृति को नितान्त पृथक् द्रव्य या पृथक् तंत्र नहीं रहने देती। अथवा दूसरी ओर, पुरुष इसमें केवल मूल्यान्वेषण की पर्यन्तता की भाव्यात्मक सत्ता होने के बजाय अन्वेष्य की भावात्मक सत्ता है। अन्वेषण और अन्वेष्य को दो पृथक् सत्ताएं देकर सांख्य अन्वेष्य को उस सम्पूर्ण वैभव से रिक्त कर देता है जो अन्वेषण में लक्षित है। अवश्य अनिर्धार्य तत्त्व निर्धारणों में लक्ष्यमान् पर्यन्ततारूप नहीं होता, जैसाकि हम प्रथम अध्याय में देख आये हैं, वह उनसे अलक्षित और अतिक्रान्त होता है; किन्तु तब यह बात भारतीय अद्वैतवादी सम्प्रदायों में भी स्वीकृत है, यह केवल सांख्य की विशिष्टता नहीं है। उनमें जगत् के मिथ्यात्व का यही अर्थ है। सांख्य जो एक असम्भव कार्य करना चाहता है वह यह कि वह एक ओर निर्धारणों को स्वतंत्र सत्ता देना चाहता है और उनके लिए एक पृथक् अधिष्ठान की कल्पना करता है, और दूसरी ओर उनके इस स्वतंत्र अधिष्ठान को आत्म-अपर्याप्त पाकर इसकी पर्याप्तता अनिर्धार्य चित्-तत्त्व में देखता है। वास्तव में यही बात डेकार्ट और मध्व के दर्शनों में एक दूसरे प्रकार से देखी जा सकती है: इनमें ईश्वर सर्वशक्तिमान् और सर्वस्रष्टा है। मध्व स्पष्टतः प्रकृति को अस्वतंत्र कहता है। अब यदि ऐसा है तब प्रकृति जीव से तो स्वतंत्र हो सकती है किन्तु ईश्वर-द्रव्य से स्वतंत्र द्रव्य कैसे हो सकती है, यदि वहां स्वतंत्रता-परतंत्रता का अर्थ स्वामी-दास जैसा नहीं हो तो? यदि परतंत्रता का अर्थ यह है कि यह स्वप्रतिष्ठित नहीं है, कि यह अपनी प्रतिष्ठा के लिए, या व्याख्या की मूल प्रतिज्ञा के लिए, अनिर्धार्य प्रत्यय : पूर्ण चैतन्य : की अपेक्षा करती है, तो हम केवल प्रकटतः ही द्वैतवाद की बात कर रहे हैं, वास्तव में नहीं।

किन्तु यहां कहा जा सकता है कि इस अप्रतिष्ठितता के बावजूद इतरता और पारतंत्र्य को हम अपने भीतर अनुभव करते हैं। यदि इन्द्रियगोचर को चित्त के क्षणिक उद्वेलनों : संवेदों : में अपचयित किया भी जा सके तो भी इन क्षणिकाओं के अधिष्ठान के रूप में हम स्थायी वस्तु को भी देखते हैं। यह देखना ऐन्द्रिक नहीं होकर विकल्पमूलक है इस बात से वास्तव में कोई अन्तर नहीं पड़ता, जैसा नैरात्म्यवादी बौद्ध और संवेद-सत्तावादी : अनुभववादी : समझते हैं, क्योंकि संवेद और वस्तु-प्रतिष्ठापन दोनों चैतसिक हैं और चित्त प्राकृतिक है। इसलिए यदि किसी ग्रहण को विकल्पमूलक कहकर उसकी यथार्थता से मुक्ति पा भी ली जाय तो वही समस्या संवेदानुरागी और वस्त्वनुरागी चित्त की हो जाती है—कि उसकी

यथार्थता क्या है ? यह द्रष्टव्य है कि सांख्य जगत् का प्रवर्तन बुद्धि में देखता है जो जगद्‌भाव की अवस्था में अहंकार से उपहित होकर अवच्छिन्न व्यष्टियों के रूप में व्यक्त होती है। इस प्रकार सांख्यीय द्वैतवाद का प्रतिवाद भौतिक वस्तुओं और भौतिक नियमों की चित्तमूलकता दिखाकर नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह स्वयं ही इन्हें बुद्धि-मूलक मानता है। किंतु समस्या बुद्धि के मूल की है जिसका समाधान अद्वैतवादी नहीं कर पाते।

तब इसका समाधान क्या है ? इसका समाधान यह हो सकता है कि वस्तु-अनुरागी चित्त प्रत्यङ्‌मुखता के क्रम में वस्तुओं को धर्मों या तत्त्वों में अन्तर्भाव्य पाता है और भोगानुरागी चित्त प्रत्यङ्‌मुखता के क्रम में जागतिक अन्वेषणों को परमार्थान्वेषण में। इसके विरुद्ध सांख्य का उत्तर हो सकता है कि, इससे जगत् की आगन्तुकता तो प्रकट होती है किन्तु चित्त की नहीं, और यह चित्त ही प्रकृति है, जो जगत्प्रवृत्ति में जगद्‌रूप में परिणत होता है और निवृत्ति में विवेक-रूप में। किंतु तब अद्वैतवादी की आपत्ति होगी कि, तब पुरुष की क्या आवश्यकता है ? चित्त ही अपनी दो गतियों में पर्याप्त होना चाहिए। यदि वह प्रवृत्ति में जगत् की वस्तुता का अधिष्ठान हो सकता है तो निवृत्ति में वह मोक्ष की वस्तुता (पुरुषता) का अधिष्ठान भी हो सकता है। और जगत् के अवस्तु होने से केवल मोक्ष की वस्तुता ही शेष रह जाती है : यही हमारे (अद्वैती के) अनुसार चित् और सत् का यौगपद्य है, इसे मोक्ष का आत्म-प्रकाशन भी कह सकते हैं। इस प्रकार जगत् का अधिष्ठान प्रकृति : इतर सत्ता : नहीं होकर चित् की आत्म-विमुखता मात्र ही रह जाता है। किन्तु तब प्रश्न होगा कि, इस आत्मविमुख प्रवृत्ति का क्या बीज है ? अद्वैतवादी अधिकांशत: इसके उत्तर में भूल करते हैं। वे कहते हैं कि 'यह अनिर्वचनीय है', मानो यह कोई घटना या स्थिति हो। ऐसा 'असदेवेदमग्र आसीत्' जैसे वचनों से, या फ़िख़्तीय प्रस्थापना से, कि 'आद्य तत्त्व दो में विभक्त होता है', से भी प्रतीत होता है। किन्तु यह 'अग्रता' कालिक नहीं होकर पारमार्थिक है। उसी पारमार्थिक प्रसंग में यथार्थ यह है कि प्रकृति प्रदत्त और प्रस्तुत स्थिति है, किंतु यह आत्म-निवारकदृष्टि से भी अन्त:प्रविष्ट है। यह दृष्टि जागृत हो जाने पर प्रकृति का उसके अपने आधार में रीतापन प्रकट कर देती है।

6

तत्त्व

'तत्त्व' शब्द बहुत से अर्थों में प्रयुक्त होता है। अपनी व्युत्पत्ति में यह पूर्णत: भाववाचक-उद्ग्रहणात्मक (एब्स्ट्रेक्ट) है : 'तत्-त्व' का योग, जिसमें 'तत्' स्वयं भाववाचक है, क्योंकि यह शब्द अवाच्य, संकेत-ग्राह्य, निर्विकल्पक प्रत्यक्षगम्य विषय का संकेत नहीं है, बल्कि निरपेक्षत: किसी भी वस्तु के संवेद और विकल्प से अग्राह्य विचारगम्य आधार का वाचक है, 'त्व' प्रत्यय केवल इस निरपेक्षता की पुन: पुष्टि के लिए है। यदि कहा जाए कि सभी भाववाचक पद अपने इस पक्ष में 'तत्त्व' पद के अन्तर्गत हैं तो भी अयुक्त नहीं होगा। उदाहरणत: 'गोत्व' और 'घटत्व' पद 'गाय' और 'घट' पदों के भाववाचक रूपान्तरण हैं और गायों तथा घटों के तत्त्वों के वाचक हैं। 'तत्त्व' पद वस्तुवाचक पदों के साथ प्रयुक्त होने पर उनके वाच्यार्थों (वस्तुओं) के तत्त्वों का वाचक होता है और इस प्रकार 'त्व' का ही पर्याय होता है, इनसे स्वतंत्र यह निरपेक्ष:अनिर्धारित : भाव या सत् का वाचक होता है।

किंतु इंद्रियगोचर वस्तुओं के वाचक पदों के साथ 'त्व' के प्रयोग को आधार-वाचक कहने के विरुद्ध कहा जाएगा कि यह एक अनावश्यक आरोप है, यह सब पदों को वास्तविक नाम मानकर उनके अनुसार वस्तुओं को खोजने का भ्रम है। अन्यथा व्यक्तिवाचक नामों के भाववाचक रूपान्तरण केवल सुविधामूलक हैं, अपने अर्थ में ये उद्ग्रहणात्मक (एब्स्ट्रेक्ट) हैं, देश कालात्मक व्यष्टि-वस्तुओं के समान अदेश-कालात्मक वस्तुएँ नहीं। और जिस प्रकार ये पद उद्ग्रहणात्मक हैं उसी प्रकार 'तत्त्व' पद भी उद्ग्रहणात्मक है। इस मतानुसार इन पदों को 'सामान्य' भी कह सकते हैं, जिनका आधार व्यष्टिनिष्ठ गुणों :वर्ण, आकृति आदि: में न्यूनाधिक समानता का होना होता है और उपयोग पद-लाघव होता है।

किन्तु यह सही नहीं है, तत्त्ववाचक पदों का एक प्रसंग जबकि सामान्यात्मक है, इसके दो अन्य प्रसंग भी हैं जो सामान्यात्मक नहीं हैं। इनमें एक प्रसंग धर्म या आधार का वाचक है और दूसरा भाव्य-वाचक। उदाहरणत: इन्द्रियगोचर प्रत्येक विषय निरन्तर परिवर्तमान है, स्थिति या प्रतिष्ठा-विहीन इन विषयों का हम कोई स्थायी आधार कल्पित करते हैं। व्यक्तिवाचक संज्ञा सामान्यत: इस आधार की ही वाचक होती है : 'राम' जन्म से मृत्युपर्यंत की अनवस्थाओं : गतिमान-ताओं : की अवस्थिति, उनकी प्रतिष्ठा, का वाचक पद है। इसी प्रकार, प्रत्येक

गाय उत्पन्न होती और मरती है, इस बीच वह निरन्तर बदलती है, किन्तु ये परिवर्तमानताएं प्रकारता और नियम की एकता व्यंजित करती हैं। ये प्रकारता और नियम इस गोचर अस्थिति और अनिश्चितता को आधार देते हैं। इसी प्रकार, प्रायः ही वस्तुएं, व्यष्टि या व्यक्ति अपनी अपर्याप्तता प्रकट करते हैं, जो अपर्याप्तता अपने प्रतिमान के रूप में अपनी पर्याप्तता या पूर्णता का आक्षेप करती है। यह आक्षिप्त पर्याप्ति उस वस्तु का तत्त्व कहा जाता है। पीछे तीसरे अध्याय में हमने इस अन्तिम प्रसंग पर विचार किया था।

किन्तु इन तीन : (1) सामान्यात्मक, (2) धर्मात्मक-आधारात्मक, और (3) भाव्यात्मक : प्रसंगों में भेद वास्तविक नहीं होकर केवल प्रातीतिक है। ऊपर हमने दूसरे प्रसंग का एक उदाहरण गोत्व का दिया है, जो प्रथम का भी उदाहरण है। पहले और दूसरे प्रसंग में भेद केवल इस आधार पर ही हो सकता है कि समानता को हम केवल इन्द्रियगम्य गुणों तक सीमित रखें और इसका अधिष्ठान व्यष्टियों को मानें। किन्तु उस अवस्था में सामान्य तत्त्व ही नहीं रह जाते, क्योंकि व्यष्टियों में समानता तब स्वयं एक गुण नहीं होकर देखने वाले की अपेक्षा से गुणों में न्यूनाधिक अनुरूपता होगी। तत्त्व ये तभी हैं यदि ये व्यष्टियों या विशिष्टों के अधिष्ठान हों और विगत-अनागत के मिलन-बिन्दुओं की प्रतिष्ठा हों, जैसे गोत्व गायों का और राम जन्म-मृत्यु के मध्यवर्ती क्रम का। अवश्य 'त्व' प्रत्यय से युक्त सब पद समान रूप से आधार वाचक नहीं होंगे : जैसे 'पंकत्व' पंकों का और 'व्रणत्व' व्रणों का आधार नहीं कहे जाएंगे, किन्तु इससे 'गोत्व' और 'घटत्व' पदों की आधारवाचकता का निषेध करना उसी प्रकार अयुक्त होगा जैसे 'गोत्व' की आधारवाचकता से 'पंकत्व' की आधारवाचकता सिद्ध करना।

अब यह देखना अधिक कठिन नहीं होना चाहिए कि आधारार्थक प्रयोग भाव्यार्थक प्रयोग का केवल दूसरा पक्ष मात्र ही है, क्योंकि तत्त्व आधार इसी कारण है क्योंकि यह विभिन्न वस्तुओं को अपने में आधृत करता है और उनमें व्यक्त होता है। किन्तु व्यक्त करने वाली ये वस्तुएं अपने आधार को केवल अंशतः और अपर्याप्ततः ही व्यक्त करती हैं, क्योंकि यदि अभिव्यक्ति पूर्ण हो तब अभिव्यंजक सभी वस्तुएं गुणों में अभिन्न भी होंगी और अन्यथा होने की संभावना से रहित भी। वस्तुओं में व्यष्टि-भेद और संभावनात्मकता इन वस्तुओं को तत्त्व की अपेक्षा से अपर्याप्त और तत्त्व को इनके लिए भाव्य बना देते हैं। इस प्रकार 'तत्त्व' पद के प्रयोग के पिछले दो प्रसंग अन्ततः निहितार्थ में एक ही हैं, जबकि प्रथम उद्ग्रहणात्मक है।

किन्तु 'वस्तु के आधार' या 'भाव्यता' का क्या अर्थ है? क्योंकि आधार वस्तु से भिन्न तो नहीं हो सकता। या कि वस्तु के दो पक्ष होते हैं, एक आधार और दूसरा आधृत या आधेय? यहां स्पष्टतः हमारा दूसरा ही मंतव्य है, किन्तु एक

स्पष्टीकरण के साथ, कि आधेय का वस्तु में वही स्तर नहीं है जो आधार का है, ये दो पक्ष समकक्ष नहीं हैं। हेगल ने इन दो पक्षों को क्रमशः तत्त्व (एस्सेंस) और प्रतीति (अपीयरेंस) कहा है। वह इन दो पक्षों को एक तीसरे: अस्तित्व (एक्चुआलिटी): में संयुक्त मानता है, अथवा कहें, इन्हें इस तीसरे से विश्लिष्ट कल्पनाएं (एब्स्ट्रेक्शंस) कहता है।[1] इसका अर्थ है कि तत्त्व के लिए प्रतीति अनिवार्य है, और एक-दूसरे प्रकार की पदावली में कहें तो, हम वस्तु-जगत् की सत्ता का ग्रहण दो स्तरों पर करते हैं: प्रतीति के स्तर पर और अनन्तर उसमें गुह्य उसके सत्य के स्तर पर: "हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।" आधुनिक सांप्रतिक पश्चिम के दार्शनिक सत्ता के इन दो स्तरों में भेद के घोर विरोधी हैं। पीछे हमने सार्त्र से एक उद्धरण दिया था, विट्गिंस्टाईन और उसके अनुयायियों द्वारा सामान्यों की सत्ता की आलोचना मनोव्यवहारवाद के रूप में प्रसिद्ध ही है, जिसका सबसे अधिक प्रशंसित प्रतिपादन हमें गिल्बर्ट राईल की पुस्तक **दि कांसेप्ट ऑफ माइंड** में मिलता है। किन्तु ये अभिमत तत्त्व के प्रश्न के सूक्ष्म तात्पर्य की अवहेलना ही करते हैं।

हमने पीछे कहा कि 'पंकत्व' पद केवल विभिन्न पंकों का संयुक्त रूप से कथन करता है किन्तु 'गोत्व' पद केवल यह नहीं करता, यद्यपि वह यह भी करता है। जैसाकि सब जानते हैं, सुकरात इस प्रश्न पर विचलित हो गया था।[2] वह इस कारण क्योंकि एक ओर वह 'गोत्व' और 'पंकत्व' पदों में व्याकरणात्मक समानता देख रहा था और दूसरी ओर इनके वाच्यार्थों में स्पष्ट भेद देख रहा था। अब, इनमें भेद क्या है? इनमें भेद यह है कि पंक में उसकी प्रतीति के आगे कुछ नहीं है, उसका स्वरूप उसकी इंद्रियगोचरता में निश्शेष हो जाता है और परिणामतः दो पंक अपने अस्तित्व और स्वरूप में परस्पर पूर्णतः पृथक् हैं। इनमें एकता केवल शब्द द्वारा, अथवा कहें अवधारणा द्वारा, आरोपित होती है। शब्दारोपित एकता कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, किन्तु इसका महत्त्व शब्द-बोध के योग्य चेतना के लिए है, इसका पंक से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत 'गोत्व' पद इंद्रियगोचर गाय-व्यष्टियों से आगे सत्ता के एक दूसरे स्तर का कथन करता है। गोत्व वह सत्ता है जो गायव्यष्टियों के रूप में व्यक्त होती है और जो सब गायों को अगायों से पृथक् स्वभाव और गुण देती है। सामान्यवाचक के रूप में 'गोत्व' पद ठीक ही विभिन्न गायों का एक-साथ कथन करने का भाषिक उपकरण है और इस प्रकार इसके वाच्य अविशिष्ट रूप से गाय-व्यष्टि ही होते हैं, इस भेद के साथ कि इस शब्द के द्वारा चेतना स्थूल और बाह्य के बन्धन से मुक्त होकर अपनी निजी भूमि पर विचरण कर पाती

1. हेगल—दि साइंस ऑफ लॉजिक, पृ० 389-90।
2. प्लेटो—पार्मेनाइडीज, 130 डी.।

है और इस चेतना के लिए गाय-व्यष्टियों का प्रत्यक्ष प्रत्यय-व्यवहित हो जाता है। यह चेतना की एक बहुत बड़ी उपलब्धि है और इस उपलब्धि के द्वारा ही यह व्यष्टियों के इन्द्रिय-ग्राह्य स्तर से आगे उनके अतीन्द्रिय-ग्राह्य तत्त्व को देख पाती है। बाह्यतः साक्षात्कृत इन तत्त्वों के समान ही कुछ दूसरे तत्त्व हैं जिनका साक्षात्कार मानव-चेतना स्वयं अपने भीतर करती है, जैसे घटत्व-पटत्व आदि का, गणित, विज्ञान, काव्य और दर्शन आदि का, और उसके भी ऊपर मनुष्यत्व का, जो स्वयं चेतना के अपने तत्त्व के साक्षात्कार हैं। अपने भीतर तत्त्वों का साक्षात्कार इसे बाह्य तत्त्वों के सम्बन्ध में एक निश्चितता देता है। यद्यपि असंख्य दार्शनिक हैं जो घटों से आगे घटत्व को देखने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं, किन्तु यह देखना उतना कठिन नहीं है कि किसी भी घट-व्यष्टि के आविर्भाव के पहले मानव-चेतना में घट-प्रत्यय का आविर्भाव होता है जो मानव-कर्म के द्वारा भौतिक उपादान में घट-व्यष्टियों के रूप में आविर्भूत होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि तत्त्वों का साक्षात्कार हम कल्पना में करते हैं, जैसे पहले देखे गए विषयों का। यह साक्षात्कार हम अतीन्द्रिय रूप से करते हैं यद्यपि उसे 'जानते' हम उस आविर्भाव के माध्यम से हैं जो इन अलौकिक सत्त्वों का इस लोक में होता है। बहुत से प्रत्ययों में हम तत्त्व और उसकी भौतिक उपादान में अभिव्यक्ति के बीच की दूरी को बहुत कष्टकर पाते हैं और इसे पाटने का प्रयत्न करते हैं : उदाहरणतः किसी जटिल विचार की भाषा में अभिव्यक्ति में, ज्यामितिक प्रत्ययों की भौतिक आकृतियों में, और सर्वाधिक, अपने तत्त्व की अपने अस्तित्व में : और बहुतों में वैसा नहीं पाते। यह दूरी भौतिक उपादान में प्रत्यय से अपर्याप्तता के रूप में और प्रत्यय में आकर्षण-शक्ति के रूप में होती है जो संयुक्त रूप से अस्तित्व में प्रतिफलित होती है। आन्तरतः साक्षात्कृत तत्त्वों : जैसे घट आदि : के समान ही बाह्यतः साक्षात्कृत तत्त्व भी हैं : जैसे गोत्व आदि जो विभिन्न व्यष्टियों में अस्तित्व ग्रहण करते हैं और उन व्यष्टियों को वह रूप देते और उस रूप में उनका धारण करते हैं जो रूप उनका होता है।

यहां आपत्ति की जा सकती है कि आन्तरतः साक्षात्कृत तथाकथित तत्त्वों की काल्पनिकता स्पष्ट है : घटत्व घटों के अतिरिक्त और सरल रेखा कागज़ पर बनी सरल रेखाओं के अतिरिक्त मात्र कल्पनाएं हैं, जिस प्रकार दिवास्वप्न होते हैं— इस भेद के साथ कि ये कल्पनाएं शब्दमूलक हैं और परिणामतः भाषा का स्वरूप जाने बिना इनका निवारण सम्भव नहीं होता। किन्तु यह आपत्ति भ्रामक है। यदि घट घट-प्रत्यय को पूर्वापेक्षित करता है और विभिन्न घट अपने भौतिक उपादान और विविध आकृतियों से निरपेक्ष उस प्रत्यय से सम्बन्धित हैं, तब यह प्रत्यय इन आकृतियों में आविर्भूत तत्त्व है और इनके अस्तित्त्व के स्वरूप का नियामक है। वास्तव में घट के लिए उपादान : मिट्टी, स्वर्ण, ताम्र आदि : और आकृति : लघुता गुरुता या तनु-पृथुलग्रीवता आदि : की आगन्तुकता एक ओर घट-व्यष्टियों की तत्त्व

की अपेक्षा से न्यूनता की द्योतक है और दूसरी ओर तत्त्वों की स्वतन्त्र साक्षात्कार्यता की द्योतक है। अस्तित्व की तत्त्व की अपेक्षा से आगन्तुकता और अपर्याप्तता की चरमता हम उन प्रसंगों में देखते हैं जिनमें हमारे लक्ष्य सीधे ये तत्त्व ही होते हैं, उनका अस्तित्व नहीं। उदाहरणतः ज्यामिति या आकारिक तर्क में : त्रिकोण या वर्गाकार के बारे में बात करते हुए हम कागज पर बनाई गई त्रिकोणाकृति या वर्गाकृति के प्रति नितान्त उपेक्षापूर्ण होते हैं, वे हमारी विषय नहीं होतीं। ऐसा घटों या गायों के प्रसंग में प्रायः नहीं होता, किन्तु हो सकता है, जैसे प्रस्तुत प्रसंग में हमारे विषय अस्तित्ववान् घट-व्यष्टि नहीं होकर स्वयं घटत्व है और उसके आगे वह तत्त्व-सामान्य है जिसमें विभिन्न तत्त्व धारण होते हैं।

यहां पुनः आपत्ति की जा सकती है कि अस्तित्व के बिना तत्त्वों की काल्पनिकता इससे स्पष्ट है कि सरल रेखा का भौतिक देश में सम्यक् अस्तित्व असंभव होने से अत्यन्त सरलता के प्रत्यय की ही काल्पनिकता सिद्ध हुई है न कि भौतिक देश का कोई दोष, जैसा कि हमारे उपर्युक्त प्रतिपादन में कहा गया है। इसी प्रकार, एक अनुभव की व्याख्या के लिए हम विभिन्न सिद्धांतों का आश्रय लेते हैं, परिणामतः यह वैभिन्न्य सिद्धांतों की अपर्याप्तता ही दिखाता है, अनुभव की सिद्धांत से अपर्याप्तता नहीं।

ये आपत्तियां बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि ये बहुत गहरी सैद्धान्तिक भ्रान्तियों को प्रदर्शित करती हैं। इनमें पहली आपत्ति का उत्तर है कि, यह सही है कि वास्तविक भौतिक देश स्वरूपतः वक्र है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सरलता तत्त्व नहीं है। तब पूछा जा सकता है कि यह किसका तत्त्व है ? इसका उत्तर होगा कि भौतिक देश ही का, जिसके मानदंड पर भौतिक देश की वक्रता द्योतित होती है। अवश्य इस वास्तव देश की भी ज्यामिति हो सकती है, जो कि आधुनिक युग में र्हीमान द्वारा विकसित की गई है, किन्तु यह ज्यामिति यूक्लीडीय ज्यामिति का बाध नहीं करती, यह ज्यामिति अस्तित्व की : इन्द्रियगोचर की : व्यवस्था का, उसके तत्त्व से निरपेक्ष, अवगाहन करती है, जैसे गाय का देह-विज्ञान वास्तव गाय की दैहिक क्रिया-व्यवस्था का अवगाहन करता है। इसे आनुभविक सामान्य : साधारण : का अन्वेषण भी कहते हैं, किन्तु लक्ष्य यहां भी तत्त्व ही होता है, व्यवहार की सरलता के लिए शब्द-कल्पित साधारण नहीं है।

जहां तक एक अनुभव की विभिन्न व्याख्याओं का सम्बन्ध है, इन व्याख्याओं से तत्त्व की वास्तविकता ही सिद्ध होती है, काल्पनिकता नहीं, क्योंकि अनुभव की व्याख्या की आवश्यकता इस बात की द्योतक है कि प्रस्तुत में केवल ऊपरी सतह ही प्रकट होती है जिसके नीचे विचार द्वारा जाने की आवश्यकता होती है, और विचार उन नवीन अर्थों को प्रकट करता है जो संवेद और संवेदमूलक विचार द्वारा गम्य नहीं होते। व्याख्याओं की विभिन्नता वास्तव में तत्त्व-विषयक ही होती है,

प्रतीति-विषयक नहीं, क्योंकि सिद्धांत जिस अनुभव की व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं वह तत्त्व-विषयक ही होता है, संवेद-विषयक नहीं। उदाहरणतः बुद्ध का जरा और मृत्यु के प्रत्यक्ष पर से दुःखिता का अनुभव, अथवा गोएथे का पौधों के अवलोकन पर से आद्य वानस्पत्य आकार का साक्षात्कार, अथवा स्पैंग्लर का मानव-निर्मित वस्तुओं और मानव-कल्पित विचारों के अवलोकन पर से संस्कृति-तत्त्व का साक्षात्कार। ये अनुभव या साक्षात्कार तात्त्विक थे जिनकी व्याख्याएं स्वयं इन अनुभव करने वालों और उनके परवर्तियों ने कीं। वास्तव में 'अनुभव' शब्द का प्रयोग हम तीन पर्याप्त भिन्न अर्थों में करते हैं: (1) संवेदन-ग्रहण के अर्थ में, (2) विषय-जगत् से चेतना के साम्मुख्य के अर्थ में, और (3) इस साम्मुख्य के प्रतीकात्मक रूपान्तरण-मूलक साक्षात्कार के अर्थ में। इनमें पहला अर्थ दर्शन में आज रूढ़ होने पर भी वास्तव में पारिभाषिक और उद्ग्रहणात्मक है, यह साधारण प्रयोगमूलक अर्थ नहीं है; तीसरा अर्थ दूसरे का विस्तार है, जो विस्तार पारिभाषिक नहीं होकर वास्तविक है, क्योंकि विषय-जगत् उतनी ही व्यापकता, गांभीर्य और सावयवता (ऑर्गेनिक-यूनिटी) प्रकट करता है जितने के ग्रहण की सामर्थ्य चेतना में होती है। इस साक्षात्कारी तत्त्व-दृष्टि को जब दर्शक स्वयं या अन्य विचारक भाषा या विमर्शात्मक विचार के माध्यम से समझना चाहता है तब वह एक ओर पुनः अवगमन-विषय होती है और दूसरी ओर अवगमन का अतिक्रमण करती है। साक्षात्कारी दृष्टि की विमर्श-दृष्टि के लिए यह अनवगाह्यता या अतिक्रान्तता ही विभिन्न सिद्धांतों की सार्थकता की हेतु बनती है।

इस प्रकार आन्तरतः साक्षात्कार्य और बाह्यतः साक्षात्कार्य तत्त्वों में कोई स्वरूपगत अन्तर नहीं है, केवल यह अन्तर है कि प्रथम प्रकार के तत्त्व स्वप्रकाशक चेतना को अस्तित्व से निरपेक्षतः साक्षात्कार्य होते हैं और दूसरे प्रकार के तत्त्व अस्तित्व के माध्यम से साक्षात्कार्य होते हैं। किन्तु यह भेद भी वास्तव में नितान्त मौलिक नहीं है, उदाहरणतः भाषाएं, संस्कृतियां, संस्थाएं ऐसे अस्तित्व हैं जो मनुष्य के द्वारा अस्तित्व में लाये गए हैं और इस प्रकार इनके तत्त्व इनके अस्तित्व से पूर्व साक्षात्कृत होने चाहिए। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता, ये मनुष्य के माध्यम से स्वतोद्भूत अस्तित्व हैं, जैसे पक्षी के लिए नीड़, जिनके तत्त्वों का साक्षात्कार हम उतना ही बाह्यतः करते हैं जितना आन्तरतः।

हमने पीछे देखा कि कुछ अस्तित्व तत्त्व-शून्य होते हैं, कुछ तत्त्व में अपेक्षाकृत विपन्न होते हैं, और कुछ दूसरे तत्त्व में अधिक सम्पन्न होते हैं। तत्त्व के अभाव और मात्रा-भेद का मानदण्ड उसके संवेदगम्य रूप और उसके वास्तव स्वरूप या 'तात्पर्य' के मध्यवर्ती अन्तराल को कहा जा सकता है। पंक को हमने तत्त्व-शून्य विषय के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया था, इन्द्रियगम्य गुण: वर्ण, गन्ध,

काठिन्य आदि : इसके दूसरे उदाहरण हो सकते हैं। निश्चय ही ये गुण संयुक्त रूप से एक अत्यन्त समृद्ध तत्त्व के लिए प्रतीक बनते हैं और इस प्रकार एक-एकशः भी उसके व्यंजक रूप में देखे जा सकते हैं; किन्तु जिस प्रकार साधारणतः नीलिमा, काठिन्य या माधुर्य आदि सामान्यों की चर्चा की जाती है उस प्रकार ये तत्त्व-शून्य समवायों के वाचक पद-मात्र हैं। बौद्ध और पाश्चात्य अनुभववादी दार्शनिक इन्हें ऐसा ही देखते हैं। संवेदगम्य का तत्त्व उसकी विशिष्टता या व्यष्टिता है, और इस प्रकार दो बार देखी गई नीलिमा दो विशिष्ट घटनाएं हैं और नीलिमा या वर्ण के रूप में ये अपनी प्रतीति में पर्यवसायी हैं। क्योंकि नीलिमा जब संवेद-प्रदत्त से आगे नीलवर्ण के अस्तित्व, या वस्तुता की भी, बोधक होती है तब भी यह प्रतीत से गहनतर किसी अन्य अर्थ की व्यंजक नहीं होती। इस प्रकार नीलिमा-सामान्य कोई तत्त्व नहीं होकर समानता-ज्ञापक पद मात्र है, यद्यपि पद के रूप में यह पद-प्रयोक्ता को स्थूल और चल के ग्राह से मुक्त कर चेतनामूलक अर्थों के लोक में प्रतिष्ठित कर देता है।

इसके विपरीत गोत्व, चंपकत्व, पुंडरीकत्व क्रमशः गायों, चंपकों और पुंडरीकों के उत्सर्जक, अधिष्ठापक और नियामक तत्त्व हैं; ये सर्जनात्मक प्रत्यय हैं जिस प्रकार घट, भवन या काव्य में प्रादुर्भूत प्रत्यय होते हैं, अथवा जिस प्रकार नीड़ या मधु होते हैं। इनकी तत्त्वता एक ओर सर्जनात्मकता और प्रयोजनोन्मुखता में प्रकट होती है और दूसरी ओर उस संभावनात्मकता में जो सृष्ट वस्तुओं अथवा अस्तित्वों के रूप की विविधता में अपने को व्यंजित करती है। किन्तु तत्त्वों के लिए इन दोनों से अधिक महत्त्वपूर्ण प्रमाण एक ओर अस्तित्व की अपर्याप्तता है और दूसरी ओर उसकी असंहतता। अपर्याप्तता का अर्थ हमने पीछे देखा है, असंहति भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। 'असंहति' का अर्थ है देश में भागों और अंगों की परस्पर से बाह्यता और काल में क्षणों की परस्पर से बाह्यता। इस प्रकार इस अस्तित्व के भाग तथा क्षण उस तत्त्व के द्वारा उस सावयवता या संहति में धारण होते हैं जो वह है : गाय, श्वान, नीड़ या घट : नीड़-तत्त्व पक्षी को अपना उपकरण बनाकर पृथक् तिनकों को नीड़ की संहति में ग्रथित और आकारित करता है। किसी को यह कथन यदि कर्तृ वाचक रूप में पसन्द नहीं आए तो इसे कर्मवाचक रूप में भी कहा जा सकता है : नीड़ तत्त्व पक्षी के माध्यम से पृथक् तिनकों की संहति में आकारित होता है। किन्तु संहति तत्त्वमूलक होने से अस्तित्व में सदैव न्यूनाधिक ही रहती है। उदाहरणतः गौरैया के नीड़ की अपेक्षा बया का नीड़ अधिक सुघड़ होता है।

अब, इस अपर्याप्तता और असंहति के रूप, प्रकार और संभावनाओं की मात्रा : विस्तार और गांभीर्य दोनों में : तत्त्वों की विपन्नता और सम्पन्नता की मापक होती है। उदाहरणतः तत्त्व में भवन नीड़ से भी अधिक सम्पन्न है और गाय से

भी, किन्तु काव्य और प्राणी की तुलना में यह अत्यधिक विपन्न है। किन्तु मनुष्य इन दोनों की तुलना में संपन्नतर है और वास्तव में इसमें तत्त्व एक सर्वथा भिन्न आयाम में प्रकट होता है। यह आयाम चेतना की प्रत्यङ्.मुखता का है, जिसमें एक ओर बाह्य विषय प्रत्यय के दर्पण में प्रतिबिम्बित के रूप में परोक्षतः ग्राह्य होता है और दूसरी ओर एक अन्य विषय : आत्मा : अनवगाह्य संभावना और अगम्य शिखर के रूप में प्रस्तुत होता है। बाह्य विषय से सम्बन्ध की यह परोक्षता चेतना को विषय की प्रतीतिगम्य सतह से मुक्ति देकर उसके यथार्थ को, उसके तत्त्व को, देखने की सामर्थ्य देती है। यह इसे इस परिपृच्छा के योग्य बनाती है कि "जो है, वह नहीं क्यों नहीं है, अथवा, जैसा है उससे भिन्न क्यों नहीं है ?" बल्कि जगत् ही का अभाव और अन्यथा-भाव इसके लिए कल्पनीय हो जाता है। यह वस्तुओं की, और जगत् की भी, आगन्तुकता का बोध है। किन्तु किसी वस्तु की आगन्तुकता का बोध उसकी तात्त्विक अनिवार्यता की ओर संकेत करता है : तर्कतः भी और सत्त्वतः (ओंटोलोजीकली) भी। तर्कतः इसलिए कि आगन्तुकता सापेक्ष अवधारणा है, और सत्त्वतः इसलिए क्योंकि आगन्तुकता भाव का आंशिक अभाव है, जो अभाव अपने निवारण के लिए व्यग्र रहता है : जैसे देह अपने अस्वास्थ्य के निवारण के लिए व्यग्र रहती है।

आगन्तुकता सत्ता के पक्ष में जबकि तत्त्व की पूर्वापेक्षी है, बोध के पक्ष में यह स्वातंत्र्य की पूर्वापेक्षी है, और स्वातंत्र्य एक ओर आरोप का निषेध है और दूसरी ओर अपने में प्रतिष्ठा है। आगन्तुकता स्वयं में अनात्म-प्रतिष्ठा है, क्योंकि आगन्तुकता वह नहीं होने की सम्भावना है जो है, परिणामतः जो है और जो संभव है वह सब अपने आधार में नहीं होने से ही आगन्तुक होता है। इसी प्रकार आगन्तुकता अध्यास के निषेध की असामर्थ्य भी है, क्योंकि यह निषेध स्वरूप के बोध को पूर्वापेक्षित करता है, जो बोध सब आगन्तुकताओं को अपनी अनिवार्यता में धारण करता है। आगन्तुकताओं के इस प्रकार धारण हुए बिना आत्म अन्यथा हुए होने और अन्यथा हो जाने की सम्भावना के सम्मुख अवश होगा।

इस प्रकार स्वातंत्र्य आत्मबोध की अपने आधार में प्रतिष्ठा है। आगन्तुकता से इसका सम्बन्ध निषेध का है : इस रूप में कि यह अपने में विद्यमान अनात्म के निवारण का प्रयत्न करता है और आत्म को अपने आधार में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करता है। आत्म-प्रतिष्ठा या स्वातंत्र्य का यह भी अर्थ है कि स्वतंत्र अपना नियामक स्वयं होता है, वह अपने को स्वयं घटित करता है। अपना नियामक वही हो सकता है जो नियम से पूर्ववर्ती हो, अपने को वही घटित कर सकता है जो अपने घटित होने से पूर्ववर्ती हो। इस स्थिति को अस्तित्ववादियों ने स्वतंत्र की अतत्त्वता कहा है। उनके अनुसार, स्वतन्त्र : मनुष्य : का कोई तत्त्व नहीं है, क्योंकि वह प्रतिक्षण अपने को नया घटित करता है। क्योंकि, उनके अनुसार, तत्त्व

होने पर वह स्वभाववश हो जाएगा, वह अपना नियामक नहीं रहकर स्वभाव से नियमित हो जाएगा।

किन्तु इसमें दो बड़ी भ्रांतियां हैं : एक यह कि अपने को घटित करना काल-स्वभाव होना है, कम-से-कम इस अर्थ में कि ऐसा सत्त्व या संकल्प अतीत और अनागत में अपने अभाव से परिच्छिन्न होगा। दूसरे यह कि उसकी प्रतिष्ठा अपने में नहीं होकर निषेध में होगी : प्रकारता का निषेध, भाव का निषेध, भाव्यता का निषेध, और संभूति का निषेध। यहां आपत्ति की जा सकती है कि अस्तित्ववादी भाव्यता का निषेध नहीं करते, क्योंकि वे चेतना की निषेधकता को भविष्यतता से ही परिभाषित करते हैं।[3] यह सही है, किन्तु भविष्यतता भाव्यता नहीं है, भाव्यता तात्त्विक अपर्याप्तता के निवारण की प्रक्रिया है; भाव्य पुरुषार्थ है, जबकि सार्त्रीय भविष्यत् केवल अग्रोन्मुखता में भाव का, विद्यमानता का, निषेध है। किंतु यह स्वतंत्रता नहीं होकर व्यग्रता होगी। स्वातंत्र्य अपनी प्रतिष्ठा स्वयं होने में है, किन्तु यह प्रतिष्ठा अस्तित्व में नहीं : जो प्रतिष्ठाहीनता है : तत्त्व में ही हो सकती है। अवश्य स्वातंत्र्य अपना कारण स्वयं होने में, अपने को स्वयं घटित करने में है, किंतु यह घटना अस्तित्वात्मक और इस प्रकार कालात्मक नहीं हो सकती, क्योंकि यदि यह घटना अस्तित्वात्मक होगी तो यह इतराश्रित नहीं होने पर भी स्वाश्रित नहीं होगी, यह आगन्तुक होगी। 'अपने को घटित करना' में जो घटना से पूर्व संकल्प का कथन है वह संकल्प यदि निस्स्वभाव है तो वह स्वयं एक आगन्तुक घटना ही हो सकता है। परिणामतः संकल्प स्वभाव की पूर्णता है, अर्थात् स्वतंत्र अपने को स्वभाव के रूप में, तत्त्व के रूप में, घटित करता है। किंतु यह संकल्प अपने को घटित करने के साथ आत्मव्यवहित हो जाता है : यह स्मरणीय है कि अपने को घटित करने का यह संकल्प और घटना काल में नहीं होते, यद्यपि इस घटना के साथ ही काल का आविर्भाव हो जाता है और यह काल व्यवहित भाव तथा अव्यवहित भाव्य के बीच तनाव के द्वारा एक ओर और अव्यवहित भाव की स्मृति के द्वारा दूसरी ओर अंतर्वस्तु पाता है।

यहां 'स्मृति' के संबंध में स्पष्टीकरण स्थाने होगा, इसकी चर्चा सर्वप्रथम और सप्रमाण प्लेटो ने फीडो संवाद में की है[4] : बहुत सी बातें हैं जो हम देखते और उनका स्मरण रखते हैं, किन्तु देखे हुए या देखे जा रहे की सार्थकता हम उस पर से प्राप्त नहीं करते। घटनाओं या स्थितियों में सम्बन्धों, और उनकी सतह के

3. "द्रष्टव्य ज्यां पॉल सार्त्र-बींग एंड नथिंगनेस, पृ० 28.
"बींग ऑफ फार-इट्सेल्फ इज़ ऐज़ बींग व्हाट इट इज़ नॉट एंड नॉट बींग व्हाट इट इज़"
(आत्म-चेतन का सत्त्व वह होना है जो वह नहीं है, और वह नहीं होना है जो वह है)
4. फीडो–72 ई–78बीं.

नीचे उनके सत्य या तत्त्व का साक्षात्कार, यह हम मनन या 'विचार की गहराई में उतर कर' ही करते हैं। बुद्धि या कल्पना की सृजनात्मकता या उर्वरता उस अव्यवहितत्व की ही सिद्धि है जो अपने को घटित करने के साथ व्यवहित हो गया रहता है। यह अव्यवहितत्व साधारण अर्थ में विषयिनिष्ठता नहीं होकर चित् में सत् की प्रतिष्ठारूप होता है, यह प्रमाण का प्रमेय के साथ प्रमा में एकीभाव होता है।

यह भयानक, बल्कि उपहासास्पद भी, शब्दाडंबर प्रतीत हो सकता है, किन्तु थोड़ा निराग्रह होकर देखने पर यह वैसा प्रतीत नहीं होगा। यह ऐसा प्रसंग है जो भाषा की सीमा का अतिक्रमण करता है और परिणामतः जिसे व्यक्त करने में भाषा को वक्र होना पड़ता है। इन्द्रिय-ग्राह्य विषय और उनके समवाय, ये चेतना को उसकी निष्क्रियता में अभिभूत और चकित करते हैं। यह प्रातिभासिक या चित्र-लोक एक दूसरे प्रकार का रहस्य प्रस्तुत करता है, यद्यपि यह स्वयं रहस्य के स्तर तक नहीं उठ सकता। किन्तु प्रतिभास के सत्य की जिज्ञासा और ज्ञान आत्म-अव्यवहितत्व की ओर संकेत करते हैं, जिसे और किसी प्रकार नहीं समझा जा सकता सिवाय उस अव्यवहित यौगपद्य या आत्मप्रकाशकत्व के जो आत्मव्यवहित : आत्मविभक्त : हो गया है।

यहां उदाहरण के लिए डारविन की दृष्टि को लें। यह सही है कि उसका सिद्धांत प्राणियों के विस्तृत अध्ययन पर आधारित है, किन्तु विकासवाद उन तथ्यों की बहुलता की एक समूहवाचक संज्ञा नहीं है, वह उस बहुलता से संकेतित किंतु उससे सर्वथा भिन्न एक सत्य है जिसका साक्षात्कार उसकी दृष्टि ने उन तथ्यों के पीछे जाकर किया। इस पर कहा जा सकता है कि, तब वह सत्य चरम और अप्रत्याख्येय होना चाहिए, जोकि वह नहीं होता। इसका उत्तर है कि ऐसा सत्य चरम होना अपेक्षित नहीं है, ऐसा वह इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि मनुष्य को साक्षात्कारी चेतना अपनी निरुपाधिकता में उपलब्ध नहीं होती, किंतु जिस सीमा तक यह उपाधि-मुक्त हो पाती है उस सीमा तक वह अवगत सत्य अप्रत्याख्येय होता है। डारविन के तथ्यों के सम्बन्ध में दूसरी दृष्टियां सम्भव हैं, किंतु वे अधिकांशतः उसकी पूरक ही हैं, असत्यापक नहीं। इधर पश्चिम के अनुभववादी दार्शनिकों ने इस पर से जो निष्कर्ष निकाला है कि वैज्ञानिक सिद्धांत सत्यासत्य नहीं होते, वे केवल विषयिनिष्ठ व्यावहारिक कल्पनाएं मात्र होते हैं, उसमें यह दृष्टि-दोष है कि वे चेतना को इन्द्रियात्मक और सत्य को इन्द्रियगोचरता तक सीमित देखते हैं। किंतु डारविन द्वारा इन्द्रिय-गोचर तथ्य-समवाय में देखा गया सत्य उस दृष्टि का आत्मप्रकाशन है जो इस सत्य को देखती है, और इस कारण यह कल्पना या सुविधामूलक व्यवस्थापन नहीं होकर चित् और सत् के बीच व्यवधान का निवारण है। इसे और भी अधिक स्पष्टता के साथ तत्त्वमीमांसा

में देखा जा सकता है, जहां हम सीधे आत्मव्यवधान के तथ्य से ही जूझते हैं और समग्र आत्म-व्यवहितत्व को साधना चाहते हैं। इसमें भ्रम उसी प्रकार सम्भव है जिस प्रकार इन्द्रिय-विषय-ग्रहण में; इस भेद के साथ कि इसमें भ्रम के स्तर और प्रकार प्रमेय की विपुलता के कारण असंख्य होते हैं।

स्वतंत्र सत्त्व के अपने को घटित करने के साथ आत्मव्यवहित होने का क्या अर्थ है? क्या आत्मव्यवहितत्व इस घटित होने का अनिवार्य परिणाम है और इस प्रकार संकल्प के वश के बाहर है, या कि संकल्प स्वतंत्रतया अपने को एक-साथ घटित और व्यवहित करता है? इनमें से जो भी विकल्प हम चुनें उससे यह निष्कर्ष समान रूप से निकलेगा कि घटित होना व्यवहित होना भी है और परिणामतः संकल्प इस व्यवधान का निवारण नहीं कर सकता। यदि कहा जाय कि व्यवधान का आरोप संकल्प का स्वतंत्र चयन होने से वह स्वातंत्र्य के द्वारा ही निवार्य है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि तब यह भी सम्भव होगा कि स्वातंत्र्य अपने को अव्यवहितत्व में ही घटित करे। वास्तव में अद्वैत वैदान्तिक विवर्तवाद का यही मंतव्य है: कि व्यवधान स्वतंत्र संकल्प का स्वतंत्र चयन है। किन्तु तब स्वतंत्र वास्तव में कभी अपने को घटित और व्यवहित दोनों ही नहीं करता, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि वह घटित तो करता है किंतु व्यवहित नहीं करता; अपने को व्यवहित करना उसके स्वभाव के विरुद्ध है, स्वतंत्रतया वह केवल व्यवधान को अनुज्ञापित ही कर सकता है। ऐसा वह किस प्रकार कर सकता है, इसे किसी उपमा से नहीं समझाया जा सकता, क्योंकि सब उपमान लोक से ही हो सकते हैं, जो अनिवार्य व्यवहितत्व का क्षेत्र है।

किंतु तब यह कहा जा सकता है कि यदि ब्रह्म अव्यवहित संकल्प है: यदि वह घटित होने पर भी पूर्णतः 'अपापविद्धं' है: तब व्यवधान असत् होने से लोक में भी व्यवधान विद्यमान नहीं होगा। यहीं पर स्वातंत्र्य का निगूढ़ रहस्य निहित है: मानव-चैतन्य व्यवहित चैतन्य है, किंतु अव्यवहितत्व में अतिक्रमण की संभावना और चेतना के साथ। एक कवि शब्दों के बिना अपने बोध का साक्षात्कार नहीं कर सकता, न चित्रकार रंग और रेखाओं के बिना अपने बोध का साक्षात्कार कर सकता है, और इन माध्यमों में व्यक्त बोध अनिवार्यतः न्यूनाधिक अपर्याप्त होता है: एक तो बोध के पक्षतः ग्रहण के रूप में और दूसरे, इस बोध की अभिव्यक्ति की सम्यक्ता के न्यूनाधिक्य के रूप में। यहां यह स्मरणीय है कि इनमें प्रथम : पक्ष-ग्रहण : भौतिक माध्यममूलक नहीं होता, बल्कि यह आद्य घटना-मूलक होता है। इसे हमने पीछे और अन्यत्र[5] अहंकार कहा है। किन्तु मानव-चैतन्य में

5. मनुष्य और जगत् पुस्तक में 'आत्म और अनात्म' अध्याय।

प्रत्यङ्मुखता या विपश्यनात्मकता स्वयं इस व्यवहिततत्त्व को भी आंशिक बना देती है : कवि के लिए माध्यम एक-साथ व्यवधान और साक्षात्कार का साधन बनता है। कविता में बोध एक-साथ बाधित और स्फुटित होता है, और पुनः, यह बाधा कवि को विदित होती है : शब्द बोध से अनुप्रविष्ट और रूपान्तरित ध्वनि है और कविता में ये शब्द उपादान बनकर आनुभूतिक तत्त्व (एस्सेंस आफ फीलिंग) के साक्षात्कार की अभिव्यक्ति के माध्यम बनते हैं।[6] किंतु यहां सर्वत्र संकल्प अपने को घटित करके ही इस अंतर्विरुद्ध स्थिति को प्राप्त होता है। घटना-जन्य यह व्यवधान इस व्यवधान का सृजन और बोध में उसका अतिक्रमण ही वह स्मृति है जिसका उल्लेख हमने पीछे किया था। इस परिस्थिति को यहां एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करना स्थाने होगा : असंख्य प्रेम-काव्य प्रेम-तत्त्व को व्यवहित और व्यक्त करते हैं, और एक कवि का प्रेम-काव्य उसके प्रेमानुभव के साक्षात्कार को। यह तत्त्व अपने स्वरूप में अभिन्न होता है, किंतु घटना और अभिव्यक्ति वैभिन्न्य को पूर्वकल्पित करती हैं। इस प्रकार कोई पूर्णतः सम्यक् अभिव्यक्ति वह होगी जो विभिन्नताओं को अभिन्न के समतुल्य बना देगी। किंतु अभिन्न और विभिन्न में एक मौलिक अंतर है, कि अभिन्न केवल विभिन्नता में ही अपना वैभव और संपन्नता देखता है, यद्यपि उस सामग्री की प्रामाणिकता मूल अभिन्न तत्त्व से ही आती है। अब, यह वैभिन्न्य जितना ही अधिक होता है उतना ही अभिन्न के निकट होता जाता है। यह अभिन्न के समतुल्य तब कहा जा सकता है जब यह 'समग्रता' को पा लेता है : यद्यपि समग्रता को पाना असम्भव है। अभिन्न के विभिन्न होने की क्रिया संकल्प के घटित होने से जनित व्यवधान के निवारण का प्रयत्न है। इस प्रकार व्यवधान का तत्त्व उसके अव्यवहितत्व में है और उसका याथार्थ्य उसके आत्मनिवारण में।

किंतु मानव-चैतन्य अनिवार्यतः सीमित और व्यक्तिमूलक है और इस प्रकार मूलतः घटनात्मक और व्यवहित तथा भिन्न है। इसलिए जब हम कहते हैं कि मनुष्य अपने को स्वतंत्रतया घटित करता या अपना आक्षेप करता है तब हमारा अभिप्राय मनुष्यता से नहीं होता, मानव-व्यक्ति से होता है। अब, यदि मानव-व्यक्ति आद्य संकल्प और इस संकल्प के अपने को घटित करने का परिणाम है, तब उसकी व्यक्तिता आद्य और सीमितता अनिवार्य हो जाती हैं। अवश्य वह अपने तत्त्व का संकल्प में अतिक्रमण करता है : इस अर्थ में कि वह अपने व्यक्तित्व का उसके भाव्य या साध्य और उसकी साधनाओं तथा सम्भावनाओं के साथ स्वयं आक्षेप करता है और परिणामतः उससे अतिरिक्त हो जाता है, और इस प्रकार स्वयं उस आक्षेप का निषेध कर अपना अन्य प्रकार से भी आक्षेप कर सकता है,

6. द्रष्टव्य आगे 'कला-तत्त्व', तथा मनुष्य और जगत् में 'कला-सर्जन' अध्याय।

किंतु वह व्यक्तित्व की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकता, और यदि वह व्यक्तित्व की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकता तब वह अपने आक्षिप्त तत्त्व से भी पृथक् नहीं हो सकता, क्योंकि इस अतिक्रमण की सामर्थ्य का अर्थ होगा कि तब वह ऐसा उद्देश्य है जो विधेय के रूप में किसी भी प्रकार के व्यक्तित्व से अवच्छिन्न हो सकता था : राम रामत्व से अवच्छिन्न है, यह राम का स्वतंत्र संकल्प है, किन्तु तब राम लक्ष्मणत्व से भी अवच्छिन्न हो सकता था, यदि वह वैसा संकल्प करता, या यदि वह अब वैसा संकल्प करे। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति निर्गुण चैतन्य है जो सगुण होने का संकल्प करता है, और वह इस प्रथम अवसर पर जो भी चाहे चयन कर सकता है, और वह प्रत्येक अवसर प्रथम होगा जिसमें वह स्वतंत्र है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य स्वरूपतः तत्त्व-रहित है : अतात्त्विक है : तत्त्व उसका अपना वरण है। अब क्योंकि यह वरण अतत्त्व का है इसलिए यह आगंतुक है कि वह क्या वरण करेगा। इस प्रकार, भले ही मनुष्य अस्तित्व मात्रता नहीं हो, क्योंकि उसका अस्तित्व स्वयं संकल्प द्वारा घटित है और इस प्रकार वह अपने अस्तित्व से पूर्व है, और क्योंकि वह अस्तित्व की इस घटना को संकल्प द्वारा घटित करता है इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि वह अपने को तत्त्व के रूप में घटित करता है, किंतु तब संकल्प केवल एक रीता आकारमात्र रह जाता है जो इस घटना और तत्त्व को उतना ही निरवलंब और आगंतुक छोड़ देता है जितने ये तब होते यदि ये स्वयं आद्य होते। वास्तव में पाश्चात्य अस्तित्ववादी, विशेषतः नास्तिक अस्तित्ववादी, इसी विपन्न स्थिति में हैं।

किंतु यदि मनुष्य मूलतः व्यक्ति नहीं है तब वह क्या 'मनुष्यत्व' का अस्तित्व में व्यक्तीकरण है, जिस प्रकार गाय गोत्व का ? निश्चय ही मनुष्य गाय के समान मनुष्यत्व से निर्दिष्ट और मनुष्यत्व-पार्यन्तिक भी है, किंतु वह एक बात में गाय से बहुत मौलिक रूप में भिन्न भी है। यह भिन्नता इस बात में है कि उसमें व्यष्टित्व, अथवा कहें तत्त्व का अस्तित्व, आत्म-अवगमन के द्वारा अपना स्रोत स्वयं हो जाता है। आत्म-अवगति या आत्म-चेतना अस्तित्व को प्रथम और नियामक बना देती है और तत्त्व को अवगम्य मूल्य के रूप में उसका परवर्ती बना देती है, क्योंकि अब अवगमन-क्रिया : आत्म-प्रकाशक विचार : आद्य हो जाती है। इस प्रकार मनुष्य, अन्य सत्त्वों से भिन्न, अपने तत्त्व से प्रथम, उसका स्रोत, हो जाता है : गाय गोत्व का आविर्भाव और गोत्व से निर्दिष्ट है, किंतु मनुष्य न मनुष्यत्व का आविर्भाव है और न उससे निर्दिष्ट, वह आत्म-अवगति में अस्तित्व और तत्त्व का आविर्भाव और इस तत्त्व का स्वतंत्र अनुसरण है, और परिणामतः अनुसरण में दोष के लिए उत्तरदायी है, जो गाय और पुष्प नहीं हैं। यहां पूछा जा सकता है कि मनुष्यत्व का अनुसरण उसके लिए अनिवार्य मूल्य क्यों है ? इसका उत्तर होगा कि यदि वह इस मूल्य का निषेध मूल्यान्वेषण में प्रतिष्ठित

होकर कर सकता है तो उस पर कोई दोष नहीं होगा, क्योंकि मूल्य में अवगति की, बोध की, प्रतिष्ठा ही मनुष्यत्व का तत्त्व है और परिणामतः वह मूल्यान्वेषण के लिए अनतिक्रमणीय और अनिवार्य है। किंतु यदि प्रतिष्ठा मूल्य में नहीं है तब वह तत्त्व मात्र से भ्रष्टता है, और वह उसी प्रकार अस्वास्थ्य है जिस प्रकार देह का अस्वास्थ्य। आत्मचेतन सत्त्व तत्त्व के प्रसंग में अन्य सत्त्वों से इस बात में भिन्न है कि अन्य सत्त्व अपने तत्त्व की अभिव्यक्ति के माध्यम मात्र हैं, वे तत्त्व के अस्तित्व में प्रतिफलन हैं, जैसे शब्द ध्वनि में अर्थ का, घट मिट्टी में घट-प्रत्यय का; किंतु मनुष्य किसी तत्त्व का अस्तित्व में प्रतिफलन नहीं है, वह तत्त्व का आत्मावगमन है और परिणामतः वह इस अवगमन की सम्यक्ता-असम्यक्ता के रूप में ही अपने तत्त्व को चरितार्थ करता है। इससे वह अपने तत्त्व का निषेध भी कर सकता है, जिस प्रकार घट या गाय नहीं कर सकते; किंतु तत्त्व का यह निषेध तभी वास्तव होता है जब वह अवगति में निषिद्ध या विपरीत होता है, जैसे ऐन्द्रिक सुखों का मूल्य के रूप में अनुसरण, या प्रतिशोध का मूल्य के रूप में अनुसरण। इस प्रकार तत्त्वावगमन के क्रम में कोई ज्ञानमार्गी हो सकता है और कोई भक्ति मार्गी, कोई कलाकार हो सकता है और कोई वैज्ञानिक, कोई तत्त्वमीमांसी दार्शनिक हो सकता है और कोई तत्त्वमीमांसा-विरोधी दार्शनिक। ये सम्भावनाएं आत्म-अवगमन के अंशतः व्यवहित होने की द्योतक होती हैं।

किंतु आत्मावगमन को अपने सत्त्व का स्रोत कहने का अर्थ है व्यष्टित्व की सीमा को न केवल अस्तित्वात्मक अनिवार्यता दे देना बल्कि ज्ञानात्मक अनिवार्यता भी दे देना, जो सीमा को और अधिक अलंघ्य बना देता है: "मैं विचारता हूं, अतः मैं हूं" का एक अर्थ है कि विषयावगमन युगपद्‌रूप से आत्मावगमन भी है और यह आत्म के अस्तित्व को घटित करता है। किंतु साथ ही इसका यह अर्थ भी है कि यह अवगमन इतर-व्यावृत्ति का बोध है जो युगपद्‌रूप से आत्म और इतर के व्यावर्तक द्वन्द्व के रूप में घटित होता है। यहां आपत्ति की जा सकती है कि डेकार्ट का यह मंतव्य नहीं था, उसके 'मैं विचारता हूं' में 'मैं' का अस्तित्व ही अभिप्रेत था, इतर का नहीं। किंतु प्रथम तो हमारा प्रसंग यहां डेकार्ट का मंतव्य देखना नहीं है, और दूसरे, डेकार्ट का यह मंतव्य भी था, उसका ध्यान उसे भले ही नहीं हो, क्योंकि वह 'मैं' का : आत्म का : अस्तित्व केवल सीमित सत्त्व के रूप में ही मानता है, जिसके आधार पर वह असीमित को युगपद्‌रूप से साक्षात्कार्य : प्रातिभ-अवगम्य : मानता है। अब, सीमित सत्त्व से असीमित सत्त्व तो भले ही प्रातिभ यौगपद्य के रूप में अवगम्य नहीं हो, व्यावर्तक इतर अवश्य इस रूप में युगपद् अवगम्य हो जाता है। वास्तव में सीमित से असीमित का पूरक के रूप में आक्षेप : आत्म के समान प्रातिभ आक्षेप : हो भी नहीं सकता, क्योंकि असीमित सीमित का पूरक नहीं होकर उसका समावेशक होता है, और वह भी 'मैं हूं' के मौलिक साक्षात्कार

होने से असंभव है । डेकार्ट में यह दुविधा की परिस्थिति है, क्योंकि उसमें एक ओर सीमित आत्म-प्रत्यङ्‌मुख विचार-क्रिया में साक्षात्कृत मौलिक सत्त्व : आत्म : है और दूसरी ओर ईश्वर है जो सर्वसर्जक, और इस प्रकार इस आत्म का भी सर्जक है । किंतु यह दुविधा डेकार्ट की मौलिक दृष्टि पर पारंपरिक धार्मिक दृष्टि का आरोप मात्र है । इस प्रकार 'मैं विचारता हूं' युगपद्‌रूप से "इतरव्यावृत्त-इतर-व्यावर्तक आत्म द्वारा अस्तित्व में अपने आविर्भाव का साक्षात्कार है ।"

किंतु यदि यह सही है, तो न मैं स्वतंत्र हूं और न मेरे स्वातंत्र्य के लिए कोई संभावना है, क्योंकि मैं तब अवश रूप से इतर से परिसीमित हूं । किंतु यहां द्रष्टव्य है कि ये 'आत्म' और 'इतर' केवल रिक्त आकार हैं जिनकी अंतर्वस्तु कुछ भी हो सकती है, और इस प्रकार इतर न केवल आकारिक व्यावर्तक ही होता है बल्कि आत्म को उसके मूल में परतंत्र भी बना देता है । उदाहरणतः इतर की अंतर्वस्तु ऐन्द्रिक विषय, भौतिक परिवेश, अन्य व्यक्ति, संस्कृति, अपनी इन्द्रियां, ऐन्द्रिक कामनाएं, देह, कुछ भी हो सकती है, और वास्तव में ये सब हैं । ऐसी अवस्था में 'मैं' केवल अहं-आकार, और अंतर्वस्तु के रूप में अपने इतर-व्यावृत्त अस्तित्व के आक्षेप की क्रियामात्र शेष रह जाता है ।

किंतु वास्तव में यह केवल अवगमन का जैव स्तर मात्र है जो पाशव के तारतम्य में है । अवगमन का प्रत्यङ्‌मुख स्तर आकार का अंतर्वस्तु से पृथक् ग्रहण कर सकता है और इस प्रकार वह 'मैं' को अपने अस्तित्व के आक्षेप की क्रिया से पृथक् ग्रहण कर अशेष अहं-प्रत्ययों में एक तथा अनियत अहं-प्रत्यय के रूप में पाता है । इसमें इतर अनिवार्यतः व्यावर्तक नहीं होकर उस समग्रता का द्योतक होता है जो प्रत्येक सीमित का समावेश करता है । शब्दार्थ की अपोहात्मकता के सिद्धांत का वास्तव आशय यह है : 'गाय' पद 'अगाय' पद से व्यावर्तन की पारस्परिकता में, या अगाय से व्यावर्तन के द्वारा, अर्थज्ञापक होता है । इसका अर्थ हुआ कि 'गाय' 'अगाय' के सहित अर्थ-ज्ञापक होता है । इसी प्रकार अपने आक्षेप की क्रिया युगपद् रूप से समग्र में अपने अतिक्रमण की क्रिया भी है : "मैं हूं—और—वह समस्त है जिसके सहित मैं हूं ।" इसके अतिरिक्त, जैसा कि हेगल ने दिखाया है, 'मैं' पद वस्तुवाचक प्रयोग में जबकि मेरी इतरव्यावर्तक अनन्य अस्मिता का वाचक है, पद के रूप में यह सर्वनाम है और इस प्रकार किसी भी इतर-व्यावर्तक अस्मिता का वाचक है ।[7] यह स्थिति मुझे इतर को मेरे स्थान से और मेरे को इतर के स्थान से देखने और समझने की सामर्थ्य देती है । यह मुझे प्रातिभ साक्षात्कार से वंचित किये बिना मनोवैज्ञानिक विषयिनिष्ठता के ग्राह से मुक्त कर सार्वभौमता और निस्सीमता के व्योम में प्रतिष्ठित कर देती है : मैं एक-

7. हेगल, लॉजिक, पृ० 31.

साथ इस और सब बिंदुओं पर अवस्थित हो जाता हूं। किंतु यह इतर से सहितता भी आत्म को स्वातंत्र्य नहीं देती, यद्यपि पारतंत्र्य की अनिवार्यता को समाप्त कर देती है। इसके अतिरिक्त, यह 'मैं' के साथ साम्मुख्य की न तो प्रथम घटना है और न सहज स्थिति : "अपने को स्वतंत्रतया घटित करने की क्रिया" मेरा संसार में जन्म लेना नहीं है, न साधारणतः मैं विचार, अनुभूति और कर्म में अपने को स्वतंत्रतया घटित करता हूं। ये सब पारतंत्र्य की ही स्थितियां हैं। स्वातंत्र्य पारतंत्र्य के निवारण की क्रिया के रूप में प्रकट होता है, जो पारतंत्र्य पर के तंत्र में अपना तादात्म्य देखने में है। जब गीता इन्द्रिय-व्यापार से अपना पार्थक्य घटित करने की बात कहती है[8] तब वह इसी स्वातंत्र्य की बात कहती है। इस प्रकार अपने पार्थक्य को घटित करना ही स्वातंत्र्य में अपने को घटित करना है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि अन्ततः मानव-स्वातंत्र्य निषेध की क्रिया ही है। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि स्वातंत्र्य वास्तव में आत्म-प्रतिष्ठापन है, यह वास्तव में आत्म-निषेध का : अनात्म का : निषेध कर अपने साथ युगपद् भाव की सिद्धि है। मौलिक आत्म-निषेध की यह अवगति और उस निषेध का निषेध विशिष्ट रूप से मानवीय परिस्थिति है। मनुष्य सीमित और विशिष्ट : अवच्छिन्न : है किंतु सीमा और अवच्छिन्नता के बोध के द्वारा अपने स्वरूप की अतिक्रान्तता की अवगति के साथ। किंतु यह अतिक्रमण वास्तव होने पर उसे ईश्वर से अभिन्न कर देता है, जो उसकी प्रदत्त स्थिति के दृष्टिकोण से नाम खोकर सर्वनाम मात्र : वस्तु से रीता उसका आकारमात्र : रह जाना है। निर्वाण या शांकर मोक्ष इसी प्रकार की तत्त्वोपलब्धि है जो कम संत्रासजनक नहीं है। इसी से अधिकांश धर्मों ने ईश्वर से तादात्म्य को नहीं बल्कि उससे सान्निध्य को पुरुषार्थ माना है। किंतु यह सान्निध्य उसे दूसरा संत्रास देता है : तत्त्व से व्यवहित रहने की अनिवार्यता का संत्रास।

किंतु अस्तित्व के स्तर पर इस उभयतोपाश (डाइलेमा) के संत्रास की स्थिति दुर्निवार होने पर भी मनुष्य विचार के उद्ग्रहणात्मक (एब्स्ट्रेक्ट) स्तर पर इससे मुक्ति की कुछ आशा रखता है। जैसे कि हेगल ने संकेत किया है, 'मैं' पद मेरी अद्वितीय अस्मिता का वाचक होने के साथ अपने भाषिक प्रयोग में किसी की भी अस्मिता का वाचक है। यह प्रत्यङ्मुखता मुझे आत्म के प्रातिभ साक्षात्कार से वंचित किये बिना विषयिनिष्ठता के ग्राह से निर्बन्ध कर सार्वभौमता और निस्सीमता दे देती है। वास्तव में यह दृष्टि स्वयं प्रातिभ को भी रूपांतरित कर देती है : इसका साक्षात्कार्य आत्म अब अस्तित्व नहीं होकर तत्त्व होता है— मानव-अस्मिता का तत्त्व।

8. भगवद्गीता–3/6

7

ज्ञातृत्व

ज्ञान, प्रमा और अप्रमा दोनों का समावेश करते हुए, चित्त की विषयवृत्ति या अपेक्षा-वृत्ति है और ज्ञातृत्व इस वृत्ति का प्रत्यङ्‌मुख प्रेक्षकत्व। विषय इस अपेक्षा-वृत्ति का लक्ष्य या पर्यवसान-स्थल है। विषय को प्रायः ही इतर, अनात्म और प्रतिरोधक के रूप में परिभाषित किया गया है : सांख्य ने इस इतरत्व को विषय की आन्तर संरचना के रूप में देखा है और सार्त्र ने विषयी की आन्तर संरचना के रूप में,[1] किन्तु वास्तव में यह विषयमात्र का अनिवार्य लक्षण नहीं है। अपेक्षा का लक्ष्य अपेक्षी का आत्मबाध नहीं होकर उसकी पूर्ति ही होना चाहिए : अपेक्षी द्वारा विषय में प्रमा का अन्वेषण और अप्रमा के निवारण की आकुलता विषय के इसी स्वरूप की ओर संकेत करती है। प्रमा अपेक्षा और विषय के तादात्म्य की सिद्धि है, अप्रमा इस तादात्म्य का अभाव है। यद्यपि प्रमाण प्रकटतः विषय की अतिक्रान्तता और इस प्रकार इतरता का द्योतक होता है, क्योंकि यह विषय की सत्ता के लिए संकेत या लक्षण मात्र बनता है, किन्तु यह वास्तव में स्वयं अपेक्षावृत्ति की अपनी ही आन्तर संरचना से निर्धारित अनुभव होता है जो अपनी परिपूर्णता में विषय-पर्यवसायी होता है। उदाहरणतः किसी भौतिक विषय के लिए प्रमाण स्वयं इन्द्रियानुभव की आन्तर संगति बनती है और प्रमाण-फल वह वस्तु होती है जो इन प्रमाणों से प्रमाणित होती है। अवश्य ऐन्द्रिय विषयों में एक प्रकट स्वतंत्रता भी रहती है, किन्तु जैसाकि हम पीछे देख आये हैं यह स्वतंत्रता वास्तव में उनकी प्रत्ययमूलकता के पक्ष में होती है, जबकि प्रमाण इन्द्रियमूलक होते हैं। इस प्रकार भौतिक विषय की यह बाह्यता वास्तव में उसकी चित् से निकटतरता में निहित होती है। किन्तु यह बाह्यता भी सभी विषयों का लक्षण नहीं है। उदाहरणतः तत्त्व, जोकि विचार-विषयः प्रत्ययः होते हैं, स्वतंत्र होकर भी इतरता में मुखर नहीं होते हैं : हम प्रत्यय का विचार में प्रत्यक्ष करते हैं, उसका हमारा ग्रहण प्रमा

1. सांख्य प्रकृति को विषय के रूप में परिभाषित करता है जो प्रकृति कि नितान्त आत्म (पुरुष) के लिए नितान्त इतर है। सार्त्र विषय को निम्न प्रकार से परिभाषित करता है : "दि फार इट्सेल्फ इज़ ए बींग सच दैट इन इट्स बींग, इट्स बींग इज़ इन क्वश्चन इन सो फार ऐज़ दिस बींग इज़ एसेंश्यली ए सर्टेन वे ऑफ़ नॉट बींग ए बींग: व्हिच इट पॉज़िट्स साइमल्टेनियस्ली एज़ अदर दैन इट्सेल्फ(बींग एंड नथिंगनेस) पृ० 242.

या अप्रमा भी होता है और परिणामतः वह :प्रत्यय या तत्त्वः विचार से स्वतंत्र प्रकट होता है, किन्तु तब भी प्रत्यय इतर के रूप में प्रकट नहीं होकर विचार के आन्तर सत्त्व के रूप में ही प्रकट होता है। किन्तु प्रत्यय के सर्वसाधारण और प्रमाणीकरणीय होने से यह भी आन्तर (इम्मेनेंट) नहीं होकर अतिक्रामी ही होता है। किन्तु तब भी ऐन्द्रिय विषयों से इसके ज्ञान में एक आधारभूत भेद रहता है जो इसकी अतिक्रान्तता को और अधिक मुखर बनाता है, और वह यह कि जबकि भौतिक विषयों के लिए प्रमाण हमारी चैत्तस्थितियां (संवेद) होती हैं, प्रत्ययों के लिए प्रमाण चैत्तस्थिति से सर्वथा निरपेक्ष होते हैं : विचार-क्रिया प्रत्यय के विदित होने के लिए अवसर या प्रसंग बनती है किन्तु वह उसके लिए प्रमाण नहीं होती, जिस प्रकार देश-काल विशेष में घट के होने के लिए प्रासंगिक ऐन्द्रिय संवेदों का घटित होना प्रमाण होता है। किन्तु हमारी अपनी मनःस्थितियां भी विषय होती हैं, उदाहरणतः हमारे निजी क्रोध-प्रेम, इच्छा-अनिच्छा तथा सुख-दुःख भी हमारे विषय होते हैं और इनके लिए इनका घटित होना ही प्रमाण और प्रमाण-फल होता है। दूसरे शब्दों में, इनके घटित होने में विषयि-विषय-तादात्म्य होता है, अथवा कहें, विषयि-विषय-भाव नहीं होता और इस प्रकार ज्ञान की स्थिति ही नहीं होती। यद्यपि यह सही है कि तत्क्षण ही यह स्थिति विषयि-विषय-द्वैत में उद्भिन्न हो जाती है, किन्तु आवेग से अत्यधिक अभिभूत होने की स्थिति में यह भेद नहीं रहता, अत्यधिक विचार-मग्नता की अवस्था में भी यह भेद नहीं रहता, अथवा कहें यह भेद उस अवस्था में अत्यधिक क्षीण होता है। इससे हम चेतना के ऐसे स्तर का अनुमान कर सकते हैं : जैसे कृमियों और वनस्पतियों में : जिसमें यह तादात्म्य कभी खंडित ही नहीं होता और इस प्रकार ज्ञान की स्थिति कभी उपलब्ध नहीं होती। किन्तु इस तादात्म्य की स्थिति का उस स्थिति में परिणत होना जिसमें यह प्रेक्ष्य या विषय बनती है इस बात का द्योतक है कि प्रेक्षक भाव उस स्थिति में भी अभिभूत या प्रसुप्त रूप में विद्यमान रहता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रेक्ष्यता या विषयता चेतना में आद्य है। किन्तु प्रेक्ष्यता चेतना का तत्त्व नहीं हो सकती, यह चेतना का निष्कासित या निर्गत तत्त्व होती है : 'मैं क्रुद्ध हूं' में क्रोध प्रतिस्थापित होता है। अवश्य यह मदीय होता है किन्तु तब भी मेरे से पृथग्भूत होता है, जिस पर मैं विचार कर सकता हूं, जिसका मूल्यांकन कर सकता हूं और जिसका अभिभव भी कर सकता हूं। किन्तु अभिभव कर सकना इस विषय को ऐन्द्रिय विषयों और विचार-विषयों से मौलिक रूप में भिन्न करता है यद्यपि यह इसकी प्रेक्ष्यता को न्यून नहीं बनाता। चैत्तस्थितियों का प्रेक्ष्य-रूप में निष्कासन प्रेक्षक-भाव द्वारा होता है जो अतिमानसिक चित् का आत्मभाव है। इस प्रेक्षकभाव को प्रत्यङ्मुखता कहा जाता है : अर्थात् चित् की अपनी ओर उन्मुखता। प्रेक्षकभाव का यह निरूपण पहली दृष्टि में अयुक्त प्रतीत हो सकता

है, क्योंकि प्रेक्षक अनिवार्यतः प्रेक्ष्योन्मुख ही हो सकता है : जिस प्रकार प्रेक्ष्य प्रेक्षकभाव का सापेक्ष है, उसके बिना वह अभिन्न मनःस्थिति मात्र है, उसी प्रकार प्रेक्षक-भाव भी प्रेक्ष्य-सापेक्ष ही हो सकता है, जिसके बिना वह उस मनःस्थिति में ही निमीलित रहता है। किन्तु यह निरूपण सही नहीं है, प्रेक्षक-भाव का आविर्भाव या उन्मीलन प्रेक्ष्यभाव से विमुखता के रूप में होता है जिसे प्रेक्ष्य प्रस्तुत होता है, किन्तु यह प्रस्तुति भी प्रेक्षकत्व के लिए अनिवार्य नहीं होती। किन्तु तब कहा जा सकता है कि जब प्रेक्ष्य प्रस्तुत नहीं होता तब स्वयं प्रेक्षक ही अपने को प्रस्तुत होता है और इस प्रकार इस प्रस्तुति में प्रेक्षक-प्रेक्ष्य के द्वैत की स्थिति उत्पन्न होती है : उदाहरणतः (1) मैं जानता हूं कि (मैं दुःखी हूं), (2) मैं जानता हूं कि (मैं जानता हूं कि, मैं दुःखी हूं), (3) मैं (अपने जानने के जानने के जानने को) जानता हूं, आदि। किन्तु सम्भवतः इसमें प्रेक्षकभाव को विषयापेक्षा-रूप देखना भ्रान्ति है। वास्तव में इसमें प्रेक्षकभाव की केवल निवर्तनात्मकता और प्रत्यक्स्व-रूपता प्रकट होती है, प्रेक्ष्यापेक्षा :विषयापेक्षाः नहीं। और प्रेक्षकभाव के निवर्तनात्मक होनेसे प्रेक्ष्य प्रेक्षक को निर्धारित नहीं करता बल्कि यह प्रेक्षक है जो अपने को उपलब्ध कर अपने को कभी खोने या सापेक्ष नहीं होने देता। अन्यथा 'मैं जानता हूं कि मैं दुःखी हूं' में प्रकट प्रेक्षकभाव प्रेक्ष्य दुःख के साथ सापेक्ष अवस्थिति में ही सन्तुष्ट हो जाना चाहिए था, अथवा वास्तव में इस सम्मुखीनता या उद्भिन्नता की भी आवश्यकता नहीं थी, दुःखिता अपने-आप में पर्याप्त थी। किन्तु प्रेक्षकत्व इस मनःस्थिति में से उद्भिन्न होता है और यह उद्भिन्नता प्रकट हो जाने पर, अथवा कहें प्रेक्षक-भाव के एक बार प्रेक्ष्य से मुक्त हो जाने पर, वह इस बन्धन का निरन्तर निषेध करता है।

किन्तु यहां आपत्ति की जायगी कि ज्ञान-स्थिति 'मैं दुःखी हूं' अथवा 'यह घट है' प्रकार से निरूपित होती है, जिसमें दुःख-विशिष्ट 'मैं' अथवा घट-विशिष्ट 'यह' प्रेक्ष्य रूपमें इन अध्यवसायों में अप्रकट या अनिर्दिष्ट प्रेक्षक को प्रस्तुत होते हैं। प्रेक्षक इनमें निर्दिष्ट नहीं होता क्योंकि वह निर्दिष्ट हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह निर्दिष्ट होते ही प्रेक्ष्य हो जाता है: वह केवल प्रेक्ष्य के माध्यम से, उसकी अपेक्षा से, उद्भासित होता है, और इस प्रेक्षक के बिना उसकी अपनी कोई स्थिति नहीं होती। यह आपत्ति उस सीमा तक सही है जहां तक यह चित् के विषयभाव का निरूपण करती है, उस अवस्था में प्रेक्षक-भाव प्रेक्ष्यभाव के अधीन रहता है। 'मैं दुःखी हूं' में मेरी मनःस्थिति मुख्य है, यह मेरे ध्यान को आकृष्ट किये रहती है, किन्तु 'मैं जानता हूं कि (मैं दुःखी हूं)' में केन्द्र दुःखिता नहीं आत्म हो जाता है जो दुःख-विशिष्ट है। यह दुःखिता मनःस्थिति होने से स्व-विदित होती है, इसे विदित होने के लिए किसी अन्य अधिष्ठान की आवश्यकता नहीं होती, इसलिए आत्म-प्रसंग अथवा प्रेक्षकत्व यहां संवेदनात्मक या संज्ञानात्मक नहीं होकर आत्म-

निवर्तनात्मक होता है और इस निवर्तन में ही यह प्रेक्ष्य या विषय को भी अपने में अधिष्ठित करता है।

प्रेक्षकत्व की इस प्रकार नितान्त अविषयता के कारण ही बौद्ध और ह्यूम तथा उनके अनुयायी आत्मा को संस्कार-प्रवाह के अतिरिक्त कहीं नहीं देख सके और कांट ने इसे केवल एक रिक्त आकार मात्र के रूप में देखा। किन्तु द्रष्टव्य है कि ये लोग प्रेक्षकत्व पर विचार नहीं कर अस्मिता (आई-सेल्फ)पर विचार कर रहे थे, जो उस प्रकार अविषय नहीं है जिस प्रकार प्रेक्षकत्व है। अस्मिता प्रेक्षकत्व से निकटतः सम्बन्धित अवश्य होती है, किन्तु यह प्रेक्षकत्व नहीं होती।

यह अस्मिता क्या है? यदि इसे अनुभव-विषय के रूप में लें तो यह अन्य आन्तर विषयों के समान एक विषय होगी और तब यह वर्तमान में संवेद्य, अतीत में स्मरणीय और भविष्यत् में संभाव्य होगी। किन्तु ऐसा स्वीकार करने में आधार-भूत आकारिक कठिनाई है। क्योंकि तब अनुभव के अतीत, वर्तमान और भविष्यत् में एकत्व के लिए, और इस प्रकार विषय की एकता के लिए, आधार क्या होगा? स्वयं में अनुभव संक्रमणात्मक है और यह अतीत का संग्रह 'अपने अतीत' के रूप में नहीं कर वर्तमान के निर्धारण के रूप में करता है। अर्थात् अनुभव-गत अतीत और भविष्यत् (भविष्योन्मुखता) वर्तमान अनुभव में ही सन्निहित रहते हैं। इसी प्रकार अस्मिता का आधार स्मृति नहीं हो सकती, क्योंकि स्मृति वास्तव में अस्मिता की पूर्वापेक्षी होती है। यह सही है कि हम स्मृति में अनुभवों का भी संग्रह करते हैं और अपना भी : 'मैं कल दिल्ली गया था', 'मैं परसों जयपुर में था': और इस प्रकार स्मृति हमारी अतीत में विद्यमानता और भविष्यत् में रहने की संभावना के लिए आधार बनती है, किन्तु अस्मिता की एकता या अभिन्नता के बिना स्मृति अधिक से अधिक वर्तमान अनुभव-प्रवाह में संगृहीत ही हो सकती है, जो प्रवाह अतीत का अतीत के रूप में आकलन नहीं कर सकता। किसी अनुभव के स्मृति होने के लिए उसका अस्मिता के अतीत में कालांकित होना आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त, स्मृति जिस प्रकार बिना किसी क्रम के अतीत घटनाओं का आह्वान करती है उससे उन घटनाओं की अतीतता और इस प्रकार कालक्रमता असन्दिग्ध रूप से उन घटनाओं (अनुभवों)के बाहर अस्मिता में सिद्ध होती है। किन्तु यहां यह और द्रष्टव्य है कि स्मृति का विषय अनुभव नहीं होकर अनुभव का उद्गृहीत प्रत्यय होता है जो शुद्ध प्रेक्षकत्व को पूर्वापेक्षित करता है। स्मृति अनुभव के प्रेक्षक-प्रेक्ष्यत्व में उद्भिन्न होने और स्वयं प्रेक्ष्य के अनुभव-प्रवाह से बाहर प्रेक्षकत्व के अधीन निरूपित होने से सम्भव होती है। मैं उस घट का या अपने दुःख का स्मरण स्वयं घट और दुःख के अनुभव की अविद्यमानता में करता हूं, स्मृति में ये अनुभव नहीं इनके प्रत्ययात्मक आकार और उद्गृहीत बिम्ब प्रेक्षकभाव को प्रस्तुत होते हैं जिनका आकलन अस्मिता के काल-व्यापी अकालिक एकत्व में

होता है : कालातीत मैं घट-ग्रहण या दुःखिता के कालगत अनुभव के कालातीत आकार को उद्गृहीत कर आकारात्मक काल की उद्गृहीत व्यवस्था में संस्थानित करता हूं। 'कल मैं दुखी रहा' में न दुःख का अनुभव है और न व्यतीयमानता का, इसमें दुःख और व्यतीयमानता दोनों प्रत्ययाकारों में रूपान्तरित होकर अस्मिता के अधीन प्रेक्षकत्व को प्रस्तुत होते हैं। ऐसा नहीं है कि कल दुःख के समय यह आकार उद्गृहीत नहीं था, प्रेक्षकत्व का यह अनिवार्य स्वभाव है कि यह आकार ही को प्रेक्ष्य बनाता है और इस प्रकार यह स्वयं मनःस्थिति को भी, उसकी प्राकृतिकता से उद्गृहीत कर, चित्त की प्रत्यङ्मुख वृत्ति में रूपान्तरित कर लेता है। किन्तु जैसाकि स्पष्ट होना चाहिए, प्रेक्षकत्व स्वयं अस्मिता नहीं है, क्योंकि अस्मिता प्रेक्ष्य और मनःस्थिति दोनों में इनके अधिष्ठान के बोध के रूप में सहचरित होती है। प्रेक्षकत्व के विपरीत यह (अस्मिता) विदित या अवबोधित भी होती है, यद्यपि न यह अनुभव है और न विषय, क्योंकि यह दोनों से पूर्वगामी होती है। किन्तु इस पूर्वगामिता का यह अर्थ नहीं है कि यह कालतः अनुभव की नियत प्राग्वर्ती होती है, न इसका अर्थ तार्किक पूर्वापेक्षा ही है। वास्तव में अनुभव होने के लिए यह किसी भी प्रकार अनिवार्य नहीं है, जैसे साधारणतः बोलते हुए हम बोलने की क्रिया में घटित किसी भी वेदना का अस्मितापूर्वक ग्रहण नहीं करते, जिसका करते हैं, जैसे गला खराब होने पर गले के दर्द का, उसके वेदनात्मकतया घटित होने के लिए यह अनिवार्य नहीं है कि वह अस्मिता-सहित घटित और विदित हो। वास्तव में यह भी कहा जा सकता है कि इसका उन्मीलन अनुभव के प्रत्यय में रूपान्तरण का सहगामी होता है, और परिणामतः यह अनुभव-मूल या अनुभवाश्रय भी नहीं होती। किन्तु अस्मिता के होने पर यह :अस्मिता: अनुभव को अधिष्ठित करती है। यह कहा जा सकता है कि यह अस्फुटतः अनुभव के सभी स्तरों पर विद्यमान होती है और जीव चेतना के जिस भी स्तर पर होता है : दैहिक, मानसिक (आवेगात्मक), या बौद्धिकः उसी पर यह उसकी एकता को, सावयवता को, धारण करती है। हमें यह विचार युक्त प्रतीत होता है, क्योंकि जिस प्रकार मनःस्थिति प्रेक्षकत्व में ग्राह्य होकर ही प्रेक्ष्यत्व के रूप में स्फुट होती है, अन्यथा विषय-रूप में अस्फुट रहती है, उसी प्रकार अस्मिता के लिए भी है, यह भी चेतना के बौद्धिक स्तर पर ही प्रेक्षकत्व के लिए प्रेक्ष्य बनती है, जिसका अर्थ है कि अस्मिता के लिए स्फुटतः ग्राह्य होने के लिए उसी प्रकार आकार में रूपान्तरित होना अपेक्षित होता है जिस प्रकार मनःस्थितियों का। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस प्रकार स्फुट हुए बिना यह अस्फुटतः विद्यमान नहीं रहती, जैसे वेदना के लिए यह नहीं कहा जा सकता कि यह अध्यवसाय-विषय के रूप में स्फुट हुए बिना विदित ही नहीं होती। किन्तु यह अस्मिता प्रेक्ष्य होने पर भी अन्य विषयों के समान विषय नहीं होती, यह जैव अस्तित्व में अधिष्ठातृत्व के

सामान्य बोध के रूप में सब अनुभवों, सब ज्ञप्तियों और सब विषयों को अपने में धारण करती है। इस प्रकार वास्तव में 'यह घट है' अथवा 'मैं दुःखी हूं' अथवा 'घर चलूं' आदि वाक्यों में व्यक्त ज्ञप्तियां या आकांक्षाएं इस अधिष्ठातृत्व में आधृत होती हैं और इसके सहित प्रेक्षकत्व को प्रस्तुत होती हैं। किन्तु विषय हुए बिना प्रेक्ष्य होने का क्या अर्थ है? किस प्रकार अस्मिता अविषय होकर भी प्रेक्ष्य होती है? 'मैं दुःखी हूं' में 'मैं' क्या दुःख-विशिष्ट विशेष्य के रूप में उसी प्रकार विषय नहीं है जिस प्रकार 'यह घट काले रंग का है' में काले रंग से विशिष्ट घट विषय है? वास्तव में कांट ने जब उपर्युक्त प्रकार के वाक्यों में प्रयुक्त 'मैं' पद को प्रातिभासिक (फिनोमिनल) अस्मिता का वाचक कहा तब उसका यही अभिप्राय था। किन्तु वास्तव में इस प्रकार के वाक्यों में भी अस्मिता घट के समान या दुःख के समान विषय नहीं होती, न यह विचारगम्य प्रत्यय : यथा 'घट वर्तुलाकार बर्तन है' : के समान ही विषय होती है। उदाहरणतः 'यह मैं हूं' वाक्य लें, जिसमें स्वयं अस्मिता ही वाच्य है। किन्तु स्पष्टतः इस वाक्य में 'मैं' वक्ता के अपने देह का निर्देश करता है जो देह घट के समान भौतिक विषय है और इस प्रकार सब के लिए समानतः गम्य है। किन्तु स्पष्टतः 'मैं' सर्वगम्य विषय नहीं हो सकता, यद्यपि ऐसा भी नहीं कि 'मैं' शब्द श्रोता के लिए वाक्यीय आकांक्षा का पूरक शब्द-मात्र है जिस प्रकार, एक प्रकार से, 'यह घट है' में 'यह' पद है। द्रष्टव्य है कि वक्ता यहां श्रोता को वास्तव में इस पद द्वारा सूचना देना चाहता है और श्रोता यह सूचना प्राप्त करता है, किन्तु दोनों के लिए यह पद नितान्त भिन्नार्थक होता है : वक्ता यहां आन्तरतः अवगम्य आत्मसाम्मुख्य के अद्वितीय बोध को व्यक्त कर रहा है जबकि श्रोता शब्द-ग्राह्य सामान्य प्रत्यय के विशेष निर्देश का ग्रहण कर रहा है। यद्यपि प्रथमतः वक्ता यहां अपने बाह्यतः दृश्य देह का ही निर्देश कर रहा है, किन्तु तब भी वह उससे तदात्म नहीं होता, देह का यह निर्देश वह न्यूनाधिक श्रोता से तदात्म होकर करता है, यद्यपि वक्ता और श्रोता किसी के लिए भी 'मैं' पद केवल दृश्य देह का वाचक नहीं होता। निर्दिष्ट देह वक्ता की अस्मिता का विशिष्ट अधिकार होती है, इसे वह 'मेरी देह' के रूप में देखता है। किन्तु जब वह कुर्सी पर बैठता है, या सामने आती हुई कार से बचने के लिए एक ओर हटता है, अथवा जब वह आलिंगन करता है, उस समय यह देह उसका विशेषाधिकार नहीं होकर उससे अभिन्न होती है। यह अपने से अभिन्न, देश के नियोजनों की कर्तृ और वेदनाओं की भोक्तृ होती है और इसी कर्तृ और भोक्तृ रूप में यह अविषयतया प्रेक्ष्य होती है। इस प्रकार 'यह मैं हूं' में वक्ता श्रोता के लिए इस अविषयगोचर अस्मिता का विषयकरण करता है। वक्ता के लिए यह अविषयगोचर अस्मिता क्रोधादि आवेगों, विषय-प्रत्यक्ष और विचार आदि सभी चेतना-क्रियाओं में विद्यमान होती है। अवश्य इसकी संरचना में इतर का व्यावर्तन भी सम्मिलित

रहता है : मैं एक सीमित अस्तित्व के रूप में ही अपना ग्रहण करता हूं : किन्तु यह उसकी संरचना में एकमात्र घटक नहीं है, यद्यपि आधारभूत घटक अवश्य है। अस्मिता में इतर-व्यावर्तन का घटक होना इसकी विषयता और प्रत्यङ्‌मुखता दोनों का द्योतक है। विषयता का इसलिए क्योंकि व्यावर्तक और व्यावृत्त विषय होता है और परिणामतः अस्मिता के किसी प्रकार से विषयों के साथ अवस्थित हुए बिना यह व्यावर्तन नहीं हो सकता, और प्रत्यङ्‌मुखता का इसलिए क्योंकि यह व्यावर्तन 'घट का पट से' या 'घटत्व का पटत्व से' प्रकारक नहीं होता बल्कि आत्म का आत्मेतर से होता है, जिस इतर के साथ तादात्म्य को तोड़कर चित्त अपनी ओर लौटता है। द्रष्टव्य है कि यह प्रत्यावर्तन प्रेक्षकत्व जैसा नहीं है, क्योंकि प्रेक्षकात्मक प्रत्यावर्तन आत्यन्तिक होता है, और इस रूप में अनन्त भी कि प्रत्येक प्रेक्षकात्मक प्रत्यावर्तन प्रेक्ष्य हो सकता है जो वास्तव में उच्चतर प्रेक्षण का आविर्भाव है। किन्तु तब इसका अर्थ हो जाता है कि अस्मिता अनिवार्य रूप से विषय-व्यावर्तक और इस प्रकार विषय-सापेक्ष होती है। किन्तु ऐसा भी नहीं है। अपनी मनःस्थितियों की प्रेक्ष्यता में अस्मिता इनका विशेषणों के रूप में धारण करती है और इस प्रकार विषयता यहां इतर और व्यावर्तक नहीं होकर अस्मिता की अपनी अभिव्यक्ति होती है। किन्तु तब भी अस्मिता आन्तरतः व्यावृत्त अस्तित्व है : 'मैं' 'पर' से प्रत्यावर्तित हुए बिना 'मैं' नहीं हो सकता, तब चाहे 'पर' की उपस्थिति सदैव स्पष्ट नहीं हो। उदाहरणतः 'मैं विचारता हूं' में 'मैं' 'अन्य नहीं विचार रहा है' के अन्य से अपने अन्तरतम में व्यावृत्त है। इसे साहंकारता भी कहा जा सकता है, जिसका अर्थ है कि अस्मिता के व्यावर्तन के लिए इतर की वास्तविक विद्यमानता आवश्यक नहीं है, यह विद्यमानता उसमें स्वरूपगत है।

किन्तु प्रेक्षकत्व के लिए ऐसा नहीं है। सर्वप्रथम, प्रेक्षकत्व विषय का इतरत्व नहीं होकर विषय का प्रकाशक होता है, और दूसरे, स्वरूपतः अत्यन्त प्रत्यङ्‌मुख होने के कारण यह विषय का सापेक्ष भी नहीं होता। अवश्य विषयोन्मुख अवस्था में विषय इसका अंशतः निबन्धन करता है, किन्तु प्रेक्षकत्व सदैव विषय को अपनी अतिक्रामी व्यापकता में स्थापित करता है। उदाहरणतः अध्यवसाय ऐन्द्रिय विषय की प्रेक्षकत्वोन्मुखता का प्रायः प्रथम चरण है जिसमें स्वरूपतः व्यष्टि-विषय विषयसामान्य में अन्तर्भुक्त हो जाता है : 'यह घट है' कथन में 'यह' पद इन्द्रियतः साक्षात्कृत व्यष्टित्व को बचाए रखने के प्रयत्न का द्योतक है जो व्यष्टित्व घट-सामान्य में निश्शेषवत् है। वास्तव में 'यह' के द्वारा निर्दिष्ट व्यष्टित्व भी अपने शुद्ध रूप में प्रेक्षकत्व की प्रत्यङ्‌मुखता में जागृत चित्त के लिए केवल उद्‌गृहीत (एब्स्ट्रेक्ट) रूप में ही ग्राह्य होता है, अन्यथा यह भी सामान्य से आविष्ट ही रहता है। यह तथ्य इस पद के द्वारा निर्दिष्ट अर्थ के निर्धारण का प्रयत्न करके देखा जा सकता है। वास्तव में ह्यूम को जो कठिनाई आत्मा को

देखने में आई थी वह बाह्य व्यष्टि को देखने में है, आत्मा को देखने में नहीं। यदि कहा जाय कि व्यष्टि निर्धार्य नहीं होता, वह अनिर्धार्यतया साक्षात्कार्य होता है, तो यह अयुक्त है, क्योंकि ग्राहक चित्त अनिवार्यत: निर्धारित होता है और परिणामत: उसका कोई ग्रहण अनिर्धार्य नहीं हो सकता। अनिर्धार्यता के कारण हेगल ने शुद्ध सत् को असत् से अभिन्न कहा है, यह कथन 'यह' द्वारा निर्दिष्ट पर भी लागू होता है, क्योंकि 'यह घट है' में 'यह' घट से अतिरिक्त किसी भी वस्तु का कथन नहीं करता और इस प्रकार घट से निर्धारित होता और उसे वैशिष्ट्य देता है। अवश्य इस पद के बिना 'घट' अस्तित्व से वंचित हो जाता है, किंतु अस्तित्व इंद्रिय-गोचर वस्तुओं के प्रसंग में बहुत महत्त्वपूर्ण होने पर भी सत्ता के प्रसंग में इनकी अकिंचनता का ही द्योतक होता है, यह इनके प्रसंग में देश-कालगत उपस्थिति और प्रत्यय के बीच खाई को ही प्रकट करता है,[2] जो खाई इन वस्तुओं की वास्तविक निराधारता और तात्त्विक अकिंचनता को प्रकट करती है। उदाहरणत: कांट ने अवधारणागत सौ रुपयों के वास्तव रुपयों से भेद की ओर संकेत कर सत्ता की दृष्टि से अवधारणा की अकिंचनता दिखाने का प्रयत्न किया है। किन्तु अवधारणा के बिना रुपए का कोई मूल्य भी तो नहीं है, जिस प्रकार देश-कालोपस्थिति के बिना उसका कोई अस्तित्व नहीं है। किंतु रुपए में ये दोनों पक्ष जबकि एकत्र करने पड़ते हैं, इनमें स्वत: कोई सापेक्षता नहीं होती, एकता तो दूर की बात है। अवधारणा के लिए कोई भी वस्तु यह प्रयोजन सिद्ध कर सकती है: रुपया चांदी का, चमड़े का, या कागज़ का, किसी का भी हो सकता है और वस्तुओं का सीधा विनिमय भी इस प्रयोजन को सिद्ध कर सकता है। वास्तव में स्वयं कांट के अनुसार भी ज्ञान आत्म-मूलक अवधारणा-कोटियों का ही फल होता है और स्वयं संवेद भी विचारित होने पर ही ज्ञान-विषय होता है। इस प्रकार कांट ज्ञान में संवेद की अनिवार्यता के लिए आग्रही होकर भी उसके महत्त्व की रक्षा नहीं कर सका, स्वतंत्रता की बात तो बहुत दूर रह जाती है। अरस्तू इस प्रयत्न की असफलता का दूसरा उदाहरण है जिसने प्लेटो द्वारा संवेद की अकिंचनता के द्योतन के बाद उसकी अनिवार्यता और महत्त्व की स्थापना का प्रयत्न किया था। जैसाकि हमने पीछे देखा था, अरस्तू 'मनुष्य' को असत् और केवल मनुष्य-विशेष को सत् मानता है। किंतु सत् का निरूपण करते हुए वह कहता है कि "सत् के अनेक अर्थों में से उसका पहला अर्थ है 'वह जो है' और इस प्रकार, जो द्रव्य को निरूपित करता है।"[3] इसकी व्याख्या करते हुए जिलसों कहता है: 'दूसरे शब्दों में, वस्तु का अस्ति (इज़) उसकी निरूप्यता (ह्वाट) है, न कि यह तथ्य कि उसका

2. हेगल-लॉजिक, पृ० 85.
3. मेटाफिजिक्स, ज़ेड 1, 10289 बी.

अस्तित्व है।"[4] इस विमर्श के अन्त में जिल्सों इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि 'अरस्तू वास्तव में प्लेटो का प्रत्याख्यान नहीं कर पाया, उसका फोर्म मैटर के लिए कोई अवकाश नहीं रहने देता।' वास्तव में पश्चिमी दर्शन के इतिहास में अरस्तू और कांट दो ऐसी महत् दर्शन-व्यवस्थाएं हैं जो प्रेक्षकत्व और प्रेक्ष्यत्व दो के पार्थक्य में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करती हैं, किंतु इस प्रयत्न की सफलता स्पष्टतः सन्दिग्ध है। बल्कि, कांट के सभी अनुयायियों : फ़िख्ते, शैलिंग, शोपेन्हावर तथा हेगल : द्वारा इस प्रयत्न का प्रेक्षकत्व के पक्ष में परित्याग इस प्रयत्न की असंभवता को ही प्रदर्शित करता है। भारतीय दर्शन में इस प्रसंग का सर्वथा भिन्न रूप और भिन्न अभिनिवेश सांख्य में दिखाई देता है जो इस सम्बन्ध को केवल एक-पक्षीय देखता है : अर्थात् प्रेक्ष्यत्व जबकि प्रेक्षकत्व का अनिवार्यतः अपेक्षी है, प्रेक्षकत्व निरपेक्ष है।[5]

यहां व्याख्या में कांट के समावेश के कारण एक स्पष्टीकरण आवश्यक है, वह यह कि कांट ने प्रेक्षकत्व की सार्थकता केवल प्रेक्ष्यत्व के निरूपण में ही देखी है, उसकी विचार-कोटियां केवल विषय-निरूपण में ही चरितार्थ होती हैं, इसलिए उसका प्रेक्षकत्व वास्तव में प्रत्यङ्मुख नहीं होकर अनिवार्यतः पराङ्मुख है।[6] यही कारण है कि उसमें 'इगो' (आत्म) जबकि अतिप्रत्यक्ष (अप्पर्सेप्शन) और विषय-रचनात्मक कोटियों का वाचक पद है, अस्मिता केवल एक रिक्त आकार है जो सब अनुभवों का अनुगमन करता है। किंतु कांट यह नहीं विचारता कि अनुभव इस आकार की ओर अभिमुख ही क्यों होते हैं ! यहां एक और प्रश्न विचारणीय है : कांट के अनुसार कोटियां अनिवार्यतः विषय-कोटियां हैं और इस प्रकार विषय के रूप में ही प्रतिफलित होती हैं, किंतु ये कोटियां प्रागनुभविक और अतिक्रामी हैं, जिसका अर्थ है कि इनकी प्रागनुभविक-अतिक्रामी-स्वरूपता अवगम्य है। किंतु यह अवगमन विषयता और अतिक्रामिता दोनों से ऊपर प्रत्यङ्मुख प्रेक्षकत्व में अवस्थित हुए बिना सम्भव नहीं है, जो प्रेक्षकत्व अति-प्रत्यक्ष और कोटियों के रूप में विषयोन्मुख चित्त की आत्ममूलकता का प्रेक्षण करता है। किंतु कांट की व्यवस्था में यह बात नितान्त काल्पनिकता होगी, यद्यपि यह स्पष्ट नहीं है कि कांट इस प्रत्यङ्मुखता के बिना किस प्रकार कोटियों की अतिक्रान्तता की बात कर सकता है। वास्तव में यहां कहा जा सकता है कि कांट ने शुद्ध बुद्धि के नियामक

4. जिल्सों, एटीने-बींग एंड सम फिलोसोफर्स, पृ० 46.
5. सांख्य की हमारी इस व्याख्या से बहुत से लोग असहमत होंगे, क्योंकि सांख्य की प्रकृति पुरुष के समान ही निरपेक्ष सत् प्रतीत होती है। किन्तु हमारे विचार में सांख्य की प्रकृति प्रेक्ष्यत्व के प्रेक्षकत्व से आत्म-निवर्तन की पर्यन्तता मात्र है, मौलिक नहीं। 'परार्थत्व' उसके स्वरूप में मौलिक है।
6. द्रष्टव्य—क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न, ए० 107-108.

प्रत्ययों (रेगुलेटिव आइडियाज़ ऑफ प्योर रीज़न) के रूप में एक भिन्न रूप में इस प्रत्यङ्‌मुखता को स्वीकार कर लिया है।

किन्तु यहां आपत्ति हो सकती है कि प्रेक्षकत्व के नितान्त प्रत्यङ्‌मुख होने के कारण वह नितान्त अग्राह्य होना आवश्यक है, विषयता से निवर्तन पर से इसका ग्रहण परोक्ष ग्रहण है जिसका माध्यम निगमन है। किन्तु इस निगमन की प्रामाणिकता के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है।

यह आपत्ति सही नहीं है, प्रेक्षकत्व प्रेक्ष्य की पूर्वापेक्षा नहीं होकर प्रातिभ-ग्राह्य है, जो अहं-प्रत्यय : अस्मिता : के रूप में वेद्य होता है किंतु जो उसके आधार के रूप में उसके अतिक्रमण में साक्षात्कार्य होता है। जैसाकि हमने पीछे देखा, अहं-प्रत्यय स्वयं भी प्रत्यङ्‌मुखता में ग्राह्य होता है, यह विषय से उद्‌भिन्न आत्मोन्मुख निवर्तन में ही विदित होता है। इसी से यह सन्देह, निषेध और कल्पना में स्फुटतम होता है। किंतु यह स्वयं प्रेक्षकत्व नहीं होता, क्योंकि यह विषयों के साथ उनके विषयी के रूप में, और कल्पना में विषय-प्रवर्तक के रूप में विदित होता है। किंतु यह विषय-सापेक्ष प्रत्यङ्‌मुखता नितान्त प्रत्यङ्‌मुख प्रेक्षकता की ओर संकेत करती है जिसमें यह ग्राह्य होती है।

किंतु शुद्ध प्रेक्षकता मनुष्य के लिए एक पार्यन्तिक कल्पना (लिमिटिंग कांसेप्ट) है, जिसकी विपरीत पार्यन्तिक कल्पना निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। व्यवहार में प्रेक्षकता विशिष्ट के सामान्य-मूलक निर्धारण में अथवा विषय के स्वरूप-विषयक जिज्ञासा अथवा उसके ज्ञान में घटित होती है। सामान्य और स्वरूप एक ही तथ्य के दो नाम हैं, जो तथ्य प्रेक्ष्य की प्रेक्षकत्वोन्मुखता, अथवा कहें प्रेक्ष्य के प्रेक्षकत्व में उन्मीलन का है। उदाहरणतः इन्द्रियगोचर विषय, जैसे घट, इन्द्रिय-गोचर विशिष्ट का घट-सामान्य : घटत्व : में अन्तर्भाव है, जिस सामान्य के एक उदाहरण के रूप में हम घट-व्यष्टि का ग्रहण करते हैं। इसी से दृश्यमान् घट अपने असंख्य दृश्य और अदृश्यमान् पक्षों की अखंड समग्रता में और प्रयोजन-साधकता में एक अविशिष्ट घटक मात्र होता है। इस स्थिति का विश्लेषण प्रायः तीन घटकों में किया जाता है -- ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय। किंतु यह विश्लेषण तीन प्रकार से भ्रामक है—एक तो इस प्रकार से कि इसमें ज्ञाता और ज्ञान ज्ञेय पर केन्द्रित हैं, जब कि वास्तव में इस विश्लेषण की सम्भावना ही ज्ञाता द्वारा ज्ञेय के अपने में आत्मसात्करण में निहित है। नहीं तो ज्ञेय-विषय की उपलब्धि होने पर ज्ञाता और ज्ञान उसमें अवसित हो जाने चाहिएं थे, जोकि ये नहीं होते, जिस कारण से ही विचार ज्ञेय को उपलब्ध कर ज्ञाता की ओर लौटता है और ज्ञेय को उसकी : ज्ञाता की : एवं उसकी क्रिया : ज्ञान : की सापेक्षता में देखता है। दूसरे यह इस प्रकार भ्रामक है कि, इस विश्लेषण का ज्ञाता वास्तव में प्रेक्षकत्व और अस्मिता का व्यामिश्र है, यह शुद्ध ज्ञातृत्व : प्रेक्षकत्व : नहीं है। तीसरे,

ज्ञान यहां ज्ञाता और ज्ञेय के बीच सम्बन्ध का वाचक है, जो इस विश्लेषण के अनुसार, ज्ञाता की विषयिता है। इस विषयिता का स्वरूप कभी स्पष्ट नहीं किया गया, किन्तु इनका मन्तव्य किसी प्रकार की मानसिकता से प्रतीत होता है जो ज्ञेय का काल्पनिक या वास्तविक बिम्ब ज्ञाता के लिए धारण करती है। ज्ञान को एक पृथक् घटक का स्थान भ्रम के आकलन के लिए भी दिया गया है, किंतु यदि ज्ञान एक मध्यवर्ती घटक हो जो ज्ञेय को ज्ञाता के लिए प्रस्तुत करता है तो ज्ञाता कभी इस घटक को उत्तीर्ण नहीं कर सकता, और यदि ज्ञाता उसको उत्तीर्ण कर सकता है तो ज्ञान की मध्यस्थता अनावश्यक हो जाती है। वास्तव में यह सम्पूर्ण अवधारणा ही अत्यन्त स्थूल है, इसमें ज्ञाता और ज्ञेय को वस्तुओं के रूप में और ज्ञान को इनके ऐसे मध्यवर्ती स्थल के रूप में देखा गया है जिस पर ये परस्पर मिलते हैं। अवश्य वेदान्त इस त्रित्व को पारमार्थिक नहीं मानता, किंतु उसके व्यवहार और परमार्थ में कोई तारतम्य बैठाना असंभव है। किन्तु व्यवहार में भी, अनिन्द्रिय विषयों के ज्ञान के प्रसंग में यह भेद कैसे होगा ? उदाहरणत: मेरी अपनी लिखी कविता या अपने बनाए चित्र में, उससे आगे मेरी अपनी मन:-स्थिति, और अन्तत: मेरी अपनी अस्मिता के प्रसंग में यह भेद कैसे होगा ? वहां ज्ञान और ज्ञेय में भेद कैसे किया जायेगा ?

किन्तु ज्ञान को एक पृथक् घटक नहीं मानने पर भ्रम और संदेह को किस प्रकार समझा जा सकता है ? इसके उत्तर के लिए यह पूछना प्रासंगिक होगा कि स्वयं यह प्रश्न किस प्रकार की जिज्ञासा है ? यह जिज्ञासा ज्ञातृत्व की सीमितता और इस सीमा की अतिक्रमणीयता की द्योतक है : प्रत्येक ज्ञान में भ्रम की संभावना निहित है जो ज्ञातृ की सीमितता को प्रकट करती है, किन्तु इस सीमा का अवगमन इसकी अतिक्राम्यता को प्रकट करता है। किन्तु यहां आपत्ति की जा सकती है कि बाह्य विषयों के, जिनमें स्वरचित विषय भी सम्मिलित हैं, ज्ञान में भ्रम की सम्भावना का ज्ञान, अथवा भ्रम का भी ज्ञान, हमारे ज्ञान की सीमितता का निवारण नहीं करता। किन्तु यह सही नहीं है। ज्ञान में भ्रम के निरास से युग-पद्रूप से ज्ञातृत्व की सीमा का निरास भी होता है, यद्यपि वह उसका अत्यन्त निरास नहीं होता, उस विषय के प्रसंग में ही निरास होता है। उदाहरणत: रज्जु को जब हम सर्प समझते हैं, और जब इस भ्रम का निरास होता है, इन दो स्थितियों में इन्द्रिय-विषयता की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं होता, इसी से इस दृष्टि से इनमें कोई बाध भी नहीं हो सकता, ये दोनों परस्पर स्वतंत्र स्थितियां हैं। यहां अनुभव-वादियों के भाषा के प्रमाणीकरण-सिद्धान्त का दोष देखा जा सकता है : अनुभववाद भौतिक विषय का संवेदों में विश्लेषण कर लेता है और उस अविश्लेष्य को भूल जाता है जो वास्तव में विषय है और प्रतिज्ञप्ति का वाच्य है। किन्तु उसकी यह भूल इस सत्य को और प्रखरता से प्रकाशित करती है कि कोई विषय वास्तव में

ऐन्द्रिय नहीं होता, वह चित् की उस अखंड आवयविकता का प्रतिबिम्ब होता है जो अवयवों में विभक्त होकर उनके माध्यम से अपने को पुनः समेटती है। अन्यथा संवेद प्रमाण कैसे होंगे ?

ऐन्द्रिय विषय पर थोड़ा गहराई से विचार करें तो हम पायेंगे कि यह एक अत्यन्त जटिल परिस्थिति है : रज्जु निर्जीव वस्तु है सर्प सजीव, पुनः, रज्जु निर्जीव वस्तु मात्र नहीं है, यह मनुष्य द्वारा निर्मित, अर्थात् प्रयोजनान्वेषी चित्त द्वारा आविष्कृत, वस्तु है, जबकि सर्प स्वयं प्रयोजनान्वेषी चित्त है, तब इनमें व्यामिश्र कैसे होता है ? इनमें सामान्य स्वयं एक आविष्कार है : यह सामान्य एक अत्यधिक उद्गृहीत वस्तु है जो न रज्जु है और न सर्प, किन्तु तब भी दोनों में सामान्य है। किन्तु चित्त कभी इस वस्तु का ग्रहण नहीं करता, वह रज्जु या सर्प का ही ग्रहण करता है, इनसे न्यून केवल विश्लेषणात्मक उद्ग्रहण (एनेलिटिकल एब्स्ट्रेक्शन) मात्र होता है। किन्तु तथाकथित शुद्ध ऐन्द्रिय विषय, जो कि प्रस्तुत होता है, इस उद्गृहीत सामान्य से भी न्यून होता है, जिसका हम कभी विषय-रूप में ग्रहण नहीं करते। परिणामतः भ्रम का कारण यह नहीं होता कि हम पहले किसी उद्गृहीत विषय (एब्स्ट्रेक्ट ऑब्जेक्ट) का ग्रहण करते हैं और पीछे पूर्ण विषय का ग्रहण करते हैं, क्योंकि उद्गृहीत विषय का ग्रहण पूर्ण के ग्रहण को पूर्वकल्पित करता है। भ्रम का मूल विषय की असीम स्वरूपता और हमारे ग्रहण की सीमितता में है, और यह असीमितता सभी प्रकार के विषयों में स्वरूपगत होती है, फिर चाहे वे ऐन्द्रिय विषय हों, चाहे भावनात्मक, और चाहे बौद्धिक। ऐन्द्रिय विषय परिप्रेक्ष्यता में, भावना-विषय अपने अर्थ के विस्तार, गांभीर्य तथा बहुआयामात्मकता में, और प्रत्यय आयामों तथा व्यवस्थात्मक सम्बन्धों में असीम होते हैं। उदाहरणतः ऐन्द्रिय विषय, यथा घट, को देखने के असंख्य दृष्टिकोण हो सकते हैं, इनमें यदि वे स्थान और क्षण भी सम्मिलित कर लें जिनसे वह दूरी, बाधा तथा अतीतता के कारण नहीं देखा जा सकता तब तो उसकी असीमता के आयाम भी अनेक हो जाते हैं। उदाहरणतः "आविर्भाव के पूर्व और तिरोभाव के अनन्तर" ये भी घट की सत्ता के आयाम हो सकते हैं। इसी प्रकार प्रेम, करुणा आदि भावनाएं तथा दार्शनिक अथवा धार्मिक प्रत्यय होते हैं। असंख्य प्रेम-काव्य एक ही प्रेम-भाव के अर्थ-विवेचन के प्रयत्न हैं और प्रत्येक कवि उसके अर्थ-वैभव का साक्षात्कार करते हुए जबकि उसकी अतलता को अनवगाह्य पाता है, दूसरे कवियों के वर्णनों में वह उसकी अनेक-पक्षता और अनेक-आयामात्मकता देखता है। इसी प्रकार प्रत्ययों के लिए है: मोक्ष का प्रत्यय बौद्ध, वैदांतिक तथा सांख्यीय परम्पराओं में अपने आयामों की असंख्यकता को और प्रत्येक दार्शनिक में अपने अवलोकित पक्ष की अनवगाह्यता को प्रदर्शित करता है। ग्राह्य की यह असीमता और ग्रहण की अल्पता ही भ्रम की संभावना की मूल होती है।

किन्तु विषय या प्रेक्ष्य की यह असीमता प्रेक्षकत्व के प्रत्यङ्मुख आरोहण की सापेक्ष होती है : यद्यपि विषय प्रत्यङ्मुखता के किसी भी स्तर पर अखंड एकत्व के रूप में और इस प्रकार असीमतया ही प्रदत्त होता है, किन्तु इस असीमता के उतने ही आयाम और विस्तार प्रकट होते हैं जितना प्रेक्षकत्व अपनी ओर लौट पाता है। उदाहरणतः रज्जु में सर्प-भ्रम का निवारण प्रथम ग्रहण की अपर्याप्तता को प्रकट करता है, और वास्तव में दूसरे : युक्त : ग्रहण की अपर्याप्तता को भी प्रकट करता है : क्योंकि दोनों ग्रहणों में स्वतः कोई अन्तर नहीं होता : और इस प्रकार ग्राह्य की अतिक्रान्तता या स्वतंत्रता को प्रकट करता है। किन्तु विषय की यह अतिक्रान्तता वास्तव में प्रेक्ष्य का प्रस्तुत से प्रत्यावर्तन में आत्मावगमन ही है, क्योंकि ग्रहण की अपर्याप्तता के बोध के बिना ग्राह्य की अतिक्रान्तता ग्राह्य नहीं हो सकती। किन्तु इन ग्रहणों की अपर्याप्तता के स्वरूप का ग्रहण प्रेक्षकत्व में और आगे निवर्तन की अपेक्षा करता है।

किन्तु ऐन्द्रिय विषय मूलतः और स्वरूपतः बाह्यात्मक होता है, यद्यपि उसका तत्त्व प्रेक्षकत्व की प्रत्यङ्मुखता में ही अपना स्वरूप प्रकट करता है। और जितनी ही इसकी बाह्यता विषयी से स्वतंत्रता में निश्चित होती है उतना ही इसका तत्त्व प्रेक्षकत्व की प्रत्यङ्मुखता में गहन होता है, जैसाकि भौतिक विज्ञान में हम देखते हैं। किन्तु अब बाह्यता इन्द्रियमूलक और इस प्रकार व्यष्ट्यात्मक नहीं होकर स्वयं तात्त्विक हो जाती है : अब विषय प्रस्तुत रज्जु या सर्प नहीं रहकर ऐन्द्रिक विषय-सामान्य हो जाता है। यह विषय की अपनी व्यष्टिता की उपाधि से मुक्ति है जो प्रेक्षकत्व की उपाधि-मुक्तता की सापेक्ष होती है : सर्प का उसकी स्वतंत्र विषयता में निश्चय उसके प्रस्तुत इन्द्रियग्राह्य रूप और तज्जनित आवेग आदि से क्रमशः दूर उसके जीव-वैज्ञानिक लक्षणों आदि से होता है।

भावनाएं प्रेक्षकत्व के स्वरूप को और अधिक सम्यक् रूप में प्रकट करती हैं। मूलतः ये भावनाएं आवेग हैं जो चित्त की उद्विग्नता के रूप में प्रकट होती हैं और इस स्थिति में ज्ञान का प्रसंग ही प्रस्तुत नहीं होता। किन्तु प्रत्यङ्मुख चित्त इस उद्विग्नता को प्रेक्ष्य के रूप में अपने से पृथक् कर प्रेक्षकत्व में इसके तत्त्व का साक्षात्कार करता है। यह द्रष्टव्य है कि यह प्रेक्ष्य मनोवैज्ञानिक विषय और प्रेक्षकत्व मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं होता बल्कि आवेग का भोक्तृत्व होता है जो कलात्मक बोध और सर्जन के रूप में प्रेक्षकत्व से अपने तत्त्व को प्राप्त करता है। यह आवेग अब विशिष्ट घटना, अथवा विशिष्ट चैतसिक गुणों की विद्यमानता नहीं होकर प्रेक्षकत्व में साक्षात्कृत अविशिष्ट :उपाधिमुक्त: उपभोग का तत्त्व बनता है। अर्थात् अब यह कवि की व्यक्तिगत जीवनी का अंश नहीं होकर सार्वभौम चित्त में आस्वाद्य भाव होता है। इसका सहज ग्राह्य उदाहरण अभिनय हो सकता है, जिसमें अभिनेता अभिनेय भाव को उसकी घटनात्मकता में धारण नहीं कर

प्रेक्ष्यत्व में ग्रहण करता है और दैहिक भंगिमा द्वारा उसे संप्रेषित करता है। किन्तु जब यह अनुभव प्रेक्षकत्व के इस स्तर तक नहीं उठ पाता, जैसे प्रेम के साधारण अनुभव में, तब भी यह प्रेक्ष्यत्व से नितान्त शून्य नहीं होता : कोई भी व्यक्ति इन अनुभव का स्मरण कर सकता है और इसको भाषा के माध्यम से संप्रेषित कर सकता है। किन्तु यहां यह स्पष्ट करना महत्त्वपूर्ण है कि यह संप्रेषण कथनात्मक भाषा में नहीं होकर अभिव्यंजनात्मक भाषा में होता है।[7] इसका कारण यह है है कि यहां प्रेक्ष्य विषय नहीं होकर भोक्तृभाव में विषयी होता है। किन्तु यह विषयी स्वयं भोगात्मक नहीं होकर उसका प्रत्ययाकार होता है और अतएव सामान्य होता है। उदाहरणतः किसी राग की धुन, कोई विषयकरण हुए बिना, उसकी विषयिता में ही, प्रेक्षक चित्त द्वारा विषयिगत भोक्तृभाव के अवगमन को अभिव्यंजित करती है, और इस विषयिता के प्रेक्ष्य होने से यह संवेदनात्मक विशिष्ट नहीं होकर प्रत्ययात्मक सामान्य होती है। अर्थात् विषयिता यहां अपने अस्तित्व में नहीं अपने तत्त्व में ग्राह्य होती है। धुन की अभिव्यंजनात्मक सामान्यता इस बात की द्योतक है कि चित्त विषयिता में भी प्रत्यङ्मुख होने पर अहंकार की सीमाओं का अतिक्रमण कर सार्वभौम हो जाता है।

7. द्रष्टव्य-मनुष्य और जगत् में "कला सर्जन" और आगे "कला-तत्त्व।"

4

मूल्य । विषयि-सत्ता

पिछले अध्याय में हमने विषय की असीमता और उसके हमारे ग्रहण की ससीमता के बीच अन्तराल के स्वरूप पर विचार किया जो अन्तराल सन्देह और भ्रम की स्थितियों का हेतु बनता है। किन्तु सन्देह और भ्रम जहां एक ओर ग्रहण की सीमितता को सूचित करते हैं वहीं दूसरी ओर इस सीमा की अतिक्राम्यता को भी सूचित करते हैं। सीमा की यह अतिक्राम्यता ससीम और असीम के युगपद् बोध में प्रतिष्ठित होती है। इस प्रकार यह बोध उस सीमा का बोध है जो अतिक्रमणीय है, जिसकी विद्यमानता उसकी अविद्यमानता की सापेक्ष है। दूसरे शब्दों में, सीमा एक अभावात्मक भाव है, यह असत् अस्तित्व है। सन्देह और भ्रम की तार्किक संरचनाएं भी इसकी पुष्टि करती हैं : 'यह रज्जु है या सर्प ?' प्रश्न का अर्थ है कि ग्रहण की विद्यमान स्थिति अविद्यमान ग्राह्य स्थिति से व्यवहित है और ग्राह्य इस व्यवधान से रहित है, परिणामतः ग्रहण का बोध भी इससे रहित है, क्योंकि बोध में रज्जु और सर्प दोनों अव्यवहिततया विदित हैं। इस प्रकार ग्रहणगत व्यवधान अव्यवहित से आप्रविष्ट है, जिसके बिना यह : व्यवधान : होता ही नहीं : असंदिग्ध के और सन्देह की असंदिग्ध में निरास्यता के बोध के बिना संदेह नहीं हो सकता। ज्ञानगत यह व्यवधान उस सामान्य व्यवधान का एक पक्ष-मात्र होता है जो मानव-चेतना में उसका घटक है। चेतनागत यह व्यवधान मूल्यान्वेषण का बीज है। मूल्य अभाव का बोध और भाव की पर्येषणा है, अथवा इसे केवल भाव की पर्येषणा भी कह सकते हैं, क्योंकि भाव-पर्येषणा में अभाव का बोध पूर्वकल्पित है। किन्तु मात्र अभाव-बोध को मूल्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अभाव-बोध में भाव अभाव की सापेक्षता में और परोक्षतया ही गम्य होता है, निरपेक्ष और प्रत्यक्ष रूप में नहीं, जो कि मूल्य-बोध के लिए आवश्यक है। मूल्य उस पूर्ण की एषणा है जिसकी अविद्यमानता या अनुपलब्धि अभाव-बोध की जनक और उसको सार्थकता देने वाली होती है, अभाव का बोध नहीं, जिसमें भाव की अपेक्षा तो अवश्य रहती है किन्तु अनिवार्य रूप से उसका बोध नहीं रहता। उदाहरणतः भूख में उसके निवारण की आकुलता तो अवश्य रहती है किन्तु उसकी समाप्ति के सुख का और इस समाप्ति के साधनभूत भोजन का बोध भी रहे, यह अनिवार्य नहीं है : जैसा कि शिशु में और नितान्त अविकसित जीवों में हम देखते

हैं । भाव की इस पर्येषणा के अनेक आयाम हैं, जिनमें एक ज्ञान भी है। ज्ञान के आयाम में यह पर्येषणा सत्य को, अथवा कहें प्रेक्ष्य के साक्षात्कार को, लक्षित करती है। सन्देह का स्फुट बोध, भूख के बोध के समान, अपने निवारण के लिए उद्विग्नता उत्पन्न करता है और सत्य इस उद्विग्नता के लिए साध्य बनता है।

यह अभाव और उद्विग्नता चेतना के स्वरूप के अत्यन्त निगूढ़ रहस्य हैं। उदाहरणतः भूख, अपने भौतिक अर्थ में, शरीर की एक रासायनिक स्थिति है, जिसे शरीर-वैज्ञानिक रासायनिक असन्तुलन की एक स्थिति कहता है। किन्तु इसे 'रासायनिक असन्तुलन की एक स्थिति' कहने में सिद्ध-साधन दोष है, क्योंकि यह स्थिति वास्तव में भूख-जन्य आकुलता के सहगामी अनुभव के आधार पर ही 'असन्तुलन' कही जाती है जो इस सहगामिता के बिना केवल एक रासायनिक स्थिति होती है जिसमें असन्तुलन की कोई बात नहीं होती। यह असन्तुलन की स्थिति प्रथमतः शरीर की आवयविकतामूलक होती है, जो पुनः एक रासायनिक स्थिति नहीं है बल्कि जैविक अवस्था है, किन्तु भूख यह आवयविक असन्तुलन मात्र भी नहीं है, यह चेतना में प्रकट एक विशिष्ट अभाव की स्थिति है, जो अभाव चेतना का एक अद्वितीय स्वभाव है और जो अनुभव में विदित होकर चेतना को इसके निवारण या पूर्ति के लिए उद्विग्न करता है। यही अनुभूति एक दूसरे स्तर पर सन्देह और जिज्ञासा में होती है। इनका स्तर-भेद परोक्षतः सहगामी शारीरिक घटनाओं से भी सूचित होता है और प्रत्यक्षतः स्वयं अनुभूतिगत प्रकार-भेद से भी। किंतु सन्देह और जिज्ञासा की सहगामी शारीरिक घटनाएं भूख के समान यह भ्रम उत्पन्न नहीं करतीं कि जिज्ञासादि भौतिक स्थिति-रूप हैं अथवा इस प्रकार की स्थिति से कारित हैं: सूर्य को देखकर यह जिज्ञासा होना कि वह पृथ्वी पर क्यों नहीं आ गिरता, अथवा हवा में कागज़ के उड़ जाने किन्तु पत्थर के नहीं उड़ने से यह कुतूहल होना कि कागज़ क्यों उड़ गया और पत्थर क्यों नहीं, प्रत्यक्षतः बौद्धिक चित्त में उत्पन्न उद्विग्नताएं हैं जो शारीरिक (मस्तिष्कीय) उद्विग्नता में भी प्रतिबिम्बित हो सकती हैं, जो कि अंततः परमाणुओं की भौतिक व्यवस्था मात्र है, किन्तु चित्तगत उद्विग्नता (जिज्ञासा और सन्देह) का इस व्यवस्था या मस्तिष्कीय तनाव में अपचय या उससे तादात्म्य-स्थापन दृष्टि-विपर्यास मात्र ही कहा जा सकता है।

जैसा कि हमने पीछे कहा, यह अभावानुभूति मूल्य-पर्येषणा की बीजभूत है, किन्तु यह स्वयं मूल्य नहीं है, मूल्य इस अभाव की समाप्ति है। किन्तु भाव की सिद्धि घटित हो जाने पर वह मूल्य नहीं रहती, जब तक कि उस घटित स्थिति अथवा भाव की पूर्णता के साथ पूर्वगत अभाव और सिद्धि के प्रयत्न की स्मृति नहीं जुड़ी हो, अथवा जब तक भाव की सिद्धि पुनः खो जाने की संभावना से आक्रान्त नहीं हो : वर्ण, पत्तियों के आकार और संस्थान, तथा पारिवेशिक संस्थान में

आदर्शतः रचित फूल का सौन्दर्य आविष्कार्य होने पर भी स्खलन और अस्वास्थ्य की असंख्य संभावनाओं को निरस्त कर और भावी ह्रास की सम्भावनाओं को रोक कर अवस्थित होता है, इसीसे वह प्रकृत्या सिद्ध होने पर भी साधना के फलवत् होता है। किन्तु तब यह एक महत् रहस्य है कि साध्य भाव अस्तित्वरहित होने से भाव किस प्रकार हो सकता है? गीता में इस सम्बन्ध में एक श्लोक है :

नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः,
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः । 2.16

यह इसी प्रश्न का एक सत्कार्यवादी उत्तर है। किन्तु सत्कार्यवादी सांख्य यह नहीं बताता कि तब नाम-रूपात्मक जगत् : अविवेक : कैसे मात्र त्रैगुण्य है। यह प्रतिपादन चेतना के उस निगूढ़ रहस्य को भूल जाने के कारण है जो अभाव के रूप में लक्षित होता है। अभाव चेतना में मौलिक है, इस प्रकार 'असदेवेदमग्र आसीत्' चेतना के स्वभाव को सम्यक् रूप से निरूपित करता है, और तब भाव : सत् : केवल इस अपेक्षा के, इस चिद्गत अभाव, या असत्-मूलक उद्विग्नता, या पर्येषणा के भाव्य पर्यवसायी के रूप में ही हो सकता है, वस्तुतः या अस्तित्वतः नहीं। इस अभाव और भाव को हम केवल भूख और तृप्ति तथा सन्देह और समाधान के रूप में ही नहीं देखते बल्कि अनेक रूपों में देखते हैं; बल्कि कहा जा सकता है कि चेतना जितने भी प्रकार से उद्गत होती है उतने ही अभाव और भाव्य के प्रकार होते हैं। उदाहरण के लिए कलाएं, विज्ञान, समाज, भाषा आदि प्रकारक विभिन्न रचनाएं इस अभाव और उसकी पूर्ति के प्रयत्न की ही द्योतक हैं, और पुनः इनमें न्यूनता का दर्शन : जैसे किसी कविता, चित्र, दार्शनिक प्रतिपादन तथा वैज्ञानिक सिद्धान्त में न्यूनता का दर्शनः इस अभाव का, और इस अभाव को मापने वाले भाव का ही दर्शन है। यह न्यूनता हम अनिवार्य रूप से मानवीय कृतियों में ही नहीं देखते, यह हम जैव, भौतिक और देव-सृष्टि में भी देखते हैं। उदाहरणतः प्राणियों और वनस्पतियों के दैहिक स्वास्थ्य या आवयविक गठन में, सूर्योदय के सौन्दर्य में, अथवा पर्वत-शृंखला के सांस्थानिक सौष्ठव में तथा घटनाओं की अयुक्तता में : जैसे प्राणियों के, विशेषतः व्यक्तियों के, अहैतुक दुःख में, प्राकृतिक सम्पदा के असमान वितरण, और अतिवृष्टि-अनावृष्टि-आदि में : भी देखते हैं। ऐसा नहीं है कि स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य, संस्थान और घटनाएं वस्तुतः नहीं हैं, ये स्पष्ट रूप से वस्तुतः हैं, किन्तु इनमें न्यूनता-अन्यूनता मूल्यदृष्टि-सापेक्ष होती है, वस्तुगत नहीं। किन्तु यहां यह अविलम्ब कहना आवश्यक है कि मूल्य-दृष्टि-सापेक्ष का अर्थ 'मनोनिष्ठ-काल्पनिक' नहीं है, क्योंकि यह दृष्टि चेतना के स्वभाव में गर्भित और तात्त्विक होती है।

यहां यह द्रष्टव्य है कि ऊपर चर्चित अभाव के उदाहरणों में बहुत स्तर-भेद और स्वरूप-भेद है। उदाहरणतः भूख, जिज्ञासा और सूर्योदय के सौन्दर्यदर्शन में

मौलिक भेद है : प्रथम दैहिक है और किसी खाद्य वस्तु का देह में प्रवेश इस अभाव की पूर्ति में साधन बनता है, दूसरा प्रेक्षणात्मक है, जिसमें आत्म-व्यवहित चित्त व्यवधान के निवारण द्वारा आत्म-तादात्म्य को सिद्ध करना चाहता है, तीसरा पश्यनात्मक (कांटेंप्लेटिव) है, जिसमें बाह्य दृश्य भावना के आलंबन के रूप में आदर्श प्रतिमान से तुलनीय बनता है। अब जबकि इन तीनों की तार्किक संरचना (स्ट्रक्चर) एक ही है : अभावानुभूति और भाव-पर्येषणा: प्रथम में अभाव और भाव विस्तार और गांभीर्य से नितान्त शून्य हैं, इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि ये सत् के स्तर का स्पर्श नहीं करते, केवल अस्तित्व के स्तर पर ही उपचरित होते हैं, इसलिए इनमें सत् की पर्याप्तता-अपर्याप्तता का प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता, केवल एक-आयामात्मक अस्तित्व ही अपने को बनाये रखने के प्रयत्न में व्यस्त रहता है।

किन्तु दूसरी दो पर्येषणाएं भी अपने सब उपचारों में मूल्यात्मक नहीं होतीं : रज्जु-सर्प के बीच अनिर्णय की स्थिति निर्णय के लिए उद्विग्न करती है, परिणामत: उसका निवारण हमें इष्ट होता है, किन्तु इसका निवारण अपने-आपसे ज्ञान को विस्तार और गांभीर्य नहीं देता, क्योंकि यह पुन: विशिष्ट : अस्तित्व: के स्तर पर ही उपचरित होता है, तत्त्व के स्तर पर नहीं। इस कारण यह अनुसंधान व्यवहारोपयोगी तो है किन्तु मूल्य रूप में पर्येष्य नहीं। इन दो में अन्तर यह है कि जबकि व्यवहारोपयोगी अनुसंधान अस्तित्वपरक अभावों की पूर्ति को लक्षित करता है, अन्वेष्य मूल्य सत्त्वगत अभाव के निवारण को लक्षित करता है। ऊपर सन्देह को हमने चित्तगत आत्म-व्यवधान कहा, इस परिभाषा के अनुसार सभी सन्देह सन्मूलक हो जाते हैं और परिणामत: उनका निवारण मूल्य हो जाता है। यह सही है, जहां तक इनमें इस अभाव की पूर्ति होती है। किन्तु प्रेक्षण का उत्कर्ष प्रत्यङ्मुखता के उत्कर्ष का अनुसारी होने से और विशिष्ट विषयमूलक सन्देह के अतिशय बहिर्मुख होने से, इसमें : जैसे रज्जु-सर्प सन्देह में : अभाव और भाव चित्त को परिव्याप्त नहीं करते। यही सन्देह जब प्रज्ञापारमिता (हाइएस्ट विज़डम) को लक्षित करता है, जिसमें विशिष्ट प्रेक्ष्य ही नहीं बल्कि सामान्य प्रेक्ष्य भी, अर्थात् वस्तुएं ही नहीं उनके विज्ञान भी, सीमित होने से उपेक्षित हो जाते हैं और प्रेक्षण का मूल ही प्रेक्ष्य के रूप में अन्वेष्य होता है, तब सत्य परम मूल्य के रूप में साध्य बनता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मूल्य के अवर स्तर नहीं होते : भौतिक वैज्ञानिक के लिए भौतिक तत्त्व का स्वरूप, मनोवैज्ञानिक के लिए मनस्तत्त्व का स्वरूप, तर्क-वैज्ञानिक के लिए चिन्तन के आकारात्मक सम्बन्ध मूल्य के रूप में पर्येष्य होते हैं, ये वैज्ञानिक प्रेक्ष्यता के इन विभिन्न क्षेत्रों में निगूढ़ सत्य का अन्वेषण करते हैं। जैसाकि हमने पिछले अध्याय में देखा, अन्वेष्य सत्यों में स्तर-भेद का मानदंड व्यापकता है जो अन्वेषक-दृष्टि : प्रेक्षकत्व : के प्रत्यङ्मुख

आरोहण की सापेक्ष होती है। किन्तु यह सत्यान्वेषण मूल्य के रूप में तब अत्यन्त भ्रामक हो सकता है जब यह अपनी व्यापकता के किसी सीमित क्षेत्र को समग्र मान लेता है, और यह तब भी भ्रामक होता है जब यह सत्य को दृष्टि की सम्पन्नता के रूप में नहीं देखकर संकलन या कौशल के रूप में देखता है। उदाहरण के लिए आईंस्टाईन के अन्वेषण का उत्कर्ष भौतिक तत्त्व-विषयक व्यापकतर सत्य को पाने में तो था ही, उतना ही अधिक इस सत्य को अपनी दृष्टि की सम्पन्नता के रूप में पाने में भी था। इसी कारण वह उन वैज्ञानिकों से भी महत्तर है जो उसके अन्वेषण का अर्थ और उसकी सार्थकता को समझते हैं और उनसे भी जो उसके अन्वेषण की न्यूनताएं खोज सके हैं, क्योंकि पश्चाद्वर्ती वैज्ञानिक की खोज की अधिक व्यापकता अनिवार्य रूप से उसकी प्रेक्षकता की व्यापकतरता नहीं बनती, उसकी व्यापकतरता उस वाङ्मय के आश्रित होती है जो वाङ्मय स्वयं आईं-स्टाईन की दृष्टि से कारित है : इसे इस उपमा से समझा जा सकता है कि, भूमि पर से दो गज़ ऊपर कूदने वाला भूमि से दो गज़ ऊपर बने मंच पर से एक गज़ ऊपर कूदने वाले से कूदने की सामर्थ्य में श्रेष्ठतर होता है।

सूर्योदय के सौन्दर्य-दर्शन में विषय प्रेक्षा का आलंबन नहीं होकर भावना का आलंबन होता है और प्रत्यङ्मुख चित्त में आलोकित होकर अर्थ प्राप्त करता है। इसका मूल्य इस आलोकित अर्थ की प्रांजलता और सम्पन्नता में होता है। यहां पुनः मूल्य का स्रोत चित्त का प्रत्यङ्मुख ऊर्ध्वारोहण ही है, जिसके उत्कर्ष के अनुसार भाव अर्थोंका वैभव प्राप्त करते हैं। इसे दो चित्रकारों द्वारा सूर्योदय के चित्रण के उदाहरण से समझना सरल हो सकता है, जिनमें एक चित्र को हम दूसरे की अपेक्षा उत्कृष्टतर कहते हैं। इनमें एक चित्र का दूसरे की तुलना में उत्कर्ष उसके आरेखन-कौशल या वर्ण-सौष्ठव में नहीं होता, बल्कि अर्थ-सम्पदा में होता है जो स्वयं सूर्योदय में उसी सीमा तक लक्षित होती है जिस सीमा तक भावना-ग्राही चित्त आत्म-प्रकाशित होता है। यह काव्य में और स्पष्ट देखा जा सकता है जिसमें भावना किसी बाह्यालंबन के बिना ही पश्यनात्मक चित्त को प्रस्तुत होती है। जब राधा-कृष्ण, दुष्यन्त-शकुन्तला, या हीर-रांझा के रूप में किसी आलंबन को अपनाया भी जाता है तब वह आलंबन वास्तव में अर्थों के निरूपण के लिए कल्पित एक माध्यम मात्र होता है। भावना भी वास्तव में पश्य-नात्मक (कांटेंप्लेटिव) चित्त के अर्थों के धारण के लिए उपादान मात्र बनती है। जिन मूल्यों में भावना उपादान बनती है उनको हम रागात्मक या रसात्मक मूल्य कह सकते हैं। एक तीसरे प्रकार के मूल्य हैं जिन्हें नैतिक कहा जाता है और जिनके पुनः अनेक प्रकार हैं : जैसे परोपकार, वीरता, मुक्ति, वैराग्य आदि। प्रकटतः इनमें परस्पर बहुत अन्तर है, किन्तु ये सब इस कारण नैतिक कहे जाते हैं क्योंकि इनमें चित्त द्वारा भावनाओं का नियमन और रूपान्तरण साक्षात्कृत

श्रेयात्मक अर्थों के अनुरूप करने का प्रयत्न होता है। यहां 'श्रेयात्मक' शब्द के अर्थ पर विचार आवश्यक नहीं है, यहां केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि जबकि सत्यान्वेषण में प्रेक्षकत्व की अकलुषता और सौन्दर्यान्वेषण में भावनागत अर्थों का परिशीलन पर्येष्य होता है, नैतिक अन्वेषण में आवेगात्मक-भावनात्मक मनस् का श्रेयात्मक अर्थ-दृष्टि को समर्पण साध्य होता है। नैतिक या श्रेयात्मक मूल्यों में अन्वेष्य व्यक्ति : अपनी समग्रता में अस्मिता : स्वयं होता है और इस प्रकार यहां पश्यनात्मक चित्त व्यक्ति-सत्ता या अस्मिता के अर्थों की उद्भावना करता है। अब क्योंकि व्यक्ति या अस्मिता सर्वसमावेशी है इसलिए नैतिक चेतना सत्यान्वेषण और सौन्दर्यान्वेषण का भी समावेश करती है। उदाहरणतः उपनिषद् में विद्या और अविद्या दोनों के उपासकों को जो तमसावृत कहा गया है उसमें ज्ञानात्मक अर्थ के श्रेयात्मक अर्थ में समर्पण की अपेक्षा है। इसी प्रकार सौन्दर्यान्वेषण में भी है : सौन्दर्य-दृष्टि अपनी सम्यक्ता और व्यापकता के लिए नैतिक उत्कर्ष को पूर्वापेक्षित करती है और यह उत्कर्ष सौन्दर्य-दृष्टि की सार्थकता के प्रश्न के समाधान को पूर्वापेक्षित करता है।

जैसाकि हमने पीछे देखा, मूल्य अभावात्मक चेतना का भाव-दर्शन है। अभावानुभूति और उसकी पूर्ति के लिए उद्विग्नता चेतना का स्वभाव है और परिणामतः अभावमूलक यह उद्विग्नता जीव-मात्र में पायी जाती है : भूख-प्यास आदि मूलक उद्विग्नताएं जैव उद्विग्नताएं हैं। वास्तव में सभी प्रयोजनात्मक अभिनिवेशों को अभाव-पूर्तिमूलक पर्येषणा कहा जा सकता है और इस प्रकार व्यष्टि-जीव के स्तर पर अनुभूत उद्विग्नता को ही नहीं जीव-सृष्टिमूलक विकास को भी इसी पर्येषणा के रूप में देखा जा सकता है। इसी प्रकार भौतिक सृष्टि को भी देखा जा सकता है, जो यद्यपि अपने-आप में एक पूर्ण और अतएव स्थिर व्यवस्था है किन्तु जिसकी अगाध अपूर्णता जैव सृष्टि और पुनः चित्त के विकास से प्रकट होती है। किन्तु यह सब प्रयोजनात्मक अभिनिवेश मूल्यात्मक नहीं है, क्योंकि मूल्य के लिए चित्त की प्रत्यङ्मुखता अनिवार्यतः अपेक्षित है और यह प्रत्यङ्मुखता चेतना के अथवा कहें सृष्टि ही के, इतिहास में एक मौलिक रूप से नव्य परिच्छेद है; क्योंकि केवल यही चेतना अभाव को, और भाव को, और स्वयं अपने को प्रेक्षकत्व के आलोक में धारण कर सकती है और अभाव तथा भाव के, बीच के अन्तराल के निवारण के प्रयत्न की साक्षी हो सकती है। वास्तव में भाव का प्रेक्षकत्व ही इस अन्तराल के निवारण के प्रयत्न को मूल्यावान् बनाता है, क्योंकि यह प्रेक्ष्य-भाव ही मानदंड बनकर अभाव को नापता है और प्रयत्न को अर्थ देता है।

किन्तु भाव के प्रेक्ष्यत्व का यह अर्थ नहीं है कि वह इन्द्रिय-विषयवत् या उसके

प्रत्ययवत् स्फुट रूप से ग्राह्य होता है, वास्तव में वैसा वह कभी नहीं होता, वास्तव में कुछ अवस्थाओं में तो भाव की अवधारणात्मक स्फुटता और सम्यक्ता ही अन्वेष्य होती है, परिणामत: वह सिद्ध नहीं होकर साध्य होती है, और जहां वह अन्वेष्य नहीं होती वहां वह अपने-आप में मूल्य नहीं होती, केवल उसके लिए सहायक मात्र होती है। उदाहरण के लिए गणित, तर्क, विज्ञान और दर्शन में अवधारणात्मक स्फुटता और संगति ही अन्वेष्य होती है जबकि कला और नीति आदि में वह अन्वेष्य नहीं होती, केवल यह उसमें सहायक होती है : संगीत में भावनागत अर्थों का और तदनुरूप ध्वनिगत अर्थों का प्रत्ययन पूर्वापेक्षित होता है, किन्तु साध्य उन अर्थों को ध्वनि में साधने की सामर्थ्य होती है। नैतिक मूल्यों में भाव बुद्धि-ग्राह्य रूप में नहीं बल्कि संपूर्ण चेतना : भावना, आवेग और विचार : के तदनुरूप हो जाने के रूप में साध्य होता है। किन्तु तब, यह भाव क्या है जो साध्य है ? आत्मा किस अभाव से व्यवहित है ? ये प्रश्न विचार-कोटि-मूलक हैं और परिणामत: इनका समाधान भाव की प्रत्यय-रूप में ग्राह्यता की अपेक्षा करता है। उदाहरणत: किंकर्त्तव्यविमूढ़ता प्रेक्षणात्मक और पश्यनात्मक दोनों स्तरों का संयुक्त संशय है जो युक्त : उचित : कर्म करने के संकल्प को, और इस प्रकार नैतिक व्यक्ति को उसकी समग्रता में, पूर्वकल्पित करता है। किन्तु युक्त कर्म क्या है, इसके लिए प्रेक्षक दृष्टि की निष्कलुषता अपेक्षित होती है, जिसके लिए अनुक्रमश: व्यक्ति के अस्तित्वात्मक पक्षों, विशेषत: आवेगों और भावनाओं पर अधिष्ठातृत्व की सिद्धि अपेक्षित होती है।

किन्तु किंकर्त्तव्यविमूढ़ता विशिष्ट प्रसंगों में होती है जबकि नैतिक अभाव-बोध जागतिक अस्तित्वमात्र को लेकर होता है और इस अस्तित्व की सार्थकता, जो पहले असंदिग्ध थी, संदिग्ध हो जाती है। धर्म इस सन्देह के समाधान का एक प्रयत्न है, अथवा कहें यही एक ऐसा प्रयत्न है, स्वभावत: तत्त्वमीमांसा उसका अनिवार्य अंग होती है। किन्तु इस सन्देह-दृष्टि का जागरण अपने-आप में आत्म-प्रवास की चेतना का, स्वभाव से च्युत होने की अभिज्ञता का, और इस प्रकार चेतना की आत्माभिमुखता का द्योतक होता है, जो सत्त्वान्वेषण-भावान्वेषण के लिए अनिवार्य है।

यहां संक्षेप में इस अवान्तर प्रश्न पर विचार भी स्थाने होगा कि इस सन्देह और अन्वेषण की युक्तता क्या है ? जागतिक जीवन, जिसमें कलाएं और विज्ञान भी सम्मिलित हैं, की विपुलता के अन्वेषण की युक्तता स्वत:-सिद्ध है, किन्तु जगद्भाव मात्र पर सन्देह और इससे परे भाव के अन्वेषण की युक्तता के लिए आरंभ-बिन्दु कौन-सा होगा ? इसका समाधान है कि इस सन्देह का, इस अभावानुभूति का होना मात्र इसकी युक्तता के लिए प्रमाण है : कि यह प्रश्न न केवल किया जा सकता है, बल्कि प्रत्येक प्रत्यङ्मुख चेतना इसकी आकुलता अनुभव

करती है, यही इसके लिए प्रत्यक्ष प्रमाण है कि यह अस्तित्व : जागतिक जीवन : और इसके सब अन्वेषणों का मूल्य संदिग्ध है और भाव का : सत्ता का, मूल्य का : आवास कहीं अन्यत्र है। किसी भाव की आगन्तुकता के लिए इसके अतिरिक्त और क्या प्रमाण हो सकता है कि वह आगन्तुक रूप में अवधार्य है : "मैं इस क्षण में इस स्थान पर हूं, किन्तु यह अवधार्य है कि मैं इस स्थान पर नहीं होता" यह प्रतिज्ञप्ति का होना मात्र इस बात के लिए प्रमाण है कि मेरा इस क्षण पर यहां होना आगन्तुक है। और यह सन्देह जहां एक ओर प्रस्तुत की सार्थकता की न्यूनता के लिए प्रमाण है वहीं अन्यूनार्थ की विद्यमानता के लिए भी प्रमाण है, जो अन्यूनार्थ अवगत नहीं होने पर भी अपनी सत्ता में सन्दिग्ध नहीं होता, जिस प्रकार सत्य-सन्धान और सौन्दर्य-सन्धान में सिद्ध स्तर से उत्कृष्टतर स्तर की सत्ता अनुपलब्ध होने पर भी संदिग्ध नहीं होती।

किन्तु आत्मा की स्वभाव-च्युति की अनुभूति की प्रामाणिकता असंदिग्ध होने पर भी उस प्रकार सहज स्पष्ट नहीं होती जिस प्रकार किसी प्राणी की उसके प्रत्यय से अथवा चित्र की उसकी अवधारणा से न्यूनता स्पष्ट होती है। इस स्वभाव-च्युति को आत्म-अनात्म-अविवेक, अथवा भ्रष्टता (ईविल) भी कहा जाता है। इसके विपरीत, आत्मा का स्वभाव स्वातंत्र्य कहा गया है, जो साध्य के रूप में अनात्म का निवारण है। वास्तव में अर्थान्वेषण, ज्ञानान्वेषण या सौन्दर्यान्वेषण मात्र की सार्थकता में सन्देह संभव है। यह सन्देह, यह संभावना आत्मा की अर्थमात्र से अतिक्रान्तता की द्योतक है।[1] किन्तु तब, आत्मा का स्वभाव या स्वातंत्र्य क्या है ?

इस प्रश्न पर विचार के लिए पहले चित्र की उसकी अवधारणा से न्यूनता के स्वरूप पर विचार करना उपयुक्त होगा। चित्र की न्यूनता हम कैसे जानते हैं ? इसका उत्तर हो सकता है कि उसकी अवधारणा से तुलना करके। किन्तु तब, इस चित्र की अवधारणा को हम कैसे जानते हैं ? यहां सार्त्र का उल्लेख रोचक होगा।[2] उसके अनुसार, "कोई अनुभूति किसी प्रतिमान की विद्यमानता में अनुभूति होती है···। यह प्रतिमान, अथवा अनुभूतिमय आत्म की समग्रता, अभाव की वेदना के रूप में स्वयं इस वेदना के ही भीतर प्रत्यक्ष प्रस्तुत होती है। हम दु:खित होते हैं और साथ ही पर्याप्त रूप से दु:खित नहीं होने के लिए दु:खित होते हैं। वह दु:ख, जिसके अनुभव की हम बात करते हैं, कभी ठीक वही नहीं होता जिसका हम अनुभव करते हैं। जिसे हम 'उत्तम,' 'पावन' अथवा 'सच्चा' दु:ख कहते हैं, और जो हमें द्रवित करता है वह दु:ख वह होता है जो हम दूसरों के चेहरे पर देखते हैं, बल्कि उससे भी अधिक उपयुक्त रूप से, जो हम चित्रगत अथवा मूर्तिगत चेहरे पर अथवा

1. द्रष्टव्य मनुष्य और जगत् में 'धर्म-दर्शन' अध्याय ।
2. ज्यां पॉल सार्त्र : बीइंग एंड नथिंगनेस, पृ० 141-42

किसी दुःखाभिव्यंजक नकाब में देखते हैं।" यह सही है, किन्तु सार्त्र यहां यह विचार नहीं करता कि हम इस चित्र या मूर्ति को किस प्रतिमान पर कल्पित करते हैं। हम कहना चाहेंगे कि अनुभूत दुःख पश्यनात्मक चित्त को अपना आकार प्रस्तुत करता है जो आकार अभिव्यक्ति की विधाओं से तटस्थ होता है; किन्तु यह चित्त अभिव्यक्ति की जिस भी विधा को अपनी अभिव्यक्ति के लिए अंगीकार करता है उसके लिए यह उस आकार के आधार पर आदर्श प्रतिमान को कल्पित करता है जिसके अनुसार चित्रकार चित्र का, कवि कविता का और गायक संगीत का सृजन करता है। यह प्रतिमान और उसका बीजभूत आकार दोनों उतने ही स्पष्टतः ग्राह्य होते हैं जितनी स्पष्ट ग्राहक की चेतना : भावुक की पश्यना : होती है। इसीसे कभी-कभी दर्शक चित्रकार से और पाठक कवि से अधिक स्पष्टता से चित्र अथवा कविता की न्यूनता को और उसके अन्यून प्रतिमान को देख पाता है। यहां यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि भावना स्वयं एक अभिव्यक्ति है : यह चित्त का विजृंभन, उसका स्फुटन है, किन्तु चित्र या काव्य भावनात्मक अभिव्यक्ति नहीं है, यह भावना की पश्यनात्मक अभिव्यक्ति है और इस प्रकार भावनाधीन नहीं है, यह भावना के आकार को स्वीकार करने और उसे सृजनात्मक कल्पना में रचने में स्वतंत्र होती है: अर्थात् न तो यह कल्पना किन्हीं कारणों के अधीन होती है और न वह मूल आकार जो पश्यना में गृहीत होता है, ये दोनों चित्त के स्वतंत्र आक्षेप होते हैं। किन्तु चित्र या काव्य इस स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति होते हुए भी उससे न्यून रहता है, जो न्यूनता केवल इस पक्ष में नहीं होती कि चित्र अपने कल्पना-मूलक प्रतिमान के लिए पर्याप्त नहीं होता बल्कि इस पक्ष में भी होती है कि पश्यना द्वारा गृहीत भावना का आकार स्वयं इस प्रतिमान से भी अतीत होता है और इस प्रकार काव्य, चित्र, उपन्यास या दार्शनिक लेखन में व्यक्त इसके विमर्श सब औपाधिक होते हैं। इस प्रकार, यद्यपि चित्त की न्यूनता हम उसके कल्पित प्रतिमान से आंकते हैं, किन्तु वास्तव में यह न्यूनता द्विविध होती है।

आत्मगत न्यूनता का प्रश्न इससे कहीं अधिक जटिल है, यद्यपि इससे इसकी अनुरूपता भी है। सब मूल्यान्वेषण अंततः आत्मान्वेषण है : दार्शनिक, वैज्ञानिक या धार्मिक व्यक्ति सत्यान्वेषण में, कलाकार सौन्दर्यान्वेषण में, और समाजसुधारक कर्मात्मक अन्वेषण में वास्तव में आत्मकल्पित आत्म-प्रतिमा के अस्तित्व में चरितार्थन के उद्देश्य से ही प्रवृत्त होते हैं। उनका यह अन्वेष्य अस्तित्व अपने सब आयामों : विचार, आवेग, भावना, संवेद और क्रिया : की समग्रता के साथ पश्यना में अपना आकार प्रस्तुत करता है, जो आकार विशिष्ट रूप से अन्वेषक के स्वरूप के आदर्श प्रतिमान का आक्षेप करता है, जिसे वह अपने लौकिक व्यक्तित्व के माध्यम में पुनः चरितार्थ करने के प्रयत्न में दार्शनिक, वैज्ञानिक या कलाकार आदि होता है। पश्यना में अस्तित्व का यह आकार-ग्रहण और उसका अस्मिता में

निरूपण, दूसरे शब्दों में आत्म-प्रतिमा के आक्षेप का प्रथम नैतिक संकल्प, चेतना का पूर्णतः स्वतंत्र कर्म होता है और इस कर्म के लोक में अन्वयन में वह उतना ही स्वतंत्र होता है जितना वह अपने आदिम संकल्प में: अर्थात् व्यक्ति-रूप में अपनी प्रतिमा के आक्षेप के कर्म में : प्रतिष्ठित होता है। जैसाकि स्पष्ट है, पश्यना और संकल्प दोनों में वह अहंकारोपहित व्यक्ति नहीं होता, व्यक्ति वह अस्तित्व में होता है जिसका अतिक्रमण वह सब प्रत्यङ्मुख अतिक्रमणों में करता है। यह अतिक्रमण समग्रात्मक तब होता है जब यह नैतिक, अर्थात् अस्तित्व का समग्रतः, होता है : 'यह कर्म, यह भावना, यह प्रवृत्ति, मेरे योग्य नहीं है' इस संकल्प के रूप में: अपने में आत्म-प्रतिकूलता का यह बोध उस मूल नैतिक संकल्प के अनुसार होता है जो संकल्प प्रतिमान के रूप में व्यक्ति-प्रतिमा का प्रतिष्ठापक होता है। यहां यह आपत्ति हो सकती है कि हमारा यह नैतिक व्यक्तित्व सामाजिक संस्कारों और शारीरिक प्रकृति के अनुसार निर्धारित होता है न कि सृजनात्मक चेतना : स्वातंत्र्य : द्वारा संकल्पित। यह आपत्ति उस सीमा तक सही है जहां तक यह साधारण व्यक्ति के साधारण व्यवहार के सम्बन्ध में है, और उस सीमा तक यह व्यवहार उसकी पराङ्मुखता का सूचक होता है। किन्तु इस व्यवहार का नैतिक तत्त्व, यदि वह उसमें होता है तो, चेतना के प्रत्यङ्मुख जागरण के स्तर के अनुसार ही निर्धारित होता है और इस प्रकार पराङ्मुख निर्धारण इस जागरण की प्रभाव-हीनता का द्योतक होता है।

अस्तित्व के इस अतिक्रमण में अस्तित्व का निषेध अपेक्षित नहीं है। अस्तित्व चित् में अर्थों के उद्घाटन और उन अर्थों के ऐन्द्रिक आयाम में प्रत्यंकन का हेतु होता है। उसके बिना न प्रत्यङ्मुखता सक्रिय हो सकती है और न आत्म-प्रतिमा का आक्षेप सम्भव है, व्यक्तित्व के आविर्भाव का तो प्रश्न ही कहां रह जाता है। वास्तव में भाव : सत्त्व : के लिए अस्तित्व में क्रियान्वित होना उतना ही अनिवार्य होता है जितना अस्तित्व से परिसीमित नहीं होना : ऐसा भी कह सकते हैं कि भाव आत्म-अतिक्रमणशील अस्तित्व है, यह भाव्यात्मक पर्यन्तता है। किन्तु तब भी नैतिक सन्दर्भ में भाव को अस्तित्व का जो अतिक्रमण करना होता है वह किसी चित्र की असम्यक्ता या सदोषता की अथवा देह की अस्वस्थता की निवारणीयता जैसा नहीं होता, ये न्यूनताएं सत्ता को केवल अंशतः और निम्न स्तरों पर व्याप्त करती हैं, इनसे भिन्न नैतिक दोष आत्मविदित सत्ता में आत्म-व्यवधान होता है जो सत्ता को गहनतम स्तरों पर आविल करता है। वासनाएं और आवेग इस व्यवधान के उपादान बनते हैं। उदाहरणतः 'मुझे अमुक कर्म करना चाहिए या नहीं ?' इस सन्देह के सभी सन्दर्भ किसी वासना, आवेग या संभावित सुख-दुःख से सम्बन्धित होते हैं जिनसे उबार सही निर्णय के लिए अनिवार्य होता है : कुरुक्षेत्र में अर्जुन का सन्देह इसका उत्कृष्टतम उदाहरण है, चौरीचौरा में गांधीजी द्वारा

सत्याग्रह वापिस लेने का निर्णय इसका एक दूसरा उदाहरण है। प्रथम में अर्जुन युद्ध नहीं करने के लिए जो युक्तियां देता है वे प्रकटत: उसकी उदारता और नीति-बोध की द्योतक प्रतीत होती हैं और इसी रूप में वह अपनी मन:स्थिति को देखता है। गीता हमें अपनी इसी प्रकार की मन:स्थितियों को समझने की दृष्टि देती है। इसी प्रकार चौरीचौरा का संघर्ष समाप्त करने में एक प्रकट कायरता थी; उस मन:स्थिति की पहचान करने में ही नैतिक दृष्टि थी। मन:स्थिति की यह पहचान, विशेषत: अर्जुन के सन्दर्भ में, नितान्त अतिक्रामी प्रत्यङ्मुख दृष्टि की अपेक्षा करती है।

ऐसे सब प्रसंगों में निर्णय के लिए पश्यना को उन भावनाओं के स्वरूप पर मनन करना होता है जो भावनाएं कर्म की परिस्थिति में उत्पन्न होकर निर्णय में : भाव के स्वरूप-दर्शन में : बाधक होती हैं। इस प्रकार भावनाएं ही यहां व्यवधान होती हैं और वे ही मननीय होती हैं। मनन-कर्त्ता जहां तक इनसे स्वतंत्र होता है वहीं तक उसका निर्णय नैतिक होता है, इस प्रकार नैतिक निर्णय स्वातंत्र्य को और व्यवधान के निवारण को पूर्व-कल्पित करता है। यहां यह द्रष्टव्य है कि वासनाओं से स्वातंत्र्य वासना-शून्यता नहीं है।

किन्तु यहां आपत्ति हो सकती है कि, यह कैसे जाना जाय कि जिस भी निर्णय पर हम पहुँचते हैं उस निर्णय पर पहुँचना पूर्व-नियत नहीं था और इस प्रकार सम्पूर्ण ऊहापोह, अन्तर्द्वन्द्व और मनन के उपरान्त लिया गया हमारा निर्णय वास्तव में वही नहीं होता जो होना हमारे वासना-आवेग-संस्कार आदि मूलक स्वभाव के अनुसार पूर्वनियत होता है? इस प्रकार का प्रश्न वास्तव में बहुत बड़े पूर्वाग्रह : तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यता : पर आधारित है। इसमें कारण-कार्य-नियम की सार्वभौमता में अविचारित आस्था निहित है। अन्यथा इसके अपवाद नैतिक निर्णय में ही नहीं मानवीय प्रज्ञा के सब व्यापारों में पदे-पदे परिलक्षित होते हैं। उदाहरण के लिए, परस्पर विचार-विमर्श के क्रम में उस समय तक की हमारी धारणाओं में सहसा परिवर्तन : 'हां, आपकी बात समझ में आ गई' : अथवा विचार करते हुए सहसा एक संपूर्णत: नई दृष्टि का आलोकित हो उठना, ये सब कारण-कार्यात्मक निर्धारण के उदाहरण नहीं हैं। फिर वह तो और भी नहीं है जहां संघर्ष मन की सहज प्रवृत्ति और धारणाओं से होता है। उदाहरण के लिए, महाराणा प्रताप के शौर्य को परंपरा-प्राप्त धारणाओं का अनुसरण चाहे कह भी दें किन्तु महात्मा गांधी के आत्मसर्जन को परंपरा-प्राप्त धारणाओं का परिणाम नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वहां स्वयं के द्वारा स्वयं के निर्धारण का एक अद्भुत संकल्प दिखायी देता है। आत्म-निर्धारण का मार्ग और लक्ष्य कहां तक परंपरा-प्राप्त था, इससे उस निर्धारण की स्वतंत्रता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह द्रष्टव्य है कि नैतिक सर्जन विचार के नावीन्य में नहीं आत्म-अस्तित्व के अधिष्ठातृत्व में होता है। इसी

से महाराणा प्रताप का अदम्य साहस नैतिक स्वातंत्र्य की ही अभिव्यक्ति है, फिर चाहे वह राजपूत परंपरा का कितना भी अनुसारी रहा हो।

यहां गांधी जी और महाराणा प्रताप के उदाहरणों से आदिम संकल्पपूर्वक आत्म-प्रतिमा के आक्षेप के आशय को समझने में भ्रान्ति हो सकती है। वास्तव में इस प्रतिमा का आक्षेप उस आदर्श प्रतिमान का आक्षेप है जो स्वातंत्र्य में : दूसरे शब्दों में असद्‌गर्भ में से : होता है और जिसके अनुसार व्यक्ति अपने को नापता और चरितार्थ करने का प्रयत्न करता है। यह प्रयत्न अपने उज्ज्वलतम रूप में महात्मा बुद्ध और महात्मा गांधी जैसे व्यक्तियों में परिलक्षित होता है, किन्तु राधा, हीर-रांझा, कालिदास और नागार्जुन आदि भी इसके दूसरे उज्ज्वल उदाहरण हैं। यह द्रष्टव्य है कि राधा महात्मा बुद्ध से अपने व्यक्तित्व का विनिमय स्वीकार नहीं करेगी, क्योंकि दोनों व्यक्तित्व अस्तित्व में भाव की पर्यन्तता कि सिद्धियां हैं। सब व्यक्तित्व इसी प्रकार आदिम स्वतंत्र संकल्पमूलक प्रतिमानों के आक्षेप होते हैं, यद्यपि अधिकांश व्यक्तियों का जीवन प्रतिमान-भ्रष्टता का वृत्तांत अधिक होता है, सफल क्रियान्वयन का कम।

मानव-चित्त अपने स्वरूप में : आत्म-सत्ता में : स्वतंत्र है, इसके लिए कांट ने दो प्रमाण दिये हैं—एक यह कि नैतिक अनुभव स्वातंत्र्य को पूर्वापेक्षित करता है और नैतिक अनुभव की प्रामाणिकता प्रत्यक्ष है, दूसरा यह कि कारण-कार्यात्मक सम्बन्ध विषय-बुद्धिमूलक व्यवस्था है, किन्तु कारण-कार्य-श्रृंखला का आरंभ कल्पनीय नहीं होने से यह व्यवस्था के रूप में कभी पूर्ण नहीं हो सकती और इस प्रकार यह बुद्धि के नियम का अतिक्रमण करती है। इस व्यवस्था की पूर्णता की यह अपेक्षा है कि इसमें कोई आदि कारण हो, जो कारण इस व्यवस्था से बाहर के तत्त्व की विद्यमानता का संकेत देता है। इन दो युक्तियों में पहली पूर्णतः आधार-भूत और अकाट्य है क्योंकि प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित है, किसी कल्पित पूर्व-प्रतिज्ञा पर नहीं, जबकि दूसरी युक्ति कांट की दर्शन-व्यवस्था की युक्तता को पूर्वमान्य करती है, जिसकी युक्तता स्वतःस्पष्ट नहीं है, और उससे भी यह अनिवार्यतः आपादित नहीं होती : यदि प्रत्येक कार्य के कारण-मूलक होने से इस श्रृंखला का कोई आरम्भ नहीं हो सकता तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह व्यवस्था तर्कतः अपने अतिक्रमण को पूर्वापेक्षित करती है। यदि श्रृंखला की अनादिता इसकी अपूर्णता की आपादक है तो इससे यह आपादित नहीं होता कि यह वस्तुतः सादि और इस प्रकार वर्तुल है। फिर बौद्धिक कोटि के रूप में तो कारण-कार्य की अनादिता बनी ही रहेगी, संकल्प उसमें हस्तक्षेप तो कर सकता है किन्तु उसका आदि कारण कैसे हो सकता है?

किन्तु कांट की प्रथम युक्ति निरापद और महत्त्वपूर्ण है, इसे किसी और समर्थन की आवश्यकता नहीं है। किन्तु यह प्रामाणिकता इस तार्किक पूर्वापेक्षा के

रूप में नहीं है कि नैतिक कर्म नैतिक उत्तरदायित्व को पूर्वकल्पित करता है और नैतिक उत्तरदायित्व नैतिक स्वातंत्र्य को। इस प्रकार की युक्ति केवल दंड-व्यवस्था के औचित्य को सिद्ध करती है और इसका निराकरण इतने मात्र से किया जा सकता है कि "अपने कर्म के लिए वास्तव में ही कोई उत्तरदायी नहीं है और परिणामतः दंड का कोई तात्त्विक औचित्य नहीं है, केवल व्यावहारिक उपयोगिता है।" इस प्रकार स्वातंत्र्य के लिए युक्ति नैतिक अनुभव : नैतिक चेतना : की संरचना में ही निहित है। किन्तु जैसा कि हमने पीछे देखा, स्वातंत्र्य चेतना के प्रत्येक प्रत्यङ्मुख साक्षात्कार में है, नैतिकता जिसका उत्कृष्टतम रूप है। इस संरचना के दो पक्ष हैं, एक किंकर्त्तव्यविमूढ़ता में कर्त्तव्य के निर्णय की प्रक्रिया-परक : क्योंकि इस निर्णय में सब प्राकृतिक प्रेरणाएं और प्रवृत्तियां निवारणीय होती हैं : और दूसरा आत्मोत्कर्ष की साधना-परक : जिसमें व्यक्ति अपने भाव की प्राप्त स्थिति को अप्राप्त स्थिति से नापता है और उसे न्यून : अभाव-व्यवहित : पाता है और जिसमें उसे अपने अस्तित्व और अपने अन्वेषणों की सार्थकता सन्दिग्ध दिखायी देने लगती है। स्पष्टतः अप्राप्त स्थिति की नियामकता कारण-कार्यात्मक नहीं हो सकती। स्वतंत्रता के ये दोनों पक्ष अस्मिता को उसके ठोसतम रूप में प्रस्तुत करते हैं और इनमें स्वयं अस्मिता ही विवेच्य और अपने प्रतिमान के लिए संकेत बनती है।

9

मूल्य : विषय-सत्ता

जैसाकि हमने पीछे देखा, ज्ञान जबकि तथ्य-विषयक होता है, मूल्य प्रतिमान-विषयक होता है । तथ्य का एक अनिवार्य धर्म अस्तित्व में होना है । जो अस्तित्व में रहा है किन्तु अब नहीं है वह भी तथ्य है, यद्यपि वह अब अतीत तथ्य है । इसी प्रकार भविष्यत् में होने वाली घटनाओं को भी तथ्य कहा जा सकता है—जब भविष्यत् को आगे घटित होने वाले वर्तमान के रूप में देखा जाता है । उदाहरण के लिए 'कल होने वाला सूर्योदय' एक भावी तथ्य है, 'आज उदित सूर्य' एक वर्तमान तथ्य, और 'पिछले कल का सूर्योदय' एक अतीत तथ्य । इनमें काल विषयी और विषय के बीच एक बाह्य सम्बन्ध है, परिणामतः भावी या सम्भव भी वस्तुतः वर्तमान ही हो जाता है । इसके विपरीत प्रतिमान वह है जो तथ्य नहीं है किन्तु जो तथ्य को होना चाहिए । यदि काल की पदावली में तथ्य और मूल्य में भेद करें तो कहा जा सकता है कि तथ्य विद्यमानता : वर्तमानता : है और मूल्य भाव्यता । किन्तु यह अन्तर इनके स्वरूपों की ओर संकेत तो करता है इनका निरूपण नहीं करता, क्योंकि 'भाव्य' का अर्थ यदि विद्यमान का रूपान्तरण, अथवा विद्यमान सम्भावनाओं का वास्तवीकरण भी माना जाय तो भी यह पद प्रतिमान या मूल्य के तत्त्व को सम्यक् रूप से व्यक्त नहीं करता । ऐसा नहीं है कि कोई तथ्य प्रतिमान नहीं हो सकते : कृतियां और कार्य तथ्य भी होते हैं और इन्हें हम प्रतिमानों के रूप में भी देखते हैं : किन्तु उनकी प्रतिमानता उनकी तथ्यता से मौलिक रूप में भिन्न होती है, यह किसी अन्य तथ्य की इस अपेक्षा से होती है कि उसको वैसा होना चाहिए था जैसा प्रतिमानभूत तथ्य है और वह तथ्य नहीं है । यह अपेक्षा दोनों तथ्यों को उनकी पार्थिवता से मुक्त कर उन्हें आदर्शों के चिदाकाश में प्रतिष्ठित कर देती है । अब एक तथ्य न्यून और असन्मय हो जाता है और दूसरा अन्यून, आदर्श और असत्त्व से मुक्त ।

जैसाकि हमने तीसरे अध्याय में देखा था, बया का घोंसला गौरैया के घोंसले से उत्कृष्टतर है : यहां कहा जा सकता है कि, वह प्रतिमान के निकटतर है । अब, यहां यह भी कहा जा सकता है कि 'यह उत्कृष्टता एक तथ्य है ।' किन्तु एक दूसरे अर्थ में, यह तथ्य नहीं है और न यह कभी तथ्य हो सकती है । तथ्य केवल दो प्रकार के घोंसलों का होना है । किन्तु यह प्रकारता-भेद किस बात में है ? एक

प्रकारता में ये दोनों एक हैं : कि ये दोनों घोंसले हैं, एक दूसरी प्रकारता में ये भिन्न हैं, यह प्रकारता इनकी संरचना और गठन की है। इस दूसरी प्रकारता को इनका ज्यामितिक गुण भी कहा जा सकता है। इस प्रकार दो घोंसले दो ज्यामितिक संरचनाएं हैं, वे दोनों गौरैया के हों, या एक गौरैया का और दूसरा बया का। अवश्य इनमें भी प्रकार-भेद है, कि गौरैया के दो घोंसले केवल दैशिक रूप से परस्पर व्यावृत्त हैं, किन्तु गौरैया और बया के घोंसले दैशिक और रचनात्मक दो रूपों में परस्पर व्यावृत्त हैं।

किन्तु तिनकों की केवल ज्यामितिक संरचना उन्हें घोंसला नहीं बनाती, उस संरचना में प्रतिफलित प्रयोजन उन्हें घोंसला बनाता है। यह प्रयोजन ही उस संरचना को एक अन्विति, एक संहति, देता है। यहां कहा जा सकता है कि परमाणुओं और सौरमण्डल में यह संहति अपने सौष्ठव की पराकाष्ठा पर है, किन्तु इन संहतियों को प्रयोजनात्मक नहीं कहा जा सकता, ये केवल ज्यामितिक और यांत्रिक होती हैं। जैसाकि हमने पीछे देखा, भौतिक प्रकृति को यांत्रिक नियम के रूप में देखना केवल एक पूर्वमान्यता है, किन्तु यहां हम केवल इतना कहना चाहेंगे कि किसी वस्तुस्थिति को इस प्रकार भी देखा जा सकता है और भौतिकता इस दृष्टि का एक आदर्श उदाहरण है। किन्तु कुछ दूसरी वस्तुस्थितियां हैं जिन्हें इस प्रकार नहीं देखा जा सकता, जैव प्रकृति इसी प्रकार की वस्तुस्थिति है। किन्तु जैव प्रकृति की प्रयोजनात्मकता आत्म-चेतन नहीं होती। भौतिक प्रकृति प्रयोजनात्मक और यांत्रिक दोनों रूपों में कल्पित की जा सकती है, वास्तव में इसके कुछ अंशों को तो पृथक्-पृथक् यांत्रिक व्यवस्था के रूप में ही अधिक सम्यक् रूप से समझा जा सकता है : जैसे पानी के बहाव से मिट्टी का कटना, अधिक वर्षा होने से नदियों में बाढ़ आना आदि : किन्तु प्राकृतिक व्यवस्था का उसकी समग्रता में ज्यामितिक-यांत्रिक व्यवस्था के रूप में अवधारण सहज प्रतीत नहीं होता। इसका कारण यह है कि 'समग्रता' इन्द्रियगम्य नहीं होकर विचारगम्य है और विचारगम्य : प्रत्यय : एक आदर्शात्मक सत्ता है। वास्तव में जैसा कि हमने पीछे अनेक स्थलों पर देखा, विशिष्ट विषय भी केवल अंशतः इन्द्रियगोचर एक समग्र ही होता है और अपनी समग्रता में यह बुद्धिगोचर ही होता है। इस प्रकार प्लेटो और अरस्तू ने जो इन्द्रियगोचर का सत्त्व या सत्य क्रमशः प्रत्यय (आइडिया) और आदर्श (फोर्म) में देखा वह कल्पना को तथ्य के ऊपर स्थान देना नहीं है, बल्कि तथ्य को उसकी संपूर्णता में देखना है।

किन्तु यहां आपत्ति हो सकती है कि यदि समग्रता इन्द्रियगोचर विषय नहीं है तो उसे कल्पनामूलक क्यों नहीं कहा जाय ? अवश्य यह कल्पना यादृच्छिक नहीं होकर अतिक्रामी, अथवा कहें बुद्धि-स्वभावमूलक ही होती है, इसीसे बौद्ध इसे अनादि वासना, कांट प्रत्यक्ष की अतिक्रामी एकता (ट्रांसेंडेंटल यूनिटी आफ

अप्पर्सेप्शन) और अनुभववादी तार्किक संरचना (लॉजीकल कंस्ट्रक्शन) कहते हैं, किन्तु ये नाम इसकी असत्कल्पनामूलकता की ही विभिन्न व्याख्याएं हैं। किन्तु ये विचारक यह भूल जाते हैं कि इस दृष्टि से सत्ता सबसे अधिक कल्पनामूलक हो जायगी।

समग्रता को विकल्पमूलक : कल्पना-मूलक : कहने के पीछे सत्ता-विषयक एक जैव धारणा है, जिसके अनुसार इन्द्रिय-गोचरता सत्ता का आदर्श प्रतिमान है। किंतु यह आदर्श वास्तव में पराङ्मुख चित्त की आस्था का है, प्रत्यङ्मुख चित्त के विषय ऐन्द्रिक नहीं होकर प्रत्यय और तत्त्व आदि ही होते हैं। ये विषय : प्रत्यय : द्वि-आयामात्मक होते हैं,एक आयाम प्रस्तुत-परकता का होता है और दूसरा प्रतिमान-परकता का : प्रस्तुत विषय का अस्तित्व है और प्रतिमान उसका सत्य। कुछ प्रत्यय ऐसे भी होते हैं जो सत्ता-पक्ष में न्यूनतम होते हैं और अस्तित्व-पक्ष में अधिकतम होते हैं : भौतिकता इस क्रम में सर्वप्रथम है, दूसरे प्रत्यय हैं जो सत्ता-पक्ष में अधिकतम होते हैं, उनके लिए अस्तित्व का पक्ष उतना ही गौण होता है, इनमें ईश्वर सर्वप्रथम है; परम श्रेयस्, ऋत आदि दूसरे हैं, जिनके लिए अस्तित्व का प्रश्न अप्रासंगिक होता है। ईश्वर : ब्रह्म : के सम्बन्ध में यह प्रश्न करना कि उसका अस्तित्व है या नहीं, इसलिए अप्रासंगिक है क्योंकि अस्तित्व में जो कुछ भी सत् है वह वही है, अथवा कहें, वही अस्तित्व का सत्य है।[1] इसी प्रकार ऋत के लिए यह कहना कि उसका अस्तित्व है, इसलिए अप्रासंगिक है क्योंकि जो भी कुछ अस्तित्व में है वह उसी के द्वारा है, वह अस्ति-वस्तुओं की व्यवस्था और छन्द है : परमाणु में उतना ही जितना सौरमण्डल में, पिपीलिका-बस्ती में उतना ही जितना मनुष्य-समाज में। यहां कहा जा सकता है कि, 'मनुष्य-समाज का अस्तित्व है' यह प्रतिज्ञप्ति उसकी व्यवस्था के अस्तित्व को भी सम्मिलित करती है, इसकी व्यवस्था इसके अस्तित्व के बाहर कुछ नहीं है। किन्तु ऐसा नहीं है, सामाजिक व्यवस्था जितनी होती है उससे कहीं अधिक वह नहीं होती है, और जितनी वह होती है उसको अस्तित्व में बनाये रखना अत्यधिक दुष्कर होता है। उसका यह अस्तित्व ऋत में अवस्थित होता है, यह स्वयं ऋत नहीं होता, यह उसकी केवल न्यूनाधिक और औपाधिक अभिव्यक्ति होता है। गोत्व और मनुष्यत्व दूसरे तुलनीय प्रत्यय हैं : गोत्व गाय के अस्तित्व को धारण करता और उसका नियमन करता है, इसके विपरीत मनुष्यत्व मनुष्यों के अस्तित्व को धारण

1. यद्वाचानभ्युदितं, येन वागभ्युद्यते···। यन्मनसा न मनुते, येनाहुर्मनोमतम्···। यच्चक्षुषा न पश्यति, येन चक्षूंषि पश्यति···। यच्छ्रोत्रेण न शृणोति, येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्···। यत् प्राणेन न प्राणिति, येन प्राणः प्रणीयते···। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते। (केनोपनिषद्, 1.4-8)

करने वाला और उसका नियामक नहीं है, यह उस धारणा का, उस प्रतिमा : प्रतिमान : का आधार है जो प्रतिमा व्यक्ति की पर्येषणा-अभीप्सा को धारण करती और उसका नियमन करती है। दूसरे शब्दों में, मनुष्यत्व मानव-तन का प्रतिमान नहीं होकर आध्यात्मिक सत्त्व है और उसी अनुपात में वह सत्ता में गुरुतर और अस्तित्व में क्षीणतर है।

इसका अर्थ हो जाता है कि अस्तित्व सत् और असत् का संयोग है : वह कुछ सत् है और कुछ असत्। उदाहरण के लिए मेरा यह लेख एक विचार की अभिव्यक्ति का प्रयत्न है। मैं आन्तर अवधान और मनन से इस विचार की सत्ता का अवगाहन करने का प्रयत्न कर रहा हूँ और इस लेख में इसे व्यक्त करने का प्रयत्न कर रहा हूँ। यहां सहज ही तीन स्तर उत्पन्न हो जाते हैं : व्यक्तता का स्तर, मनन में अवगत स्तर, और मनन में अनवगत स्तर। अब यह विचार इस अभिव्यक्ति का आधार और सत् है और यह अभिव्यक्ति उसी सीमा तक सत् है जिस सीमा तक यह इस विचार को व्यक्त करने में सफल है, और यह उस अनुपात में असत् है जिस अनुपात में यह इसे व्यक्त करने में असफल है। शारीरिक और मानसिक अस्वास्थ्य इसका एक दूसरा उदाहरण हो सकता है। स्वास्थ्य की परिभाषा हो सकती है—'अपने तत्त्व अथवा प्रत्यय के अनुसार अस्तित्व।' अब, किसी देह के अपने प्रत्यय के अनुसार होने का क्या अर्थ है ? प्रत्येक देह अपने में एक पृथक् आवयविक संहति और क्रिया-व्यवस्था होती है। व्यष्टि-देह की यह व्यवस्था और संहति बल, पृथुलता-कृशता आदि से परिभाषित नहीं होती, ये : व्यवस्था और संहति : अपने आंतरिक सामरस्य और सप्राणता से परिलक्षित होते और बल तथा पृथुलता आदि के रूप में व्यक्त होते हैं। इसी से दो देहों में एक का दूसरे से कम सबल, पृथुल या कृश होना उसे दूसरे से कम या अधिक स्वस्थ नहीं बनाता, प्रत्येक देह की पृथुलता-कृशता का प्रतिमान उसका निजी होता है। किन्तु यह निजी प्रतिमान वास्तविक होता है, काल्पनिक नहीं, यद्यपि यह पार्थिव लोक में विद्यमान नहीं होता। यह प्रतिमान उस शरीर की सबलता आदि की संभावनाओं का निर्धारण करता है और परिणामतः इसी से उसका स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य निर्धारित होता है। इसे उस देह का प्रत्यय भी कह सकते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार किसी चित्र या गीत का प्रत्यय होता है। प्रत्येक अवयवी या व्यष्टि एक ओर इस प्रकार अपने विशिष्ट प्रत्यय से निर्धारित होता है और दूसरी ओर किसी जाति-प्रत्यय से, जिस प्रकार गाय-व्यष्टि अपने विशिष्ट प्रतिमान से भी निर्धारित होता है और सामान्य प्रत्यय : गोत्व : से भी। दो देहों के विशिष्ट प्रतिमान उनके उत्कर्ष की अधिकतमता को पृथक्-पृथक् निर्धारित करते हैं, और इस अर्थ में उन्हें परस्पर अतुलनीय बनाते हैं कि एक को दूसरे से बल या सौष्ठव आदि में अल्प या अधिक केवल बाह्यतः ही कहा जा सकता है, आन्तरतः नहीं।

इन प्रत्ययों या प्रतिमानों को हम एक दूसरे अर्थ में भी आन्तर और बाह्य कह सकते हैं, वह इस अर्थ में कि प्रतिमान आत्म-विदित (सेल्फ अवेयर) है या नहीं ? आत्म-विदित प्रतिमानों को हम आन्तर और अविदित को बाह्य कह सकते हैं। आत्म-अविदित प्रतिमान को बाह्य कहने से हमारा अभिप्राय है कि इससे सम्बन्धित चित्त और अस्तित्व अपने आविर्भाव और नियोजन का स्वयं अधिष्ठाता नहीं होता, इसके विपरीत आत्मविदित चित्त अपने प्रतिमान और अस्तित्व का अपने संकल्प से आक्षेप करता है, जिस प्रकार वह अपनी अन्य कृतियों का भी करता है। इस प्रकार मनुष्य अपने आध्यात्मिक व्यक्तित्व में तो आत्मविदित होता है, अपने दैहिक व्यक्तित्व में नहीं, यद्यपि योग में वह उसका भी अधिष्ठातृत्व सिद्ध करने का और इस प्रकार उसमें भी आत्मविदित होने का प्रयत्न करता है। यह आत्म-विदित प्रतिमान ही मूल्य कहा जाता है। यों इस अर्थ में आत्म-अविदित प्रतिमानों को भी मूल्य कहा जा सकता है कि ये भी अपने से परिभाषित अस्तित्व का उत्कर्षण करते हैं, वह उत्कर्ष चाहे आत्म-अविदित ही क्यों न हो : जैसे जैव देह अपनी क्षति की पूर्ति के लिए उद्विग्न होता है। किन्तु यहां वास्तव में यह कल्पना रहती है कि यह अविदितता आत्यन्तिक नहीं है, केवल प्रसुप्त या अत्यधिक है। उदाहरणत: भौतिक प्रकृति में, उसकी शुद्ध भौतिकता में भी व्यवस्था या संरचना के अभाव, न्यूनता और अन्यूनता के उदाहरण देखे जा सकते हैं : जैसे सिकता, साधारण पत्थर और स्फटिक में, किन्तु इनमें हम किसी भौतिक प्रतिमान की बात नहीं कर सकते। अब यहां यह कल्पनीय है कि आत्मविदितता स्वयं एक मूल्य है और इस प्रकार भौतिक और आत्म-अविदित चित्त का अन्वेष्य और नियोजक है,जिसके बिना सभी प्रत्यय अपने स्वरूप और अर्थ में अधूरे रहते हैं। यही कारण है कि यद्यपि अवि-दित अस्तित्व के स्तर पर मूल्य केवल दैहिक, आवयविक तथा व्यवस्थात्मक मात्र रहते हैं। अब, यदि जगत् अपनी समग्रता में भी आत्म-अविदित है तो उसका पर्येष्य आवयविक अथवा व्यवस्थात्मक उत्कर्ष होने के अतिरिक्त स्वयं आत्म विदितता भी होना चाहिए, जिसमें आवयविकता, व्यवस्था और संहति साधन मात्र बनते हैं।

ऐतिहासिक रूप से आत्म-विदितता का आविर्भाव केवल मनुष्य में ही मिलता है। जिसका अर्थ है कि मनुष्य जगत् के सत्त्व की अद्यावधि उत्कृष्टतम अभिव्यक्ति है। किन्तु यदि आत्म-विदितता जगत् का अन्वेष्य और सत्य है तब इसे जगत् का मूल और आद्य तत्त्व भी होना चाहिए, क्योंकि नहीं तो स्वयं में जगत् एक निराधार गति होगा और उसकी दिशा और लक्ष्य आगन्तुक होंगे। वास्तव में इतिहास के लिए जागतिकता (बिकमिंगनेस) पूर्वापेक्षित होने से सत्त्व (बींग) जगत् का अन्वेष्य : मूल्य और गंतव्य : तो हो सकता है, उसका यांत्रिक फल या परिणाम नहीं। अर्थात् आत्म-विदित चित्त यदि जगत् का मूल्य, सत्त्व और अन्वेष्य है तो यही उसका आधार तत्त्व और नियामक भी है; ऐसा नहीं है कि जगत् यांत्रिक रूप

से भौतिक से जैव और जैव से आत्म-चेतन में परिणत होता है।

किन्तु इस प्रतिपादन में एक कठिनाई है: आत्म-विदितता में आत्म विषय-रूपेण आक्षिप्त होता है, यद्यपि यह विषय-भूत आत्म : अस्मिता : अपने विषयी से भिन्न होने पर भी अभिन्न होता है। किन्तु तब भी यह भिन्न होता है : आत्म-प्रत्यय रूप में : और यह भिन्न आत्म पूर्णतः पारदर्शी, पूर्णतः आत्म-विदित नहीं होता : मैं अपने चित्त को केवल अंशतः ही जानता हूं। यह स्थिति विषयी की सीमितता को प्रकट करती है, अन्यथा उसके लिए विषय-मात्र पूर्णतः पारदर्शी होना चाहिए, आत्म को स्वयं को तो पारदर्शी होना ही चाहिए। अब यदि आत्म-विदित चित्त इस प्रकार आत्म-विभक्त और सीमित है तब वह पूर्ण सत् नहीं हो सकता, केवल वह असत्-व्यवहित ही हो सकता है। फ़िख़्ते ने आद्य और आत्म-अविदित सत् (इगो) में आत्म-विदित सत् के विषयी और विषयभूत आत्म के रूप में आविर्भाव की बात की है। शैल्लिंग ने उस पर आरोप लगाया कि उसका आद्य अविभक्त आत्म :सत्: सीमित और वैयक्तिक है। किन्तु फ़िख़्ते ने उसका प्रतिवाद किया। किन्तु तब भी, उसके अनुसार इस आद्य आत्म से उद्गत आत्म-विदित आत्म अन्तर्विभक्त और वैयक्तिक ही होता है। शैल्लिंग भी आत्म-अविदित प्राकृतिक चित् (गॉड एज़ नेचर) को ही आद्य सत् के रूप में देखता है, जो चित् आत्म-विदित मानव-चेतन के रूप में विकसित होता है। किन्तु यदि अविभक्त सत् को आत्म-विभक्ति और अपारदर्शिता में ही पर्यवसित होना है तब यह मूल्य नहीं हो कर अवांछनीय स्थिति ही हो सकती है। किन्तु फ़िख़्ते और शैल्लिंग में यह इस कारण मूल्य है क्योंकि आद्य सत् नितान्त रूप से आत्म-पराङ्मुख (आइडिया एक्स्टर्नेलाइज़्ड), प्रकृतिमय ईश्वर, है और आत्म-विभक्त चित् : मनुष्य रूपेण: साथ ही आत्म-विदित भी है।[2] इसके विपरीत कुछ भारतीय दर्शन-संप्रदाय आद्य सत् को अविभक्त किंतु आत्मप्रकाश-स्वरूप और आत्मस्थ देखते हैं, यह उनके द्वारा निद्रा को ब्राह्म स्थिति के निकट कहने से स्पष्ट है। किन्तु इस दृष्टि की मुख्य कठिनाई यह है कि प्रकाश-स्वरूप अखंड चित् अपने को अपारदर्शी तथा अंशतः अपारदर्शी रूप में क्यों कर घटित करता है? यहां दो उदाहरण लें : एक, अपनी समग्रता में प्रकृति और दूसरा, चित्र। अब प्रश्न होगा कि प्रकृति अपने प्रत्यय से न्यून है या अन्यून? यहां इसका उत्तर सहज नहीं है, क्योंकि यदि प्रत्यय को आत्म-विदित माना जाता है तो प्रकृति वास्तव में प्रत्यय से स्वरूपतः अभिन्न हो जाती है, क्योंकि तब प्रत्यय आत्म-बहिष्कृत (एक्स्टर्नेलाइज़्ड) केवल हमारे लिए ही होता है, जो हम इन्द्रिय द्वारा आत्मबहिष्कृत होते हैं, स्वयं प्रकृति के अपने लिए नहीं।

2. इस पर द्रष्टव्य पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, भाग 2, सं. दयाकृष्ण में हमारे लेख—"फ़िख़्ते" तथा "शैल्लिग"।

और यदि यह प्रत्यय आत्मविदित नहीं है तो प्रकृति अपने प्रत्यय से अधिक हो जाती है, क्योंकि अपनी समग्रता में यह प्रत्यय की पूर्ण अभिव्यक्ति है, और अभिव्यक्ति होने से यह उसमें अव्यक्तार्थ को व्यक्त करती और इसमें मूर्तता का नया आयाम जोड़ती है। किन्तु यहां प्रतिवाद किया जा सकता है कि जगत् के अभिव्यक्ति और इन्द्रियग्राह्य होने पर इसकी 'समग्रता' का कोई अर्थ नहीं रह जाता, क्योंकि काल-प्रवाह इसका अनिवार्य घटक हो जाता है। किन्तु सम्भवतः प्रकृति को इनमें से एक रूप में नहीं बल्कि दोनों रूपों में देखना उपयुक्त है : यह स्वरूपतः आत्मविदित और पूर्णतः पारदर्शी प्रत्यय है और पर-रूपतः यह इन्द्रिय-ग्राह्य अभिव्यक्त जगत्। इसकी पर-रूपता इसकी इन्द्रिय-ग्राह्यता में है। दूसरा उदाहरण किसी कृति : जैसे चित्र : का लिया जा सकता है। चित्र अपने प्रत्यय की अभिव्यक्ति होता है। यद्यपि यह प्रत्यय व्यक्ति-चित्त द्वारा गृहीत सामान्य होता है किंतु यह पूर्णतः पारदर्शी : अपनी अंखड सम्पूर्णता में साक्षात्कार्य : नहीं होता और अपने रूप-रेखांकन में यह और भी असम्यक्तया ग्राह्य होता है। किन्तु अपने मूल में यह प्रत्यय आत्म-विदित ही होता है, क्योंकि व्यक्ति-चित्त आत्म-अविदित को व्यक्त नहीं कर सकता, क्योंकि व्यक्ति-चित्त अव्यवहित चैतन्य का प्रकृतीकरण है, अचित् का चित्करण नहीं। इसका प्रमाण यह है कि चित्त प्रत्यय का साक्षात्कार उसी सीमा तक स्पष्टतया कर पाता है जिस सीमा तक वह अपनी बहिर्मुखता का निरोध कर पाता है। किन्तु रूप-रेखाओं में अंकन प्रत्यय का आगे और प्रकृतीकरण है, जहां यह पूर्णतः आत्म-अविदित होकर चित्त-गृहीत प्रत्यय के लिए संकेत मात्र होता है।

किंतु यहां आक्षेप हो सकता है कि मूल्य चित्र होता है, न कि अव्यवहित प्रत्यय, क्योंकि हम चित्र के निर्माण का प्रयत्न करते हैं और इसकी सफल रचना में अपनी सिद्धि देखते हैं, अव्यवहित प्रत्यय के अव्यवहित साक्षात्कार के लिए प्रयत्न नहीं करते, वह प्रयत्न हम केवल चित्रण की सम्यक्ता के लिए करते हैं। यह सही है, किन्तु 'चित्र की सफल रचना' किस में निहित होती है? स्पष्टतः इसका प्रतिमान अव्यवहित का सम्यक् निरूपण ही होता है। किन्तु तब यह एक अत्यन्त गुह्य पहेली है : मूल्य प्रत्यय का साक्षात्कार होना चाहिए न कि उसका अपारदर्शी माध्यम में निरूपण, जो कि कभी भी सम्यक् और पर्याप्त नहीं हो सकता। दूसरे, प्रत्यय के आत्म-विदित और स्वतःसिद्ध रहते उसके चित्र द्वारा पर-रूपेण निरूपण की अपेक्षा ही क्यों उत्पन्न होती है, हम उसके स्वरूप में ही उसके साक्षात्कार का प्रयत्न क्यों नहीं करते?

वास्तव में इस वैपरीत्य में ही मनुष्य के अस्तित्व की और मूल्य की सत्ता की गुह्यता निहित है। मनुष्य न प्रत्यय की आत्म-विश्रांत अव्यवहित सत्ता है और न पर-रूपेण कल्पित आत्म-अविदित अस्तित्व, यह पर-रूप में स्वरूप का द्वितीयावर्तन

है, आत्म-अविदित में आत्म-विदित का आविर्भाव, जिसके द्वारा दूसरी सृष्टि का प्रवर्तन होता है। यह चित् की आत्म-विभक्त सत्ता है, आत्म-विश्रान्त पूर्ण पारदर्शिता नहीं। अव्यवहित सत्ता का द्वितीयावर्तन होने से इसके लिए मूल्य पर-रूप में स्वरूप का सम्यक् निरूपण है : हम चित्र में प्रत्यय को मूर्तित करना चाहते हैं, उसकी असम्यक्ता और अपर्याप्तता का ग्रहण हम उसके अन्त:साक्षात्कृत प्रत्यय से उसकी तुलना के द्वारा करते हैं, और हमारे लिए मूल्य साक्षात्कृत प्रत्यय का पर-रूप : प्रकृति: में निरूपण होता है, साक्षात्कार मात्र नहीं। इसे नैतिक मूल्य के सन्दर्भ में और भी स्पष्टता से देखा जा सकता है : नैतिक श्रेयस् के प्रत्यय का बौद्धिक साक्षात्कार अत्यधिक दुस्साध्य है, किन्तु वह संभव हो जाने पर भी मूल्य उसका हमारे प्राकृतिक व्यक्तित्व : चित्त और देह : में अन्वयन होता है। यहां यह द्रष्टव्य है कि प्रत्यय का साक्षात्कार भी वास्तव में द्वितीयावर्तन ही है, केवल इस भेद के साथ कि इसमें प्राकृतिक चित्त अपने पर-रूप का अतिक्रमण कर आत्म-सत्ता का पुनराकलन करता है। यह आकलन भी अत्यधिक दुस्साध्य होता है, किन्तु यह प्रत्यय के पर-रूप में निरूपण से भिन्न प्रकार का व्यापार है, इस में अव्यवहित प्रत्यय की सत्ता का पर-रूप के निवारण के द्वारा साक्षात्कार अपेक्षित होता है उसका पर-रूप में निरूपण नहीं। इस दूसरी साधना के बिना प्रथम सिद्धि सार्थक नहीं मानी जाती, और वास्तव में इसके बिना प्रथम सिद्धि की प्रामाणिकता में भी सन्देह उत्पन्न होता है।

यहां पारमार्थिक तत्त्व-कल्पना (स्पेकुलेशन) के लिए दो विकल्प हैं जो तत्त्व-साक्षात्कार के लिए अनुसन्धेय हैं। एक विकल्प आत्म-विभक्त आत्म-चेतना, अंशत: आत्म-विदित चित् : मनुष्य : को सत्ता में नवीन प्रादुर्भाव के रूप में देखने का है, जिस प्रादुर्भाव के द्वारा सत्ता आत्मगत अविदित अर्थ-विपुलता का दर्शन करती है। शैल्लिंग का आधार तत्त्व (फाउंडिंग प्रिंसिपल) अथवा प्रकृत्यौपाधिक ईश्वर (गॉड एज़ नेचर) इसी प्रकार का तत्त्व है। किन्तु हम ऊपर आत्म-अविदित सत्ता की आद्यता के विकल्प को अस्वीकार कर चुके हैं। दूसरा विकल्प इस व्यवहित आत्म-चेतना : मनुष्य : को निस्सीम और अखंड आत्म-चेतना में द्वितीयावर्तन के रूप में देखने का है, जिसके द्वारा एक दूसरी सृष्टि का प्रवर्तन होता है, जो सृष्टि आत्म-विभक्ति के कारण मूल सृष्टि से सर्वथा भिन्न है किन्तु जिसके लिए पर्येष्य इस विभक्ति के मार्ग से उस पूर्ण पारदर्शिता की सिद्धि है जिस पारदर्शिता में अपने से व्यवहित आत्म अब अपने से तादात्म्य प्राप्त नहीं करता बल्कि अपने से यौगपद्य प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में, यह चित् की अखंड आत्मसत्ता का अपने पर आवर्तन है जो उसमें अभिन्न-स्थित अर्थों के असीम वैविध्य में आविर्भाव का हेतु बनता है।

हमें यह दूसरा विकल्प अधिक युक्त प्रतीत होता है, क्योंकि प्रथम विकल्प के अनु-

सार आत्म-चेतन अर्थ-गवेषणा के सत्य होने के लिए कोई आधार नहीं रहेगा, कम से कम इसके लिए कोई प्रमाण नहीं रहेगा, क्योंकि यदि आत्मविदितता सर्वथा नवीन आविर्भाव माना जाता है तब आधारसत् तमसावृत गह्वर-वत् होगा और आत्मचेतना द्वारा दृष्ट अर्थों की सत्यता में विश्वास के लिए कोई आधार नहीं हो सकेगा। कहा जा सकता है कि अर्थ-गवेषणा की सत्यता की कसौटी आत्मचेतना की स्पष्टता ही हो सकती है। तब कहा जा सकता है कि आत्मचेतना के नव्योत्पत्ति होने पर यह तमस्-आधार का आत्मोत्क्रमण होगी, और यह उत्क्रमण जितना ही अधिक होगा यह उतना ही सत्य होगा। इस दृष्टि के अनुसार गवेषणा की सत्यता के लिए किसी बाह्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, यह प्रमाण स्वयं गवेषणा के अपने भीतर निहित है, क्योंकि गवेषणा सत्ता में इस दृष्टि के आविर्भाव के मार्ग का ही निरालस अनुसरण है। इसमें असत्य इस अनुसरण से विरति, अथवा कहें आधार-तमस् से तदात्म्य, का होना है।[3] यद्यपि इस युक्ति में प्रयत्न की अनन्तता और इसकी प्रामाणिकता की अनिवार्य निराधारता के बावजूद प्रयत्न में आस्था का गौरव है, किन्तु इसमें कुछ गंभीर कठिनाइयां हैं। प्रथम कठिनाई प्रकृति को समझने की है। जैसाकि हमने पीछे अध्याय 5 में देखा, प्रकृति एक सुरचित आवयविक व्यवस्था है। यह व्यवस्था आधार में विचार और योजना या अभिप्राय की स्वीकृति के बिना व्याख्येय नहीं है। इस स्वीकृति के बिना व्याख्या की युक्तता के लिए एक ही उपाय है कि व्यवस्था को हमारा आरोप माना जाय, प्रकृति में स्वभावगत नहीं। किन्तु तब व्यवस्था को ही नहीं प्रकृति को भी हमारा आरोप मानना होगा, क्योंकि ज्ञान की दृष्टि से व्यवस्था में और व्यवस्थित वस्तुओं में कोई अन्तर नहीं है, सिवाय इसके कि एक मुख्यत: संवेदगम्य है और दूसरा मुख्यत: बुद्धिगम्य। किन्तु यदि व्यवस्था को हमारी कल्पना का आरोप मान लिया जाता है तब भी इससे वास्तव में कोई मौलिक अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि उस अवस्था में व्यवस्था और व्यवस्थित का उपादान और निमित्त मानवीय चैतन्य को मानना पड़ता है जो व्यक्तिमूलक या यादृच्छिक नहीं होकर अतिक्रामी और अवैयक्तिक है और इस प्रकार स्वयं उस सबका भी उपादान और निमित्त है जो मानवीय है। इस प्रकार स्वयं मानवता एक आरोप हो जाती है। अब, मानवीय चित्त आत्मचेतन है, किन्तु यह आत्मचेतन मानवीय चित्त व्यक्तिगत या समाजगत नहीं है बल्कि वह है जो मानवव्यक्ति और मानव-समाज रूप में व्यक्त होता है। यदि आप मानव-व्यक्ति और मानव-समाज को भी आरोप कहना चाहें, जैसा कि जगन्मिथ्यात्व-

3. ज्यां पॉल सार्त्र ने बींग एंड नथिंगनेस के अंतिम अध्याय में इस मत का बहुत स्पष्ट और सशक्त प्रतिपादन किया है।

वादी भारतीय दार्शनिक[4] और कुछ पाश्चात्य दार्शनिक भी कहते हैं, तो यह चित्त स्वभावतः आद्य सर्जक और आत्म-प्रकाशित हो जाता है, क्योंकि यही चित्त मानवता के आरोप : उपाधि : का उपादान और निमित्त होने से सम्पूर्ण आरोप का निमित्त हो जाता है, और वह फलक या पटल भी हो जाता है जिस पर यह आरोप होता है ।

किन्तु इसमें सबसे बड़ी कठिनाई आत्मप्रकाशित चित्त को निस्सीम और पूर्णतः पारदर्शी चैतन्य स्वीकार करने की है । किन्तु यह कठिनाई इस कारण है क्योंकि इस चित्त की प्रथम और अनिवार्य क्रिया आत्म का विषयकरण देखी गई है जो इसे विषयी और विषय दोनों पक्षों में सीमित कर देती है । किन्तु वास्तव में चित्त के आत्म-प्रकाशन के लिए आत्मविभाजन अथवा सीमित विषयरूपेण अपना आक्षेप आवश्यक नहीं है ।[5] अवश्य अस्मिता, अथवा व्यक्ति-रूपेण अपना अवधारण आत्म-चेतन चित् का ही व्यापार है किन्तु यह उसका एकमात्र व्यापार नहीं है, और न इस विषयाक्षेप का सीमित विषयरूपेण आपेक्ष होना ही अनिवार्य है । सीमितता वास्तव में चित्त की पराङ्मुखता में आविर्भूत होती है, प्रत्यङ्मुखता में इसका चैतन्य में अतिक्रमण होता है । अस्मिता, अथवा सीमित आत्म-विदितता, सांवेदनिक उपादान में संरचित आत्मप्रत्यय है जो इसी उपादान में रचित्त इतरताओं से व्यावृत्त और अवच्छिन्न होता है । किन्तु प्रत्यङ्मुखता में यह प्रत्यय निरपेक्ष सामान्यता में अतिक्रमित हो जाता है : नैतिक ऋत (मॉरल लॉ) सीमित अस्मिता को सामान्य के अधीन करके ही प्रकाशित होता है जबकि तात्त्विक ऋत इस अस्मिता के नितान्त विलय के द्वारा प्रकाशित होता है । उपनिषद् के 'तत्त्वमसि' आदि तीन महावाक्य इसी विलय के आख्यान हैं, दर्शन इस दृष्टि की बौद्धिक सिद्धि का प्रयत्न है ।

वास्तव में आत्म के आक्षेप का प्रथम कर्म, जो सीमित विषयी द्वारा सीमित और किंचित् अपारदर्शी विषय का आक्षेप है, साथ ही प्राक्तन पराङ्मुख चेतना में व्याप्त तमस् के भेदन का प्रथम कर्म भी है । पराङ्मुख चेतना पूर्णतः सांवेदनिक और परिणामतः सीमित चेतना है । इसमें अस्मिता का आविर्भाव वास्तव में मात्र विषयता का आविर्भाव नहीं है. क्योंकि विषयता पराङ्मुख चेतना का मूल धर्म है,

4. इसमें हम सांख्य तथा विज्ञानवादी, शून्यवादी और सौत्रांतिक बौद्धों को भी सम्मिलित करते हैं ।

5. हमने अपनी पुस्तक "मनुष्य और जगत्" के "धर्म-दर्शन" अध्याय में निस्सीम चित् को आत्मविदित स्वीकार नहीं किया है और इस कारण ईश्वर की सत्ता का निषेध किया है । ऐसा इस मान्यता के कारण हुआ कि हमने वहां आत्म-विदितता के लिए आत्म का विषयकरण अनिवार्य माना और इस विषय के लिए इतर-व्यावृत्ति को और इस प्रकार सीमितता को । किन्तु यह अयुक्त है, जैसा कि यहां हम देखेंगे ।

बल्कि विषयि-सापेक्ष विषयता का आविर्भाव है, और विषयिता का आविर्भाव नितान्त पराङ्मुखता और तमसाच्छन्नता से मुक्ति का प्रथम चरण होता है। किंतु इसमें इस तमस् से पूर्ण मुक्ति का बीज विद्यमान होता है। इसीसे इस विषय :आत्म : का आक्षेप मात्र आहंकारिक अस्मिता का आक्षेप नहीं होता बल्कि साथ ही उस प्रतिमान का आक्षेप भी होता है जो समग्र और व्यापकतम सामान्य के रूप में इसको निर्बन्ध करता है।

जैसाकि हमने पीछे अनेक स्थलों पर देखा है, चित्त का प्रत्यङ्मुख आरोहण विशेष से, अस्तित्व से, सामान्य में उन्मुक्तता की ओर होता है। यह सामान्य उद्-ग्रहणात्मक (एब्स्ट्रेक्ट) नहीं होता, जैसाकि 'वार्धक्य', 'शैशव' आदि पदों में होता है, जिनमें अर्थ अस्तित्व से पृथक् होकर कल्पना में पुनारचित होते हैं, बल्कि इसमें स्वयं अस्तित्व का अपने मूल सत् की ओर अभिगमन होता है और इस प्रकार अपने सत्य से अपना सायुज्य होता है। इस प्रकार विषयभूत अस्मिता का आविर्भाव वास्तव में चित्त की विषयोन्मुख वृत्ति में नहीं होता बल्कि आत्मोन्मुख वृत्ति के प्रथम चरण में होता है। इस आविर्भाव के साथ चित् की विशिष्ट विषयता से मुक्त होकर अपनी मूल सर्वव्यापकता की ओर, सर्वसमावेशी सामान्यार्थ की पुनरुपलब्धि की ओर, यात्रा का आरम्भ होता है। इस प्रकार विषयकरण वास्तव में चित् की विषयि-रूपेण आत्मोपलब्धि का चरण है जो विषयी अब उन अर्थों को निरीक्षणार्थ और व्याकरणार्थ प्रस्तुत करता है जो अर्थ इस विषयकरण के बिना उसमें निमीलित अथवा अव्याकृत थे। परिणामतः आत्म का विषयकरण उन अर्थों के अपरोक्ष साक्षात्कार का आरम्भ होता है जो साक्षात्कार चित्त को विषय-निबन्धन से, विशिष्टता से, और इस प्रकार अहंकार से, मुक्त करता है।

किन्तु मनुष्य आहंकारिकता, विषयि-रहित विषयता और तमस् से एक ओर, और निरहंकारता या सार्वभौमता, विषयिता और ज्ञान से दूसरी ओर उपलक्षित होता है। यह मध्यवर्तिता ही उसे मूल्यान्वेषी बनाती है, क्योंकि उसकी साहं-कारता, विषय-निबद्धता और तमसाच्छन्नता उसे आत्म-व्यवहित करती है और यह व्यवधान उसमें न्यूनाधिक आत्म-विदित रहता है। किन्तु द्रष्टव्य है कि इस व्यवधान से मुक्ति ही उसके लिए प्रयत्नसाध्य नहीं होती बल्कि व्यवधान की अवगति भी प्रयत्न-साध्य होती है, क्योंकि अस्तित्वगत चित् : चित्त : सहज रूप में आत्म-पराङ्मुख है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि, तब मूल्य सबके लिए एक ही होने चाहिएं, जोकि नहीं होते। इसका उत्तर है कि, मूल्य ही नहीं ज्ञान-विषय भी सर्वसामान्य नहीं होते—जटिलतम वैज्ञानिक ज्ञान से लेकर सरलतम ऐन्द्रिक ज्ञान तक। जहां तक सरल ऐन्द्रिक ग्रहणों में पर्याप्त समानता होने का सम्बन्ध है, इस स्तर की चेतना में वास्तव में वैसा मूल्य-भेद भी नहीं होता : ऐन्द्रिक सुख और उनकी कामना इस

स्तर पर सबमें होती है। किन्तु वास्तव में ऐन्द्रिक ग्रहण स्वरूपतः विशिष्ट होते हैं, इसलिए उनमें न ज्ञान-विषय सामान्य होते हैं और न कामना-विषय समान होते हैं, यह व्यक्ति-विशिष्टता की पराकाष्ठा का स्तर है। जिस प्रकार नमकीन या मीठे की पसन्द प्रत्येक की निजी होती है उसी प्रकार उनके ग्रहण के संवेद भी निजी होते हैं—दोनों चित्त के संकल्प के अनधीन होते हैं। इसीसे न इसमें कोई युक्ति या विवेक सम्भव होता है कि मीठा अधिक कमनीय है या नमकीन, और न इसमें कि इस दाल में नमक कम है, ठीक है, या अधिक ? किन्तु इसमें युक्ति सम्भव है कि अमुक को नमक का कितना सेवन करना चाहिए, अथवा करना भी चाहिए या नहीं ? इसकी युक्ति-योग्यता इसके एक सार्वभौम नियम का उदाहरण होने के कारण है। किन्तु यह नियम केवल रासायनिक सन्तुलन-विषयक ही नहीं है, यह उसके ऊपर एक अन्य उच्चतर नियम के अधीन है जो मूल्यात्मक है : कि सांवेदनिक सुख कमनीय है किन्तु शारीरिक स्वास्थ्य श्रेयोमय है, और परिणामतः प्रथम तभी वरेण्य है यदि वह दूसरे का उपकारक हो, अन्यथा वह त्याज्य है। 'किन्तु क्यों ?' यहां यह प्रश्न किया जा सकता है और यह एक युक्तियुक्त प्रश्न है, इस प्रश्न के समान अयुक्तियुक्त नहीं कि, 'आपको नमक मीठे से अधिक क्यों पसन्द है ?' अथवा 'जबकि मुझे इस दाल में नमक कम लग रहा है तब आपको अधिक क्यों लग रहा है ?'

क्यों शारीरिक स्वास्थ्य संवेद-सुख की अपेक्षा अधिक वरेण्य है ? क्यों मित्र के स्वास्थ्य के लिए अपने शारीरिक स्वास्थ्य की हानि अधिक वरेण्य है ? अथवा क्यों मानसिक स्वास्थ्य शारीरिक स्वास्थ्य से अधिक वरेण्य है ? आदि प्रश्न युक्ति-योग्य हैं किन्तु इनके उत्तर देने पर पुनः उन उत्तरों की युक्तता के लिए प्रश्न किया जा सकता है, उसका भी उत्तर मिलने पर पुनः उसके सम्बन्ध में भी वही प्रश्न किया जा सकता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि यह क्रम अनन्त है। यह क्रम पर्यवसायी है, किन्तु इसकी पर्यवसायिता इसकी युक्ति-योग्यता की पर्यवसायिता नहीं है, यह युक्ति की युक्त आधार में पर्यवसायिता है क्योंकि यह पर्यवसान आत्मप्रातिभ में होता है जो प्रकाशस्वरूप और स्वतःप्रमाण है और परिणामतः जो यौक्तिकता और विवेक का आधार है। यह प्रतिभा सत्ता का अपने से साक्षात्कार है, अपने से यौगपद्य, अपने पर प्रत्यावर्तन। तब, क्यों शारीरिक स्वास्थ्य संवेद-सुख से वरेण्य है ? क्योंकि संवेद-सुख की अपनी कोई व्यवस्था, कोई संहति और नियम नहीं है, यह किसी प्रतिमान में प्रतिष्ठित नहीं है, न यह स्वयं कोई प्रतिमान है। इसके विपरीत शारीरिक स्वास्थ्य आवयविक सन्तुलन की सिद्धि है, यह जैव सत्ता का प्रतिफलन है, यह आवयविक संहति के नियम की प्रतिष्ठा है—सबसे अधिक, संवेद-सुख चित् के अपने पर आवर्तन का वैपरीत्य है जबकि शारीरिक स्वास्थ्य उसमें साधन-भूत है। किन्तु कहा जा

सकता है कि, संवेद-सुख वास्तव में पर-रूप में स्वरूप के निरूपण का एक आधार-भूत आयाम है । यह सही है, किन्तु वह तब होता है जब यह किसी व्यवस्था, संहति और प्रत्यय के निरूपण का माध्यम होता है, जैसे ललित कलाओं में, उसके बिना यह स्वरूप-रहित पर-रूपता मात्र होता है—बिखराव, असंहति, और अव्यवस्था ।

यहां एक बहुत गंभीर आपत्ति हो सकती है कि 'असत् की विद्यमानता' कैसे सम्भव है, सत् असत् को अवकाश ही कैसे देता है ? या कि असत् सत् के तुल्य-बल है और तुल्य रूप से साधार है ? वास्तव में यह प्रश्न विचार के लिए एक कठिनतम पहेली है । जगज्जीवन इस द्वन्द्व का ही महाकाव्य है और पौराणिक आख्यान इस द्वन्द्व के सबलतम चित्रण हैं । वास्तव में 'प्रतिमान' पद में ही असत् की विद्यमानता की स्वीकृति है, अन्यथा अबाधित सत् में प्रतिमानता का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता । किन्तु प्रश्न है कि यह सम्भव कैसे है ? इसका एक उत्तर इसी अध्याय में हमने पीछे दिया है कि, प्रकृति स्वरूपत: आत्म-विदित चित् से अभिन्न है और पर-रूपत: उससे पृथक् और बाह्य । किन्तु तब प्रश्न होगा कि यह पररूपता क्यों है ? दूसरे शब्दों में, सत् में आत्म-व्यवधान, सीमा, पराङ्मुखता क्यों है ? इसके अनेक उत्तर दिये गए हैं । एक उत्तर 'लीला' है । किन्तु द्रष्टव्य है कि लीला में कोई सीमा या व्यवधान नहीं है, उसमें व्यवधान स्व-रचित हैं और इस रूप में ज्ञात होते हैं । मनुष्य में व्यवधान स्व-रचित नहीं हैं, उसके लिए पर-रूप मौलिक है । इसीलिए उसके लिए यह अनात्म मौलिक और उससे स्वतंत्र है ।

किन्तु यह एक रोचक बात है कि ऐसा वास्तव में नहीं है । अवश्य मनुष्य में ज्ञानात्मक और मूल्यात्मक भ्रम ठोस रूप में विद्यमान होते हैं, उसके लिए स्वयं अपना चित्त भी पूर्ण पारदर्शी रूप में प्रस्तुत नहीं होता : उसकी अपनी स्मृतियां, प्रयोजन, प्रेरणाएं, विचार के सभी पक्ष और उसके आपादन आदि उसे प्रस्तुत नहीं होते, अन्य अस्तित्वों पर तो उसका वश होता ही नहीं : ऐसी परिस्थिति में असत् उसके लिए मौलिक हो जाता है, देव-दानव द्वन्द्व उसके लिए वास्तविक और अनन्त है ।

किन्तु यह रोचक बात है कि ऐसा नहीं है, वास्तव में यह केवल प्रकटत: ही है । मनुष्य के लिए असत् दुर्जेय है किन्तु अजेय नहीं है : वह ज्ञान में भ्रांति की सम्भावनाओं को न्यून से न्यूनतर कर सकता है, नीति में भ्रांति की सम्भावनाओं को समाप्त भी कर सकता है, चित्त के अंध गह्वरों को अधिकाधिक प्रकाशित कर सकता है, इतरता को अपनी चेतना में समाप्त कर सकता है । अवश्य वह यह सब पूर्ण रूप से समाप्त नहीं कर सकता, किन्तु इसका अधिकाधिक निवारण इसकी पूर्ण निवारणीयता, असत्ता की पूर्ण निरास्यता को प्रकट करता है : मनुष्य के स्वाभाविक ईश्वरत्व को प्रकट करता है । इसके विपरीत यदि मनुष्य में

असद्बाधा वास्तविक हो तो वह यथाप्राप्त रूप में अनिवार्य होगी। यहां सबसे बड़ी रोचक बात यह है कि ज्ञान और मूल्य में सदसद् का द्वन्द्व केवल मनुष्य के लिए ही उत्पन्न होता है : क्योंकि केवल वही आत्म-विदित और स्वतंत्र है। भौतिक और जैव प्रकृति सत्ता के तंत्र के अन्तर्गत हैं, उनसे नियमित और निर्धारित। इससे उनमें असद्बाधा का प्रश्न उपस्थित नहीं होता। पांचवें अध्याय का अनुसरण करते हुए इन्हें असन्मात्र भी कहा जा सकता है। ईश्वर स्वयं सत्ता का ही उत्कर्ष है, इसलिए उसमें भी इस बाधा के लिए अवकाश नहीं रहता, केवल मनुष्य है जो अंशतः आत्म-विदित और अंशतः स्वतंत्र है। यदि वह भी अन्य जीवों के समान आत्म-अविदित ही होता तब वह भी असद्बाधित नहीं होता, क्योंकि तब वह प्राकृतिक असत् का अथवा ईश्वरीय सत् का ही अंग होता।

10

अनिर्धार्य

प्रथम अध्याय में हमने देखा था कि निर्धारण किस प्रकार अतिक्रामी अनिर्धार्य का संकेत करते हैं किन्तु उसके साथ कोई शृंखला या क्रम नहीं बनाते, न ये किसी अध्यवसायात्मक वाक्य में निर्धारणों के साथ 'और' अथवा किसी अन्य योजक प्रत्यय के द्वारा सम्बन्धित हो सकते हैं। इस प्रकार, किसी अध्यवसाय में 'निर्धारित और अनिर्धार्य' ऐसा कोई उद्देश्य पद नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होने पर अनिर्धार्य वस्तुतः अनिर्धार्य नहीं रहता, वह निर्धारणों से व्यावृत्त और इस प्रकार निर्धारित हो जाता है। निर्धारण हमारे ज्ञान और ज्ञेय की परिधियों का भी सीमांकन करते हैं : हमारे ज्ञान और उसके विषयों का यह स्वभाव है कि वे निर्धारित रूप में ही घटित होते हैं : विषय परस्पर और विषयी से, तथा विषयी विषयों से निर्धारित होते हैं। इस प्रकार अनिर्धार्य ज्ञान और विषय दोनों से परे और परिणामतः अज्ञेय है। कुछ दार्शनिक इसे असत् भी कहते हैं, क्योंकि सत् भी उनके अनुसार निर्धारणात्मक है : वह या तो विषय-वस्तुओं का अपने स्वरूप के अनुसार होना है, जो कि अन्य वस्तुओं से सापेक्षता को सम्मिलित करता है, अथवा यह उद्ग्रहण (एब्स्ट्रेक्शन) मात्र है, जो सब विशेषणों को हटा देने से उपलब्ध होता है और परिणामतः किसी भी अन्तर्वस्तु से नितान्त रहित होता है। इसी से ये दार्शनिक इसे 'असत्' या 'शून्य' कहते हैं : 'असत्' पद तैत्तिरीय उपनिषद्[1] द्वारा और प्लोटाइनस द्वारा प्रयुक्त है और 'शून्य' नागार्जुन द्वारा।[2] प्लेटो ने अनिर्धार्य के लिए 'दि गुड' (परम शिव) पद का प्रयोग किया है जो पूर्व पदों के समान अभावात्मक नहीं होकर भावात्मक है। प्लेटो के अनुसार, ज्ञान और सत् अपने आधार आप नहीं हो सकते, ये उस शिवत्व में आधृत होते हैं जो इनका साध्य है।[3] किन्तु इसके लिए 'अखंड' और 'निरपेक्ष' पद भी प्रयुक्त किये जाते हैं। यद्यपि इन दोनों पदों में सत्य का, संभरितता का, आग्रह है और इस प्रकार ये पद 'असत्' और 'शून्य' के विपरीत हैं, किन्तु अन्य भेदों को छोड़ते हुए,

1. अनुवाक—7.
2. मूल माध्यमिक कारिका, तथा चन्द्रकीर्तिकृत प्रसन्नपदा वृत्ति।
3. रिपब्लिक, 50.8.

अनिर्धार्यता में ये पद वास्तव में 'असत्' और 'शून्य' के समान ही हैं। उदाहरणतः अद्वैतिक ब्रह्म सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है, इस प्रकार वह प्लेटो के 'दि गुड' से प्रकटतः विपरीत है जो चित् और सत् दोनों का कारण और इनसे अतिक्रामी है। किन्तु तब भी यह अनिर्धार्य है : यह अखंड और पूर्ण है जबकि निर्धारण खंडात्मक और अपूर्ण होते हैं, और परिणामतः यह 'परम शिव' से भिन्न नहीं है। 'सत्' और 'चित्' कार्य होने पर क्रमशः अद्वैतिक माया और 'पराबुद्धि' के समान हो जाते हैं।

किन्तु अनिर्धार्य को असत् या सत् कहने के पीछे एक सैद्धान्तिक भेद है। यह भेद अनिर्धार्य की कारणता-विषयक है। अनिर्धार्य ऐसे आद्य तत्त्व या आद्य स्थिति के रूप में देखा गया है जो जगद् रूप में प्रवर्तित होती है। अब यहां एक वर्ग का कहना है कि सत् की उत्पत्ति सत् से ही हो सकती है, असत् से नहीं,[4] किन्तु दूसरों का कहना है कि, तब कारण और कार्य में भेद नहीं रहेगा, दोनों कारण या दोनों कार्य हो जायेंगे। यद्यपि यह तर्क सांख्य के सत्कार्यवाद के विरुद्ध बहुत से भारतीय दार्शनिकों द्वारा भी दिया दिया गया है, किन्तु यहां वे मत प्रासंगिक नहीं हैं, इस प्रसंग में प्लोटाइनस और शैल्लिंग के मत उल्लेखनीय हैं। प्लोटाइनस प्रश्न उठाता है : "अद्वय तत्त्व (दि वन) जगत् को वह कैसे दे सकता है जो उसमें नहीं है ?" और तब इसका उत्तर देते हुए कहता है कि "वास्तव में अद्वय तत्त्व में कुछ भी नहीं होने से ही उसके लिए यह संभव है कि उसमें से सब कुछ का प्रादुर्भाव हो सकता है। इस प्रकार, सत् के होने के लिए यह आवश्यक है कि अद्वय तत्त्व सत् नहीं हो, वह सत् का उत्पादक हो। इस प्रकार सत् इस अद्वय असत् तत्त्व का प्रथम शिशु है।"[5] इस उद्धरण का क्या अर्थ समझा जाय ? इसमें 'सत्' और 'असत्' का क्या अर्थ है ? उपनिषद् के 'असत्' शब्द का अर्थ भाष्यकारों ने 'अव्यक्त' किया है, जिसका अर्थ हो जाता है कि 'सत्' यहां व्यक्त जगत् का वाचक है और असत् उसी के 'अव्यक्त' तत्त्व का, जो तत्त्व ब्रह्म है। किन्तु प्लोटाइनस का तात्पर्य यह नहीं है, वह आद्य तत्त्व और जगत् में मौलिक अंतर देखता है। यहां कहा जा सकता है कि जो तत्त्व जो कुछ स्वयं नहीं है उसका वह उत्पादक कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर एक सीमा तक विचार और उसके द्वारा सृष्ट आकृतियों के उदाहरण से दिया जा सकता है : विचार, अथवा कहें सृजनात्मक प्रत्यय, घट का सर्जक है किन्तु वह घट नहीं है, घटत्व भी नहीं है। वह इसी कारण घट का निमित्त हो सकता है क्योंकि वह घटत्व से शून्य है।

4. छान्दोग्य उपनिषद्, 6.2.2.

5. प्लोटाइनस-एन्नीड 2.1, यहां ज़िल्सों की पुस्तक 'बींग एंड सम फिलोसोफर्स', पृ० 24 से उद्धृत।

अन्यथा यह कहना होगा कि घट, अथवा कम से कम घटत्व, आद्य और स्वयंभू तत्त्व है। अपने आशय को आगे स्पष्ट करते हुए प्लोटाइनस कहता है कि "यह स्पष्ट है कि सत् और द्रव्य दोनों का स्रष्टा स्वयं सत् नहीं है, बल्कि वह है जो सत् और द्रव्य दोनों का अतिक्रमण करता है।"[6] जिल्सों प्लोटाइनस के मत को और स्पष्ट करने के लिए ईसाई सन्त-दार्शनिक ऑगस्तीन के एक कथन को उद्धृत करता है: "हे ईश्वर, ऐसी कौनसी वस्तु है जिसकी सत्ता इस कारण नहीं है कि तू है?" और तब कहता है कि प्लोटाइनस यहां कहेगा: "हे ईश्वर, ऐसी कौनसी वस्तु है जिसकी सत्ता इस कारण नहीं है क्योंकि तू नहीं है?"[7] किन्तु इससे प्लोटाइनस की दृष्टि की युक्तता प्रकट नहीं होती। वह युक्तता, मेरे विचार में, इसमें है कि यदि सत्: कार्यसत्: कारण की संभावनाओं का चरितार्थन है तो कार्य, चाहे संभावना के रूप में ही क्यों न हो, कारण में पूर्वतः विद्यमान है और परिणामतः कारण अपने चरितार्थन में निर्बाध रूप से स्वतंत्र नहीं है। कारण की निर्बाध स्वतंत्रता के लिए यह आवश्यक है कि वह कार्य की अपेक्षा से असत् हो। वास्तव में यही अर्थ कर्तृत्व की सृजनात्मकता और स्वातंत्र्य में निहित है। तब कार्य के सत् होने के लिए कारण के सत् होने, के सिद्धान्त के पीछे, अथवा ऑगस्तीन के उपर्युक्त कथन के आधार में, क्या युक्ति है? यह युक्ति कारण को उपादान के रूप में देखने में है, जबकि वास्तव में इन्हें कारण निमित्त के रूप में अभिप्रेत है। सांख्य कारण को स्पष्टतः उपादान के रूप में ही देखता है, वह निमित्त को अस्वीकार करता है, इसलिए उसके लिए सत्कार्यवाद ही उचित सिद्धान्त हो सकता था, किन्तु ऑगस्तीन के लिए नहीं।

इस प्रकार प्लोटाइनस का असत् से तात्पर्य 'अव्यक्त' से नहीं है, न वास्तव में तैत्तिरीय का असत् ही 'अव्यक्त' का वाचक है। इनका 'असत्' पूर्णरूप से जगत् से, सत्ता से, उस सबसे जो है या हो सकता है, अतीत है, वह सृजनात्मक कर्म है: "उसने स्वयं अपना सृजन किया—स आत्मानं स्वयमकुरुत।"

किन्तु द्रष्टव्य है कि प्लोटाइनीय असत्, शांकर ब्रह्म, और बौद्ध शून्य निमित्त के रूप में कल्पित[8] नहीं हैं। यद्यपि शंकर ब्रह्म में कर्तृत्व, सर्वशक्तिमत्त्व आदि का बार-बार उल्लेख करते हैं किन्तु वास्तव में उनका ब्रह्म उपादान कारण मात्र है, जो कारण कभी कार्यरूप में परिणत नहीं होता। इसी से शंकर अजातिवादी हैं। शांकर मत में वास्तव निमित्तत्व माया में है।

6. जिल्सों, वहीं।
7. वहीं।
8. यहां यह द्रष्टव्य है कि इस प्रकार के प्रसंगों में 'कल्पित' शब्द का प्रयोग मैं आधुनिक आंग्ल-अमरीकी दर्शन के हाइपोथिसिस', 'कांस्ट्रक्ट' या 'पॉज़िट' के पर्याय के रूप में नहीं कर रहा हूं, बल्कि अवधारण के अर्थ में कर रहा हूं।

ब्रह्म जगत् से नितांत अतीत, नितांत तटस्थ है यह दृष्टि शून्यवाद में, और वसुबन्धु के 'बुद्धत्व' में अधिक स्पष्ट है। 'निर्वाण' में यह दृष्टि और अधिक स्पष्ट हो जाती है। ये सब दृष्टियां औपादानिक अनिर्धार्य : असत् : की संकेतक हैं। प्लोटाइनस की दृष्टि के अनुरूप शांकर दृष्टि को इस प्रकार रखा जा सकता है कि "ब्रह्म है, और क्योंकि वह है इसलिए और कुछ नहीं है।"

इस प्रकार ब्रह्म, शून्य, निर्वाण, असत् तथा दि गुड आदि सब अनिर्धार्य के संकेतन के प्रयत्न हैं। किन्तु द्रष्टव्य है कि इन सब प्रयत्नों में दार्शनिकों की दृष्टि समान रूप से स्पष्ट नहीं रहती। उदाहरणतः इन उपर्युक्त दृष्टियों के अतिरिक्त अन्यत्र प्रायः कहीं भी, हेगल को अपवाद छोड़ते हुए, यह स्पष्टता दिखायी नहीं देती। किन्तु यहां प्रश्न हो सकता है कि यह अनिर्धार्यता-विषयक स्पष्टता क्या है? और यह स्पष्टता दर्शन के लिए क्यों अपेक्षित है? बल्कि, ज्ञान और व्यवहार का संपूर्ण क्षेत्र निर्धारितता का क्षेत्र होने से, अनिर्धार्य क्या केवल निर्धारितता का ऐसा निषेधक पद मात्र नहीं है जिसका इस शाब्दिक निषेध और इस प्रकार निर्धारण के अतिरिक्त और कोई अर्थ नहीं है?

'अनिर्धार्य' शब्द स्पष्टतः 'निर्धार्य' के निषेध से निर्मित है और इस प्रकार अपने अर्थ के लिए इस पर निर्भर है, किन्तु यह निर्भरता अन्य निषेधात्मक शब्दों से बहुत भिन्न प्रकार की है। उदाहरणतः 'घट' का निषेधक पद 'अघट' घटों से भिन्न सभी वस्तुओं का एक-एकशः और समग्रशः वाचक है। इनसे सर्वथा भिन्न प्रकार के पद 'अभाव' और 'असत्' भी निर्धारणात्मक संदर्भ में 'अनिर्धार्य' पद से भिन्न प्रकार के हैं: 'घट-भाव' और 'घटाभाव' परस्पर निर्धारक पद हैं और इनके वाच्यार्थ परस्पर के कारक हैं: घटाभाव के बिना घट-भाव संभव नहीं है, क्योंकि घट व्यक्ति और प्रत्यय दोनों स्तरों पर अपने अभाव से व्यावृत्त हुए बिना आविर्भूत नहीं हो सकता। इसी प्रकार घटाभाव भी घट-भाव से अवच्छिन्न होना अनिवार्य है। शुद्ध भाव या सत् के : ऐसे भाव या सत् के जो निर्धारित वस्तुओं से व्यवहित नहीं है : निषेधक पद का अर्थ निषिद्ध पद से भिन्न नहीं होता। अर्थात् शुद्ध भाव-मात्रता (बींग क्वा बींग) शुद्ध अभावमात्रता से भिन्न नहीं की जा सकती, दोनों का एक ही विस्तार और एक ही अन्तर्वस्तु, अथवा कहें अन्तर्-अवस्तु है। अन्य सब विषय अन्य से निर्धारित या व्यावृत्त होते हैं, परिणामतः वे अपने आधार के रूप में अन्य की अपेक्षा करते हैं जिसके ये निर्धारण हो सकें, शुद्ध भावमात्रता में यह अपेक्षा नहीं होती, अथवा कहें वह अन्य किसी से निर्धारित नहीं होती, केवल अपने-आपसे निर्धारित होती है। इस प्रकार यह अभाव से व्यवहित नहीं होती। ठीक यही बात अभावमात्रता के लिए है, यह भी भाव से व्यवहित नहीं होती। ऐसा इस कारण है क्योंकि दोनों प्रत्यय नितांत सरल और नितांत रिक्त हैं, और परस्पर के बाधक नहीं होने से परस्पर अनवच्छेदक हैं।

यहां आपत्ति की जा सकती है कि, भावमात्रता अभाव से व्यवहित नहीं हो, यह एक बात है, किन्तु वह भाव से अव्यवहित अभावमात्रता से अभिन्न हो, यह सर्वथा दूसरी बात है। इस आपत्ति का औचित्य यह है कि भावमात्रता भाव-वस्तुओं के सब गुणों और धर्मों का निरास कर केवल उनके होने का, भाव का, उद्ग्रहण है, और केवल होना : भावमात्रता : अभाव से व्यवहित इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि अभाव केवल भाव का सापेक्षत: निषेध है, जैसे गाय में घट का अभाव तो है किन्तु वह केवल इसलिए क्योंकि वहां गाय का भाव है। इसके विपरीत अभावमात्रता भाव-वस्तुओं के भाव का ही निषेध है। यह हाइडेगर के इस प्रश्न से स्पष्ट है 'कुछ भी, जो भी है, वह क्यों है? बजाय कुछ भी नहीं होने के?' (व्हाई देअर इज़ समथिंग रादर दैन नथिंग ?) इसे और भी पैने और मूलगामी रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है: "भाव-मात्र ही क्यों है, ऐसा भी हो सकता था कि केवल अभाव ही होता!" द्रष्टव्य है कि यहां विशेष वस्तुओं के समग्रत: भाव की और उनके संयुक्त रूप से अभाव की बात नहीं की जा रही है बल्कि उस क्रिया-शक्ति या तत्त्व की बात की जा रही है जिसके कारण विशेष वस्तुओं का भाव है। यदि वह क्रिया नहीं होती तो कोई वस्तु नहीं हो सकती थी। किन्तु द्रष्टव्य है कि ऐसा केवल तभी संभव है यदि उस तत्त्व या क्रिया को तर्कत: : संभावनात्मक रूप से : अभाव-व्यवहित कल्पित नहीं किया जाय। ग़ालिब का एक शेर है : "कुछ न था तो खुदा था, कुछ न होता तो खुदा होता।" इसका अभिप्राय यदि इस प्रकार समझा जाय कि खुदा 'कुछ भी नहीं है से अभिन्न है', तो भी अनुपयुक्त नहीं होगा। वास्तव में भावमात्रता और अभावमात्रता में आशय-भेद तो है किन्तु तत्त्व-भेद नहीं है। किन्तु निर्धारण के प्रसंग में ये परस्पर विपरीत और संयुक्त रूप से निर्धार्यों के कारण होते हैं। यहां हेगल का स्मरण स्थाने होगा जिसके अनुसार भाव और अभाव अभिन्न हैं और एक का दूसरे में संक्रमण भव्यता (बिकमिंग) का कारण बनता है।

'भाव' और 'अभाव' अथवा 'सत्' और 'असत्' के समान ही 'चित्' और 'अचित्' का प्रयोग भी दो सन्दर्भों में होता है, एक सन्दर्भ में ये दोनों परस्पर निर्धारणों के रूप में प्रयुक्त होते हैं और दूसरे में अनिर्धार्यों के रूप में। निर्धारणों के रूप में ये क्रमश: विषयी और विषय होते हैं, अनिर्धार्यों के रूप में या तो चित् एकमात्र और समग्र के रूप में गृहीत होता है अथवा अचित् एकमात्र और समग्र के रूप में, और इनमें एक दूसरे में अन्तर्भूत कर लिया जाता है। किन्तु यह वास्तव में भ्रान्ति है, इन दोनों में से कोई भी एक अनिर्धार्य नहीं हो सकता, इनमें एक के अनिर्धार्य के रूप में उन्नयन से दूसरे का उसमें केवल छद्म रूप में ही अन्तर्भाव होता है जबकि वास्तव में वह उससे निर्धारित होता है। उदाहरणत: माइनांग और हुस्सर्ल द्वारा विषय का चेतना की अपेक्षा (इंटेंशन) के रूप में निरूपण चेतना को

विषय द्वारा उसके निर्धारण से मुक्ति नहीं देता, बल्कि इस निरूपण में चित्त परिभाषित ही विषय से होता है। इसी प्रकार उन दूसरे सिद्धान्तों में भी है जो विषय की सत्ता का चित्त की कल्पना के रूप में अपचय करते हैं। विषय-मूलक सत्ता :विषय-सत्ता: को अनिर्धार्य के रूप में देखने वाले और भी अधिक भ्रान्त हैं, क्योंकि विषयात्मक अनिर्धार्य :जैसे भौतिक द्रव्य, अथवा सांख्यीय प्रकृति भी: कारण-कार्यता के केवल भौतिक आयाम में ही उपचरित हो सकता है और यह आयाम अवगमन, बोध, अन्तरोन्मुखता और अतिक्रामिता का कारक नहीं हो सकता। इससे भी अधिक, कारण-कार्य-सम्बन्ध या तो बुद्धि-ग्राह्य ही नहीं हो सकता, और यदि यह बुद्धिग्राह्य रूप में कल्पित किया जाता है, जैसे कांट में, तो यह भौतिक नहीं हो सकता, विषयिमूलक ही हो सकता है। इस प्रकार निर्धारण में भी, विषयी के अनिवार्यत: विषय-सापेक्ष और विषय के विषयि-सापेक्ष होने पर भी विषयी प्रथम और मुख्य है, क्योंकि विषयी तो विषय का आशय या अपेक्षा के रूप में धारण कर सकता है, किन्तु विषय विषयी का इस प्रकार धारण नहीं कर सकता।

किन्तु अपेक्षात्मक रूप में इस प्रकार धारण होने पर भी विषय की विषयी से स्वतंत्रता अक्षुण्ण रहती है, जिसकी पराकाष्ठा अध्यवसायारूढ़ ऐन्द्रिक विषयों में दिखायी देती है, जो देश और काल के रूप में बाह्यता के दो स्वतंत्र आयामों के साथ घटित होते हैं। यद्यपि विषयी अपने को विषयमात्र से निष्क्रमित भी कर सकता है, किन्तु यह सिद्धि उसे अनिर्धार्यता नहीं देती : 'अस्मिता' में 'अहं' अपने को निरपेक्षत: तो प्रतिष्ठित कर सकता है किन्तु तब वह विषय को भी निरपेक्षत: प्रतिष्ठित करने को बाध्य होता है। सांख्य इसका बहुत उत्कृष्ट उदाहरण है। किन्तु यदि वह विषय को सापेक्षत: प्रतिष्ठित करता है तो उसका स्वयं का भी सापेक्ष होना अनिवार्य हो जाता है, जिसका स्पष्टतम उदाहरण हम हुस्सर्ल में देख सकते हैं। इस प्रकार विषयी अथवा विषय अनिर्धार्य या पराकाष्ठा नहीं हो सकते, अनिर्धार्य का इन दोनों निर्धारणों से अतिक्रान्त और इनका आधार होना अनिवार्य है। वास्तव में सांख्य में विषयी और विषय को क्रमशः सत्व और तमस् के अतिरेक से एक ही प्रकृति के दो पक्षों के रूप में स्थापित करने और उन्हें पुरुषोल्लेखी कहने में इस दृष्टि का आभास भी मिलता है, यह दृष्टि तब और भी स्पष्ट प्रकट होती है जब सांख्य इस द्वैत को पुरुषोन्मुखता में निरास्य कहता है। किन्तु सांख्य इसके इतना निकट जाकर भी इसे पूर्णत: अपना नहीं पाया, वह विषयि-विषयात्मक जगत् के अधिष्ठान के रूप में प्रकृति को पुरुष के अधीन रखकर भी उसे स्वतंत्र तत्त्व मानता है। द्वैतवाद वास्तव में दर्शन में एक विचित्र दृष्टि है : यह एक ओर विषय और विषयी को दो पूर्णत: स्वतंत्र सत्ताएं रख कर उन्हें पृथक्-पृथक् अनिर्धार्यता देती है, किन्तु दूसरी ओर इसे अनुभव के सर्वत्र विपरीत पाकर इन्हें पुन: सम्बन्धित करने के लिए युक्तियों की खोज करती है, जो कभी सफल नहीं हो

पातीं। इसलिए दर्शन के लिए वास्तव में एक ही मार्ग रहता है कि वह इस द्वैत को अनिर्धार्यों के द्वैत के रूप में नहीं देखकर निर्धारितों के द्वैत के रूप में देखे जो एक अनिर्धार्य में प्रतिष्ठित हैं। भारतीय दर्शन में वसुबन्धु का विज्ञानवाद और शंकर का ब्रह्मवाद यही करते हैं। किन्तु वे, विशेषतः वसुबन्धु, इस दृष्टि को पाकर भी तब भ्रमित हो जाते हैं जब वे निर्धारणों को असत् मान लेते हैं। किंतु ऐसा भी कहा जा सकता है कि वे निर्धारणों को असत् भी नहीं मानते, उन्हें वे निर्धारणों के रूप में : व्यवहारतः : सत् ही मानते हैं, जिसका अर्थ है कि निर्धारण परमार्थतः सत् नहीं हैं। उदाहरणतः वसुबन्धु कहते हैं : 'अज्ञानियों द्वारा धर्मों के स्वभाव की जो कल्पना ग्राह्य-ग्राहक रूप में की गई है, उस कल्पित रूप में उनका नैरात्म्य (अवास्तविकता) है, न कि अनिर्वचनीय रूप में, जो बुद्धों का विषय है। इस प्रकार विज्ञप्तिमात्र को भी अन्य विज्ञप्ति के द्वारा परिकल्पित रूप में असत् समझने से (अर्थात् ग्राह्य-ग्राहक-भाव-रहित विज्ञप्ति मात्रता में प्रवेश करने से) सभी धर्मों के नैरात्म्य-ज्ञान में प्रवेश होता है, न कि उनके अस्तित्व को ही न मानने से "।[9] किन्तु वास्तव में इस उद्धरण का आशय यह नहीं है, यहां 'सब धर्मों के नैरात्म्य-ज्ञान में प्रवेश' से निर्धारणों के नैरात्म्य का ही कथन किया गया है, इस बात का नहीं कि वे निर्धारणों के रूप में परस्पर सापेक्ष होने से आत्मप्रतिष्ठित नहीं होकर अनिर्धार्य में प्रतिष्ठित हैं। अवश्य निर्धारण आत्मप्रतिष्ठित नहीं हैं : कोई वस्तु तब तक दाहिने नहीं हो सकती जब तक कोई दूसरी उसके बायें नहीं हो : किन्तु उनकी परस्परता उन्हें निरात्म नहीं बनाती, केवल पारस्परिक बनाती है और उस 'एक' की ओर संकेत करती है जिसके आधार पर वे पारस्परिक हैं। दाहिने-बायें देश के निर्धारण हैं और विभिन्न बाह्य सम्बन्ध अपनी समग्रता में 'जगत्' के, और ये सम्बन्ध और इनके निर्धार्य दोनों अपनी-अपनी प्रकारता में वास्तविक हैं। अवश्य सम्बन्धित वस्तुएं इस अर्थ में निरात्म हैं कि 'जो दायें है' उसका आत्मा 'जो बायें है' उससे व्यवहित है, जिसका अर्थ है कि उसका आत्मा स्वाधिष्ठित नहीं है, किन्तु यह बात 'निर्धारित' कहने में ही निहित है; किन्तु यह बात निर्धारणों को अवास्तविक नहीं बनाती। यही दोष नागार्जुन की इस युक्ति में भी है कि सब वस्तुएं प्रतीत्य-समुत्पन्न होने से निस्स्वभाव हैं। दूसरी ओर उतनी ही भ्रामक युक्ति यह है कि ज्ञान और उसका विषय, या अनुभवगम्य सब कुछ निर्धारणात्मक होने से, अनिर्धार्य केवल कल्पना मात्र है। इसके पीछे युक्ति यह है कि, हम घट-पट आदि की सत्ताओं

9. यो बालैर्धर्माणां स्वभावो ग्राह्य-ग्राहकादिः परिकल्पितस्तेन कल्पितेनात्मना तेषां नैरात्म्यं, न त्वनभिलाप्येनात्मना, यो बुद्धानां विषय इति। एवं विज्ञप्तिमात्रस्यापि विज्ञप्त्यंतर परि-कल्पितेनात्मना नैरात्म्य प्रवेशात् विज्ञप्तिमात्र व्यवस्थापनया सर्वधर्माणां नैरात्म्य प्रवेशो भवित, न तु तदस्तित्वापवादात्। (विंशतिका प्रकरण-वृत्तिः, 10) ऊपर हिन्दी अनुवाद डा० महेशतिवारीकृत (चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, 1967)

को जानते हैं, भौतिक, जैविक आदि की सत्ताओं को भी जानते कहे जा सकते हैं, किन्तु सत्-मात्रता (बींग क्वा बींग) को जानने का क्या अर्थ है? क्या यह केवल शब्द के होने से उसके वाच्यार्थ के भी होने की अनिवार्यता मानने की भ्रान्ति नहीं है? अथवा, किसी विधा में होने से पृथक् और ऊपर सत्ता के होने का क्या अर्थ है? क्या यह भाषा में उद्ग्रहण की सामर्थ्य को सत्ता के लिए मानदंड बनाना नहीं है? विचार के ये दोनों पक्ष समान रूप से भ्रामक हैं।

मान लें कि सब वस्तुएं प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं, किन्तु इससे यह कैसे आपादित होता है कि वे निस्स्वभाव भी हैं, उन्हें एक-स्वभाव भी कहा जा सकता है। इसके विरुद्ध कहा जा सकता है कि एक-स्वभावता के लिए किसी ऐसी वस्तु की सत्ता स्वीकार करनी होगी जो प्रतीत्यसमुत्पन्न नहीं हो। इसका उत्तर होगा कि, किन्तु सब वस्तुएं सस्वभाव हैं, घट घटत्ववान् है और पट पटत्ववान्, इससे सिद्ध होता है कि ये प्रतीत्यसमुत्पन्न वस्तुएं अप्रतीत्यसमुत्पन्न में प्रतिष्ठित हैं। वास्तव में नागार्जुन यह स्वीकार कर सकता है, उसका शून्य यह प्रतिष्ठा दे सकता है। और वास्तव में कहा जा सकता है कि नागार्जुन शून्य को अभावात्मक कहने वालों की भर्त्सना करके यही करता है।[10] किन्तु यह युक्ति एक और पक्ष से भी सदोष है: यह युक्ति इस धारणा पर आधारित है कि प्रत्येक घटना के पूर्वगामी घटना पर आधारित होने से घटनाओं का कोई आधार नहीं हो सकता और परिणामतः उसका कोई स्वभाव नहीं हो सकता। किन्तु इस धारणा के लिए क्या युक्ति है? वर्तमान घटना का कोई स्वभाव होने के लिए पूर्वगामी घटना के स्वभाव का वर्तमान घटना में संक्रमण ही क्यों आवश्यक माना जाय? ऐसा क्यों नहीं माना जाय कि एक-स्वभाववान् अनिर्धार्य ही घटनाओं के अनादिक्रम और अनन्त विस्तार में स्वयं काल और देश-रूप में भी व्यक्त होता है? तीसरे, अन्य पर आश्रित उत्पत्ति में यह भी कहीं अनिवार्यता नहीं है कि यह उत्पत्ति अपना स्वभाव भी अपने उत्पादक से प्राप्त करेगी, : प्रत्येक मानव-व्यक्ति अपने माता-पिता की सन्तान होता है किन्तु यह स्थिति उसका अपना स्वभाव होने में बाधक नहीं है। मनस् के क्षेत्र में स्थिति इससे और भी भिन्न दिखायी देती है: एक विचार सर्वथा विपरीत विचार को, विचार आवेग और उद्वेग को, अथवा उद्वेग विचार को जन्म दे सकते हैं। मौलिक विचार या कलात्मक : सृजनात्मक : कल्पना एक सर्वथा दूसरी ही परिस्थिति प्रस्तुत करते हैं: ये अपने स्वभाव के साथ अपने को स्वयं आविर्भूत करने की क्रियाएं हैं। इस प्रकार न तो

10. शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निस्सरणं जिनैः। येषां तु शून्यता-दृष्टिस्तानसाध्यान् बभाषिरे। 13,8.
शून्यमिति न वक्तव्यमशून्यमिति नो भवेत्। उभयंनोभयंचेति, प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते। 22,11.
तथागतो यत्स्वभावस्तत्स्वभावमिदं जगत्, तथागतो निस्स्वभावो निस्स्वभावमिदं जगत्। 22,16. (मूल माध्यमिक कारिका)

सब घटनाएं और वस्तुएं प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं और न यही आवश्यक है कि यदि कोई घटना प्रतीत्यसमुत्पन्न हो तो वह निस्स्वभाव भी हो।

जहां तक दूसरे पक्ष : अनिर्धार्य के उद्ग्रहणात्मक कल्पनामात्र होने : का सम्बन्ध है, इसकी भ्रांति अधिक सूक्ष्म और भयावह है। इसकी भयावहता, जैसा कि हम अभी देखेंगे, दार्शनिक प्रयत्नमात्र को निरर्थक बनाने में है।

सर्वप्रथम, अनिर्धार्य को भाषामूलक उद्ग्रहण के रूप में देखने के पीछे यह धारणा है कि इन्द्रिय-ग्राह्य ही ज्ञान-विषय हो सकते हैं और ज्ञान-विषय ही सत् हो सकते हैं। इस धारणा की अयुक्तता हम पीछे अनेक प्रसंगों में देख आये हैं, इसलिए यहां हम इस प्रसंग में कुछ नहीं कहेंगे। यहां केवल इतना ही कहना अभिप्रेत है कि अनिर्धार्य उद्ग्रहणात्मक नहीं होता, यह निर्धारण की पूर्वापेक्षा होता है। उदाहरणतः 'गोत्व' पद तब उद्ग्रहणात्मक होता है जब यह गाय-व्यष्टियों पर व्यापक होता है, किन्तु जब यह उस नियम या तत्त्व का वाचक होता है जो गायों को उनके वैशिष्ट्य की सब संभावनाओं में शासित करता है तब वह वस्तु :जातिः वाचक होता है। किन्तु इन दोनों ही पक्षों में गोत्व अनिर्धार्य नहीं होता, और 'गोत्व' के ये दो ही प्रकार के वाच्य हैं। इस प्रकार अनिर्धार्य न केवल उद्ग्रहणात्मक ही नहीं है, यह जातिवाचक भी नहीं है। यहां आपत्ति की जा सकती है कि गोत्व आदि इस कारण अनिर्धार्य नहीं हैं क्योंकि ये निम्न स्तर के उद्ग्रहण हैं, निर्बाध उद्ग्रहण अनिर्धार्य होना अनिवार्य है। उदाहरणतः 'पशुत्व' 'गोत्व' से उच्चतर उद्ग्रहण है और 'जीव' पशुत्व से उच्चतर। इसी क्रम में सत्-मात्रता उच्चतम उद्ग्रहण है, और तब यह उद्ग्रहण पूर्णतः निर्बाध हो जाता है जब यह असत् को भी व्याप्त कर लेता है। किन्तु यह स्पष्टतः भ्रान्ति है, क्योंकि जैसा कि हमने पीछे देखा, निर्धारण अनिर्धार्य को अपनी व्यावर्त्यता से इंगित करते हैं और व्यावर्त्यता निर्धार्य की आत्म-अपर्याप्तता है। किंतु वास्तव में उद्ग्रहण के क्रम का भी एक दूसरा आयाम है जिसे हमने गोत्व-कल्पना (उद्ग्रहण) के विपरीत गोत्व-जाति (वस्तु) कहा। यह जाति व्यष्टियों की जनक और नियामक होती है। सत्-मात्रता इस अर्थ में उच्चतम जाति है कि यह वस्तुमात्र की उद्भावक और नियामक है : इसी के कारण सब कुछ, जो कुछ भी है, वह है, बजाय नहीं होने के, यद्यपि यह स्वयं होने-न-होने को एक-साथ अपनी अखंडता में अन्तर्भूत करती है।

किन्तु तब आपत्ति हो सकती है कि निर्धारितों की आत्म-अपर्याप्ता से अनिर्धार्य की ओर संकेत विचार का एक स्वभाव हो सकता है किन्तु उसकी प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध नहीं है। यद्यपि इस आपत्ति के पीछे कुछ अत्यन्त प्रतिष्ठित दार्शनिक सम्प्रदाय हैं, जिनमें से एक के समर्थन मे स्वयं हमने भी पीछे दो पुस्तकें लिखी थीं,[11] किन्तु इस आपत्ति के आधार में एक बहुत मौलिक भ्रान्ति यह है कि यह

11. द्रष्टव्य ज्ञान और सत्, तथा संस्कृतिः मानव-कर्तृत्व की व्याख्या।

मत जबकि अवधारणा को सत्ता का मानदंड निश्चित करता है यह स्वयं इस अवधारणा में ही निहित अपने से परे के सत्ता-विषयक निर्देश की उपेक्षा करता है। यहां पहले हम दो सापेक्ष अनिर्धार्यों का उल्लेख करेंगे जिनमें से प्रथम की अवधारणात्मक निर्धार्यता के समर्थन में हमने **ज्ञान और सत्** पुस्तक में विस्तार से युक्तियां दी हैं। यह अनिर्धार्य है व्याख्येय विषय। अब यह सर्वविदित है कि एक ही घटना या वस्तुस्थिति की अनेक व्याख्याएं हो सकती हैं, जिसका अर्थ है कि व्याख्या-विषय इन सब व्याख्याओं के बीच तटस्थ होता है। उक्त पुस्तक में हमने प्रतिपादित किया था कि प्रत्येक व्याख्या अपने एक स्वतंत्र विषय या वस्तु को अनिर्धार्य सत् के रूप में स्थापित करती है, किन्तु विभिन्न व्याख्याओं के अनिर्धार्य उन व्याख्याओं के अपने आक्षेप होते हैं। किन्तु इस मत में इस तथ्य की उपेक्षा है कि हम व्याख्येय तथ्य की विभिन्न व्याख्याओं के सम्बन्ध में भी जानते हैं और अपनी व्याख्या की एक-पक्षता को भी जानते हैं। उदाहरणत: किसी ऐतिहासिक घटना के स्वरूप, अथवा किसी प्राकृतिक वस्तुस्थिति के स्वरूप की व्याख्या कितनी भी समीचीन होने पर भी वह प्रसंग, प्रयोजन और दृष्टिकोण विशेष से निर्धारित होनी अनिवार्य होती है और व्याख्याकार के रूप में हम इस तथ्य को जानते हैं। इस प्रकार व्याख्येय व्याख्या-सापेक्ष आक्षिप्त नहीं होकर व्याख्याओं का अतिक्रमण करने वाला होता है।

किन्तु यहां कहा जा सकता है कि, इससे अधिक से अधिक यही सिद्ध होता है कि अनिर्धार्य हमारे विचार की एक अनिवार्य अपेक्षा है, यह हमारे विचार का एक स्वभाव है, किन्तु इसकी प्रामाणिकता के लिए क्या युक्ति है? इसलिए यह दिखाना आवश्यक है कि किस प्रकार संकेतित अनिर्धार्य केवल हमारे विचार की अपेक्षा नहीं है। उदाहरणत: हम देश और काल के आदि-अंतों की कल्पना नहीं कर सकते, न इनका अभाव ही कल्पनीय है, किन्तु इनका स्वरूप-विचार इनकी अपारमार्थिकता प्रकट करता है। तब कहा जा सकता है कि अपनी व्यावहारिक सत्ता में तो ये अनादि-अनन्त ही हैं, और कल्पना व्यवहार-विषयक ही होती है। यह सही है, किन्तु इसका अर्थ है कि देश-काल की अनादि-अनन्तता पारमार्थिक नहीं है, व्यावहारिक कल्पनामूलक है, और तब यह कहना भी सही नहीं है कि यह व्यावहारिक कल्पना के लिए कोई अनिवार्यता है, क्योंकि व्यावहारिक कल्पना के लिए कुछ भी अनिवार्य नहीं होता, वह स्वयं और उसकी अंतर्वस्तु दोनों स्वभावत: आगन्तुक होती हैं।

किन्तु विचार द्वारा अपेक्षित होने पर भी अनिर्धार्य वैचारिक कल्पनामात्र नहीं है, न यह व्यावहारिक : सांवृतिक : ही है। वास्तव में यदि हमारे पीछे के प्रतिपादन में कुछ भी सार है तो यह व्यवहार के अतिक्रमण की पराकाष्ठा है : भाषा और विचार दोनों को व्यवहार में सम्मिलित करते हुए यदि कहा जाय कि विचार

का स्वभाव है कि वह अपना अतिक्रमण करता है किन्तु इस अतिक्रमण का कोई पारमार्थिक आधार नहीं है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि इसकी प्रामाणिकता के निषेध के लिए भी क्या प्रमाण है ? वास्तव में विचार अपना अतिक्रमण बौद्धिक साक्षात्कार में करता है, यद्यपि सब अतिक्रमण अनिवार्यतः साक्षात्कारात्मक नहीं होते । किन्तु तब साक्षात्कारी अतिक्रमण का क्या चिह्न है ?

जैसाकि हमने प्रथम अध्याय में, और अन्यत्र भी अनेक प्रसंगों में देखा, निर्धारण अपनी अतिक्रमणीयता विचार की अन्तरोन्मुखता के क्रम में प्रकट करते हैं। यह अतिक्रमण अपनी पर्यन्तता अधिगत करने से पूर्व निर्धारण के उन-उन स्तरों का उत्तानीकरण-प्रकर्षण करता है जिन-जिन स्तरों का अतिक्रमण होता है। यह विज्ञान के इतिहास से देखा जा सकता है। विज्ञान की यात्रा निरन्तर संश्लेषणात्मक : आगन्तुक और बाह्यतः सम्बन्धित : से विश्लेषणात्मक : अर्थात् अनिवार्य और अन्तःसम्बन्धित : को अधिगत करने की ओर रही है, इसी से विज्ञान का आदर्श भौतिक विज्ञान रहा है जो अपने विषय को उन सभी निर्धारणों से अधिकाधिक मुक्त करने में सफल हो सका है जो प्रत्यय की पारदर्शी विश्लेषणात्मकता और अनिवार्यता में अन्तर्भूत नहीं किये जा सकते । इसी से मनोविज्ञान, वनस्पति-विज्ञान और प्राणिविज्ञान केवल इस अर्थ में ही विज्ञान हैं कि ये भी उसी आदर्श को लेकर अग्रसर हैं और अपनी विषय-वस्तु को इस प्रकार निर्धारित करने का प्रयत्न करते हैं कि वह उस आदर्श की कसौटी पर यथासंभव पूरी उतर सके। किन्तु विज्ञान में विचार की यह आत्मोन्मुखता आत्मार्थ : आत्मविषयक: नहीं होकर परार्थ : विषयार्थः होती है । दूसरे शब्दों में, विज्ञान में ज्ञान अपना अतिक्रमण विषय में करता है, जबकि दर्शन में ज्ञान अपना अतिक्रमण अपनी आत्मोन्मुख गति में ही करता है । इस प्रकार वह विज्ञान के विपरीत विषय को उसकी मूलाग्र अवधारणाओं में, अवधारणाओं को उनकी मूलाग्र चिद्वृत्तियों में, और इन वृत्तियों को उनके निरुपाधिक चैतन्य में से आविर्भूत होते देखता है । अरस्तू जब कहता है कि "एक ऐसा विज्ञान है जो सत्-मात्रता (बींग क्वा बींग) तथा उसके स्वरूपगत लक्षणों का अध्ययन करता है जबकि तथाकथित विशिष्ट विज्ञान सत्ता के एक पक्ष को पृथक् कर लेते हैं और इस पक्ष का अध्ययन करते हैं"[12] तब वह वास्तव में हमारे इस प्रतिपादन को ही विषयपरक पदावली में प्रस्तुत करता है ।

12. अरिस्टॉटल्स मैटाफिजिक्स, संपादन और अनुवाद—जॉन बैरिंग्टन, पृ० 116-123.

11

मानव–तत्त्व

मनुष्य क्या है ? यह प्रश्न मनुष्य का स्वयं से है; और स्वयं से यह प्रश्न इस सृष्टि में मनुष्य के अतिरिक्त कोई दूसरा सत्त्व नहीं करता। कहा जा सकता है कि दूसरा कोई सत्त्व कोई और प्रश्न भी नहीं करता। किन्तु संभवतः यह बात उतनी निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती; संभवतः सब जीव, कम से कम बहुत से जीव, अपरिचित परिस्थिति में संशयग्रस्त होते हैं और उस संशय के निवारण का प्रयत्न करते हैं। यदि इस संशय को प्रश्न का स्तर नहीं भी दिया जाय और केवल मनुष्य को ही प्रश्न करने के योग्य माना जाय तो भी अन्य प्रश्नों और इस प्रश्न में एक मौलिक अन्तर है : यह प्रश्न विषयी की अपनी ओर उन्मुखता से उत्पन्न होता है। कहा जा सकता है कि विषयी की अपनी ओर उन्मुखता किसी भी वस्तु के स्वरूप-चिन्तन में लक्षित होती है : इसमें विषयी सद्यः प्रस्तुत विषय को स्थगित कर, उसे उसके अस्तित्व में समाप्त कर, उसके चिद्गत स्रोत की ओर उन्मुख होता है। उदाहरणतः 'गाय क्या है ?' इस प्रश्न का उदय होते ही गाय अपने ठोस, सप्राण अस्तित्व से विरहित होकर अपने प्रत्यय में पुनर्जन्म लेती है, जो प्रत्यय चित्त को आत्मोन्मुखता में ग्राह्य होता है। यह सही है, किन्तु तब भी 'मनुष्य क्या है ?' प्रश्न इस प्रकार के अन्य प्रश्नों से भिन्न है।

किन्तु यह प्रश्न शुद्ध विषयी की शुद्ध आत्मोन्मुखता भी नहीं है; यह शुद्ध आत्मोन्मुखता केवल शुद्ध आत्म-प्रत्ययन, शुद्ध आत्म-ख्यापन में होती है जो आत्म वस्तु-रूप में उपलब्ध नहीं होकर कल्पना में वस्तु से निवर्तन की पर्यन्तता पर उपलब्ध होता है। वास्तव में 'मनुष्य क्या है' इस प्रश्न में एक ओर विषय अपने अस्तित्व में स्थगित होता है और दूसरी ओर विषयी भी अपने अस्तित्व में स्थगित होता है; इसमें विषयी या अस्मत् विषयकृत : अस्मत्प्रत्ययगोचर : होता है और अस्मत् प्रत्ययगोचर सामान्यीकृत होता है। इस सामान्य प्रत्यय को विषयि-विषय भी कहा जा सकता है, जिसमें एक ही तत्त्व दो पक्षों के यौगपद्य में संश्लिष्ट होता है। इसमें दोनों पक्ष तुल्य-बल रहते हैं।

विषयिता स्वरूपतः एक नितान्त सरल स्थिति है, विषयि-विषयता एक संश्लिष्ट स्थिति है, किन्तु मनुष्य में यह संश्लिष्ट स्थिति अत्यधिक जटिल भी हो जाती है, क्योंकि मनुष्य में इस संश्लिष्ट स्थिति : विषयि-विषय-युग्मता : में

विषयिता के कम से कम चार स्तर रहते हैं। ये स्तर हैं देहमय, मनोमय, विज्ञान-मय और अतिक्रामी, जिसे उपनिषद् आनन्दमय कहते हैं। शुद्ध विषयिता की स्थिति में चित्त जिस भी भाव में होता है उसी भाव के साथ एकाकार होता है। यह केवल अपना किसी भी भाव से पृथक् ग्रहण होने पर ही संभव होता है कि हम इन विभिन्न भावों को, उनमें अवस्थित हुए बिना, अपने विभिन्न स्तरों के रूप में देख सकें। किन्तु तब इस दर्शकत्व को पांचवां भाव होना चाहिए। किन्तु इसके पांचवां भाव होने पर यह इन सब भावों का सहगामी भाव नहीं रहेगा। इन सब भावों का सहगामी होने के लिए इसे इस स्तरक्रम से पृथक् होना चाहिए। किन्तु वास्तव में यह इन भावों से पृथक् भाव नहीं होता, इस विषयि-विषयता की स्थिति में ही चित्त किसी भी स्तर पर अपना विषयकरण कर विषयी रूप में उसका साक्षी होता है। यह साक्षित्व ही विज्ञानमय स्तर है। यहां यह स्मरण दिलाना अनावश्यक होना चाहिए कि यह स्तरक्रम न देशमूलक है और न कालमूलक, न ऐसा ही है कि चित्त एक समय किसी एक भाव में ही हो सकता है, किन्तु न ऐसा ही है कि उसका एक-साथ सब भावों में होना उसके लिए अनिवार्य है। किन्तु उसकी इन भावों में अवस्थिति उसमें एषणाकृत होती है, ये सब भाव उसके संकल्प के, पर्येषणा के, द्योतक होते हैं : पशु में चित्त सदैव देह-भाव या देह-मनोभाव में होता है, मनुष्य में साधारणतः मनोभाव का प्राबल्य रहता है और विज्ञान-भाव भी गौणतः रहता है, किन्तु मनुष्य में इन भावों का बल पर्येषणा के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है। अतिक्रामी भाव मनुष्य का परम पर्येष्य है, किन्तु इसकी सिद्धि नितान्त विरल होती है। जैसाकि हमने पीछे अध्याय 7 में देखा, विज्ञानमय स्तर मानवीय चेतना में प्रायः सहज उपलब्ध है, यद्यपि इसका बल व्यक्तिभेद से भिन्न होता है। किन्तु इसका अस्तित्व सब दार्शनिक मतों और संस्कृतियों में समान रूप से मान्य नहीं है, और न इसके मान्य होने पर इसके स्वरूप के सम्बन्ध में सहमति है। इस असह-मति में मनुष्य के स्वरूप की आधारभूत सीमितता या औपाधिकता प्रकट होती है उसमें जबकि अर्थ सहज आभासित होते हैं, ये उसे कभी भी संपूर्णतः अवगत नहीं होते। यह परिस्थिति जितनी अन्य अर्थों के सम्बन्ध में है उससे कहीं अधिक मनुष्य के अपने सम्बन्ध में है। क्योंकि वह स्वयं अपने को विषयि-विषय के रूप में अवगत होता है इसलिए उसमें : विषयिता के घटक होने से : अपने प्रत्येक अवगमन को अव्यवहित मानने की प्रवृत्ति सहज होती है। किन्तु वास्तव में विषयिता दुर्गमतम स्थिति है—इस कारण ही नहीं कि विषयी अनुव्यवसायगम्य और परिणामतः विषय-रूपेण परोक्षतः गम्य होता है बल्कि इस कारण भी कि यह विषयी अतल और अपार व्यापकता वाला है : यह अपने दैहिक आयाम में जीव मात्र को और मानसिक आयाम में संस्कृति मात्र को व्याप्त करता है, और इस अथाह और अपार अर्थ की कुछेक वीचियां और विशाल तल का नगण्य भाग ही अवगमन में उपलब्ध

हो पाता है। इस प्रकार मनुष्य-विषयक कोई भी अवधारणा अनिवार्य रूप से एक खंड-दृष्टि को अखंड मानने की भ्रान्ति पर आधारित हो जाती है। वास्तव में विभिन्न संस्कृतियां मनुष्य के स्वरूप-विषयक विभिन्न दृष्टियां या विभिन्न अवधारणाएं कही जा सकती हैं, प्रत्येक व्यक्ति भी वास्तव में मानव-स्वरूप-विषयक एक अवधारणा का सफल अथवा असफल क्रियान्वयन कहा जा सकता है। अब, क्या ये सभी अवधारणाएं समानरूप से युक्त हैं, या कि कुछ अयुक्त और कुछ न्यून और कुछ अधिक युक्त हैं ? यदि सब समान रूप से युक्त हैं तब मनुष्य के स्वरूप पर विचार अनावश्यक हो जाता है, और यदि कुछ न्यून और कुछ अधिक युक्त हैं तब इनकी युक्तता के मानदंड का प्रश्न उपस्थित होता है। किन्तु मानदंड की उपलब्धि में पुनः वही समस्याएं हैं जो युक्त अवधारणा के निर्णय में हैं। वास्तव में 'मनुष्य की अवधारणा' ही 'मनुष्यता का मानदंड' होती है। यदि इस मानदंड के लिए किसी और मानदंड को खोजने चलेंगे तब पुनः उसके मानदंड की आवश्यकता होगी। किन्तु इस अवधारणा की युक्तता के निर्णय के लिए मानदंड की खोज वास्तव में ही की गई है। यह मानदंड, कुछ अपवादों को छोड़कर, 'सुख या शांति' निर्धारित किया गया है, और जिन्हें यह मानदंड युक्त प्रतीत नहीं हुआ उन्होंने मानदंड स्वातंत्र्य को माना। किन्तु सुख क्या है ? इसी प्रकार, स्वातंत्र्य क्या है ? इन प्रश्नों का कोई एक उत्तर नहीं है। तब इन उत्तरों में निर्णय कैसे किया जाय ? निर्णय के लिए साक्षी किसकी स्वीकार्य होगी ?

यद्यपि इसका प्रायः सर्वसम्मत उत्तर है कि साक्षी अन्तःकरण की प्रामाणिक होगी, किन्तु तब सब अन्तःकरणों की साक्षी प्रामाणिक नहीं मानी जाती, 'अधिकारी' की साक्षी ही प्रामाणिक मानी जाती है। अस्तित्ववादी इस अधिकार को ऑथेंटिसिटी : अपने प्रति और अपने अन्तःकरण में सच्चाई : से परिभाषित करते हैं। इसी प्रकार स्वातंत्र्य के सम्बन्ध में भी है : जितने मुंड हैं उतनी ही इसके सम्बन्ध में मतियां हैं। किन्तु इन सब में जिस एक बात पर सहमति है वह यह कि न तो सुख की यथार्थता-अयथार्थता के निर्धारण के लिए सबके अन्तःकरण की साक्षी समान रूप से प्रामाणिक मानी गई है और न स्वातंत्र्य के लिए ही, साक्षी होने के लिए अन्तःकरण को अपने साक्षी होने की योग्यता प्रमाणित करनी होती है। अन्तःकरण की यह योग्यता या अधिकार कहां से आता है ? इस सम्बन्ध में यदि विभिन्न मतों की समीक्षा करें तो हम पायेंगे कि वे सब इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि यह अधिकार अन्तःकरण के अपने तत्त्व : आत्मतत्त्व : के साथ अपने अभेद से, अव्यवहितत्व से, आता है। किन्तु तब इस बारे में कोई ऐकमत्य नहीं है कि यह अन्तःकरण क्या है और इसका अपने तत्त्व के साथ अव्यवहितत्व क्या है। किन्तु तब भी एक सीमा तक सहमति है, और वह जितनी भी है उतनी भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें महत्त्व की बात यह स्वीकृति है कि अन्तःकरण आत्मव्यवहित

हो सकता है, और सहज रूप में वह आत्मव्यवहित ही रहता है, आत्म-व्यवहितत्व प्रयत्न-साध्य है, उसके लिए 'आठों पहर जागते रहना' पड़ता है। इस अव्यवहितत्व को मलावरण का अपक्षय, उपाधियों का विवर्जन, विवेक या निर्वाण : व्यवधान-भूत संस्कारों का निर्वापन : भी कह सकते हैं : मल, उपाधि, युष्मत् या एतत्, अथवा स्कन्ध क्या है, यह एक दूसरी बात है। उदाहरण के लिए बर्ट्रंड रसल[1] वासना-विवर्जित तर्क-बुद्धि को सत्य की साक्षात्कारी मानता है और इसकी सिद्धि के लिए न केवल वैयक्तिक अहंकार को ही विवर्जनीय मानता है बल्कि मनुष्यत्वोपाधि को भी विवर्जनीय मानता है, उसके लिए मानव-केन्द्रकता (एंथ्रोपोसेंट्रिसिज़्म) सत्य के साक्षात्कार में बहुत बड़ी बाधक है। अब, इस तर्क-बुद्धि का आकार और वस्तु क्या है, यह एक दूसरी बात है। यदि प्रश्न करें कि स्वयं मनुष्य-विषयक सत्यों की परीक्षा के लिए मानदंड क्या हो, तो रसल का उत्तर होगा, तर्क-बुद्धि ही, जो तर्क-बुद्धि वैयक्तिक अहंकार और मानव-केन्द्रकता से विनिर्मुक्त हो।

रसल इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग नहीं करता, यह शब्दावली उसकी व्यवस्था में वर्जित है, किन्तु यदि हम मनुष्य को इच्छा, भय आदि से मुक्त होने को कहते हैं तो हमारे लिए यह स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है कि ये मनुष्य के स्वरूप में बाधक : अनात्म उपाधियां : हैं, मनुष्य अनात्म से उपहित है, वह अपने में इनसे व्यवहित है और इनसे मुक्ति अपेक्षित है। क्योंकि अन्यथा इच्छा, भय आदि उसी के मनस् के अंश या गुण हैं। इन्हें त्याज्य कहने का अर्थ है कि, तब भी ये किसी प्रकार उसके अंश नहीं हैं और परिणामतः ये उसके भीतर उसे अपने से बहिष्कृत, अपने से व्यवहित, रखने वाले हैं, अनात्म हैं। अब यदि हम इस स्वीकृति के तर्क का अन्त तक अनुसरण करें तो हम पायेंगे कि मनुष्य का साध्य या प्राप्य विवर्ज्य का विवर्जन, अपने से अपने व्यवधान का निवारण, अनात्म से मुक्ति है, उसी अर्थ में जिस अर्थ में यह सांख्य, या वेदान्त, या शून्यवाद को अभिमत है।

किन्तु मनुष्य को आत्मव्यवहित कहने के पीछे बहुत महत्त्वपूर्ण तात्त्विक पूर्वमान्यताएं अन्तर्निहित हैं, क्योंकि सर्वप्रथम, आत्मा का अपने से व्यवहितत्व, अथवा आत्मा का अनात्म से व्यवहितत्व, ये आत्मा की एक विशिष्ट संरचना के द्योतक हैं। दूसरे, किसी वस्तु अथवा वस्तुस्थिति का आत्मरूप में और दूसरी का अनात्म रूप में अभिधान इस मान्यता को पूर्वकल्पित करता है कि मनुष्य का कोई निश्चित स्वरूप या तत्त्व है और यह तत्त्व सिद्ध नहीं होकर साध्य है। और यदि इस साध्यता को मूलगामी अर्थ में स्वीकार किया जाय, केवल प्रकट अर्थ में नहीं, तो इसका अर्थ हो जाता है कि मनुष्य का यह तत्त्व या स्वरूप सत्कार्यात्मक नहीं है : अव्यक्त-स्थिर वस्तु का व्यक्त रूप : बल्कि आत्म-सर्जनात्मक है : असत्-

1. द्रष्टव्य—मिस्टिसिज़्म एंड लोजिक, अ. 3, ''ए फ्री मैन्स वर्शिप।''

कार्यात्मक, असत् से सत् का, अत्यन्त नवीन वस्तु का, उत्पादक। द्रष्टव्य है कि कुछ असत्कार्यवादी कारण-कार्य-सम्बन्ध मात्र को असत्कार्यात्मक, नव्योत्पत्त्यात्मक, मानते हैं। यहां हमारे लिए यह मतभेद प्रासंगिक नहीं है। इसके सम्बन्ध में यहां हम केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि कार्य की उत्पत्ति में नव्यता मानने पर भी यह नव्यता उस प्रकार मूलगामी नहीं होती जैसी सर्जन में। आक्सीजन-हाइड्रोजन से जल की और भौतिक से जैविक की उत्पत्ति में भी 'असत् से सत् की उत्पत्ति' की मौलिक नवता नहीं रहती। मूलगामी नव्योत्पत्ति नितान्त अहैतुक होती है; जो स्वातंत्र्य का लक्षण है : जो स्वातंत्र्य स्वरूप की साध्यता में पूर्वकल्पित है। यह साध्यता कर्म का लक्षण है, जो कर्म ऐसे कर्त्ता को पूर्वकल्पित करता है जो अपने भाव में अभाव की विद्यमानता और अभाव-निवारक पूर्णता की कल्पना से अन्तर्निविष्ट है। किन्तु अभाव से अत्यन्त विरहित भाव के साध्य होने के लिए कल्पना और कल्पित में, अपेक्षा और अपेक्षित में अन्तराय का, व्यवधान का, होना आवश्यक है, और साथ ही यह भी आवश्यक है कि यह अभाव वास्तविक हो और अपने को अपने में अविद्यमान भाव में घटित करे। किन्तु अविद्यमान भाव विद्यमान अभाव को अपने निवारण के लिए तभी नियुक्त कर सकता है यदि विद्यमानता और अविद्यमानता भाव की उपाधियां हों, अन्यथा भाव और अभाव दो निरपेक्ष और मौलिक कोटियां हो जायेंगी। विद्यमानता और अविद्यमानता के उपाधियां होने पर अभाव वास्तविक नहीं रहता, वह उपाधिमात्र हो जाता है और भाव अव्यवहित और अनवच्छिन्न हो जाता है। परिणामतः साध्य मनुष्य का स्वरूप या आत्मा नहीं बल्कि उपाधि का निवारण हो जाता है। किन्तु मनुष्य में अभाव वास्तविक है, वह वास्तव भावापेक्षा है, जिसका अर्थ है कि मनुष्य उपहित विद्यमानता और अनुपहित अविद्यमानता के बीच तनाव की स्थिति है। सार्त्र इसे निहिलेटिंग प्रॉजेक्ट कहता है। किन्तु यदि मनुष्य स्वरूपतः निहिलेटिंग प्रॉजेक्ट :उपलब्ध से असन्तोष और अनुपलब्ध के लिए अनन्त पर्येष्णाः है तब पर्येषणा और पर्येष्य की युक्तता का कोई आधार नहीं रहता, क्योंकि पर्येष्य पर्येषणा-सापेक्ष हो जाता है और पर्येषणा चित्त की निरालंबता और निस्स्वभावता का लक्षण। किन्तु पर्येषणा भ्रान्त तो हो सकती है, निरालम्ब नहीं। किन्तु भ्रान्तता अभ्रान्त अवलम्ब को पूर्वकल्पित करती है। अब यदि पर्येषणा निरालम्ब है : कहें, जैसे मृदु-कटु स्वादः तब वह कभी भ्रान्त नहीं हो सकती, वह भ्रान्ति-अभ्रान्ति के प्रसंग से परे होगी। यहां यह कहा जा सकता है कि पर्येषणा इसी स्वरूप की है : स्वरूपतः निस्स्वभाव और सर्जनात्मक और इस प्रकार स्वरूपतः अपने पर्येष्य की स्वयं निर्धारक। किन्तु हम प्रायः ही पर्येषणात्मक अनुसरण की व्यर्थता और इस प्रकार उसके भ्रान्त होने का अनुभव करते हैं और निर्भ्रान्त पर्येष्य में आस्था के साथ अग्रसर होते हैं। इस आस्था की साधारता के लिए न कोई निगमनात्मक तर्क-प्रमाण

हो सकता है और न ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष, किन्तु जैसा कि ऊपर के निरूपण से स्पष्ट है, पर्येषणा की संरचना और पर्येष्यों के अनुसरण में खिन्नता और सन्तोष के अनुभव पर्येषणा की साधारता, अथवा कहें प्रस्तुत और काम्य के बीच अन्तराय की औपाधिकता के द्योतक हैं।

किन्तु यहां दो कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं, प्रथम यह कि यदि अन्तराय औपाधिक है और भाव परमार्थतः अव्यवहित पूर्णता है तब भाव मानुषिक नहीं होकर अतिमानुषिक होगा, परिणामतः इसे मनुष्य का स्वरूप नहीं कह सकते। दूसरे, यदि यह भी मान लिया जाय कि मनुष्य का स्वरूप आत्म-अतिक्रमण में ही है तो स्वभावतः यह भाव या साध्य एक एवं निरपेक्ष होगा, जबकि मनुष्य प्रस्तुत रूप में एक सापेक्षभाव है: निर्धारित सत्त्व : तब यह सत्त्व इस भाव के निर्भ्रान्त स्वरूप के सम्बन्ध में निर्णय कैसे कर सकता है ? विभिन्न व्यक्ति मानव-स्वरूप की विभिन्न अवधारणाएं बनाते हैं, इनमें युक्तता का निर्णय कैसे सम्भव होगा ? मनुष्य का स्वरूप आत्म-अतिक्रामी हो सकता है, किन्तु क्या वह अपने स्वरूप की अवधारणा में अपना अतिक्रमण कर सकता है ? दूसरे शब्दों में, क्या निर्धारित-अनिर्धार्य की अवधारणा कर सकता है ?

इसका उत्तर होगा कि अनिर्धार्य अनवधार्य भी है, इसलिए इसकी निर्भ्रान्त अवधारणा का अर्थ अनिर्धार्य का अवधारण नहीं हो सकता, क्योंकि यह वदतोव्याघात है; इसका अर्थ केवल अपने स्वरूप की अनिवार्य अनिर्धार्यता और प्राप्त निर्धारित स्थिति की औपाधिकता का बोध है। किन्तु अधिकांश संस्कृतियां और अधिकांश विचारक यह नहीं देख पाये, यह केवल कुछ भारतीय दर्शन और पश्चिम में हेगल ही देख पाये। उदाहरणतः ईश्वर के धार्मिक प्रत्यय को लें। इसमें मनुष्य के भाव की आत्मव्यवहितता और अव्यवहित भाव की अपेक्षा का बोध स्पष्ट है, किन्तु आत्मव्यवहित भाव के अव्यवहित भाव में प्रतिष्ठित होने का बोध इसमें नहीं है, मनुष्य की औपाधिकता इसमें पारमार्थिक रूप में स्वीकृत है। वह और उसका संसार दोनों ईश्वर द्वारा पृथक्-पृथक् सृष्ट हैं, परिणामतः दोनों परस्पर के लिए ऐसे व्यावर्तक हैं जो परस्पर के लिए अनिवारणीय हैं। दूसरी ओर, दोनों आगन्तुक हैं, क्योंकि ईश्वर की निरपेक्ष पूर्णता में दोनों का अभाव और अन्यथाभाव दोनों कल्पनीय हैं। यदि जो कुछ है और हो सकता है सबको ईश्वर की पूर्णता में निगमनात्मक रूप में अनिवार्य मानें तब मनुष्य और संसार जैसे हैं वैसे, अपनी औपाधिकता में भी, अनिवार्य हो जायेंगे और मनुष्य की मुक्ति की, अथवा संशोधन की भी, कोई संभावना नहीं रहेगी, यदि इसे आगन्तुक मानें, तब मनुष्य की निरीहता का कोई अन्त नहीं रहेगा। इस प्रकार की सब कठिनाइयां ईश्वर-विषयक मान्यता में हैं। ईश्वरवाद वास्तव में मनुष्य के लिए औपाधिकता से मुक्ति की संभावना को, जो उसकी प्रत्यङ्मुख स्वरूपता में उसे उपलभ्य है, समाप्त कर देता है।

किन्तु कहा जा सकता है कि निरुपाधिकता का प्रत्यय भी उसे स्वरूप-विहीन बना देता है, क्योंकि निरुपाधिक चैतन्य : ब्रह्म, बुद्धत्व, अथवा निरपेक्ष प्रत्यय : मनुष्यत्व से उतने ही विलग हैं जितने पशु से, या भौतिक प्रकृति से, क्योंकि मनुष्यत्व अपने अस्तित्व, अपनी सीमाओं या व्यावृत्तियों से अनिवार्य-रूपेण परिभाषित होता है। मनुष्य का स्वरूप ब्रह्म कहना वैसा ही है जैसा चित्र का स्वरूप आकृति-प्रत्यय-हीनता को कहना। यह स्थिति सबसे अधिक खेदजनक है, वैसी ही जैसी मृत्यु को मानव-अस्तित्व का अन्त कहने में है : इस भेद के साथ कि मृत्यु अनिवार्य है और ब्राह्म स्थिति स्वयं के प्रयत्न से साध्य। किन्तु दुर्घटना से मृत्यु और आत्महत्या से मृत्यु में इस दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है कि दोनों में अस्तित्व की पूर्ण समाप्ति है। इसी से ईश्वरवाद, जिसमें मानव-व्यष्टित्व की मौलिकता की स्वीकृति है, अधिक युक्त और अधिक अभीष्ट हो जाता है।

वास्तव में मोक्ष की सभी भारतीय अवधारणाओं पर यह आरोप उस सीमा तक सही है जहां तक ये अवधारणाएं ब्रह्म को उपादान के रूप में कल्पित करती हैं : नाम-रूप को बुद्धि-विकल्प और ब्रह्म को उपादान कारण कहने में इसी प्रकार की अवधारणा प्रतीत होती है। वास्तव में 'योग द्वारा चित्त-वृत्तियों के उपशमन' के प्रयत्न में इस अवधारणा के क्रियान्वयन का : निराकारता में लय का : प्रयत्न ही दिखायी देता है। किन्तु हमारे विचार में यह भारतीय दृष्टि भ्रामक है। ब्राह्म स्थिति या मोक्ष का उस प्रकार उपादान कारण के रूप में अवधारण जिस प्रकार आभूषणों में स्वर्ण का, इस सबके वास्तविक अर्थ को समझने की असामर्थ्य का द्योतक है। जैसाकि हमने पीछे देखा, सब अस्तित्व प्रत्ययमूलक है और इन प्रत्ययों के आरोहात्मक और अवरोहात्मक दो आयाम हैं। उदाहरणतः पृथिवीत्व मृद्, प्रस्तर, धातु आदि में अवरोही है और भूत तत्त्व में आरोही, इसी प्रकार घटत्व घटों में अवरोही है और भांडत्व में आरोही। प्रत्ययों का आरोह-क्रम अनिर्धार्य में पर्यवसायी होता है। अब सत्ता को उपादान-कारण के रूप में देखने वालों के अनुसार उच्चतर प्रत्यय निम्नतर का उपादान कारण होगा और उच्चतम स्थिति मूल उपादान। किन्तु वास्तव में उनके अनुसार सब निर्धारण समानरूप से नामरूप हैं, उपादान केवल अनिर्धार्य है। यहां इसी निदर्श के अनुसार देखने वाले दूसरे मतावलंबियों ने आपत्ति उठायी है कि तब नाम-रूप का अधिष्ठान क्या है ? उत्तर दिया गया है, माया-अविद्या। किन्तु तब अविद्या को नाम-रूप का अनन्तर्भाव्य : अनपचेय (इरिड्यूसीबल) : उपादान मानना होगा, ऐसा अनिर्धार्य उपादान जो नाम-रूप में निर्धार्य हो सके। परिणामतः अविद्या एक दूसरा और ब्रह्म की सत्ता से असम्बद्ध उपादान हो जायगी। स्पष्टतः यह स्थिति किसी को भी अभीष्ट नहीं है।

इस प्रकार की भीतरी तार्किक कठिनाइयों के अतिरिक्त यह निदर्श मूलरूप

से ही मानवीय वस्तुस्थिति के विपरीत है, क्योंकि सब प्रत्यय अपने प्राकृतिक व्यापार में अवरोहात्मक हैं : पशुत्व गोत्व में और गोत्व गायों में अवतरित होता है, गाय गोत्व में और गोत्व पशुत्व में उत्तीर्ण नहीं होते। किन्तु मानव-चेतना में प्रत्यय के दोनों आयाम प्रकट होते हैं क्योंकि उसमें चेतना के पराङ्मुख और प्रत्यङ्मुख दोनों आयाम हैं। चेतना के ये दोनों आयाम मनुष्य में युगपद् रहते हैं, उसके लिए यह संभव नहीं है कि वह एक आयाम से पूर्णतः मुक्त हो सके : न सहज रूप में और न प्रयत्न-पूर्वक, केवल उसमें एक आयाम दूसरे की अपेक्षा क्षीण रह सकता है। भारतीय साधकों ने पराङ्मुख आयाम को पूर्णतः निरस्त करने का प्रयत्न किया है और दार्शनिकों ने इस पूर्ण निरास की संभावना स्वीकार की है। किन्तु ऐसा संभव नहीं है। पराङ्मुखता के आयाम को प्रयत्न के साथ वस्तु-शून्य : निस्सत्त्व और स्थगितः तो किया जा सकता है, जैसे जगत् के अभाव, अन्यथाभाव, निस्सारता आदि के सैद्धान्तिक और मूल्यात्मक विचार में, किंतु चेतना को पराङ्मुखता के आकार से निवृत्त नहीं किया जा सकता। किन्तु मनुष्य का विच्छेदक गुण उसमें चित्त के प्रत्यङ्मुख आयाम की विद्यमानता है जो प्रत्ययों के ऊर्ध्वोन्मुख आयाम को प्रकाशित करता है। चित्त का यह गुण मनुष्य के लिए अपने प्रत्यय की भी ऊर्ध्वोन्मुखता प्रकट करता है। किन्तु मानव-प्रत्यय की यह ऊर्ध्वरूपता उपर्युक्त ऊर्ध्वरूपता या आरोहात्मकता से सर्वथा भिन्न प्रकार की है। वास्तव में चित्त के इतिहास में प्रत्यङ्मुखता की यह अभिव्यक्ति एक पूर्णतः मूलगामी घटना है : इस इतिहास को प्राकृतिक दृष्टि से देखें या तार्किक दृष्टि से। इसके साथ प्रत्ययों का आरोहात्मक आयाम ही व्यक्त नहीं हुआ, मूल्यात्मक प्रत्यय भी प्रकट या आविर्भूत हुए जिनमें आद्यतम और आधार-प्रत्यय 'अस्मिता' है। 'मैं हूं' यह अस्तित्व की ही आद्य और अधिष्ठानभूत घोषणा नहीं है बल्कि अधिक मौलिक रूप से यह अपनी भाव्यता की भी घोषणा है : आद्य-अस्तित्व के तत्त्व से उपलब्ध-अस्तित्व-के-तत्त्व के अन्तराय की घोषणा। इसी में मनुष्य के स्वरूप-विषयक प्रश्न की सार्थकता निहित है। यदि मनुष्य को एक प्राकृतिक कोटि (नेचुरल कैटेगरी) के रूप में ही परिभाषित करना हो, जैसे 'मनुष्य एक बुद्धि-युक्त प्राणी है' में, तो इस प्रश्न के उत्तर में कोई कठिनाई नहीं है, इसके वर्गीकरण के साथ इसका विच्छेदक गुण निश्चित करने की बात है जो तथ्य-परक खोज की अपेक्षा करता है; तब मनुष्य-प्रत्यय हमारी अवधारणा के लिए निरन्तर अथाह और अपार नहीं बना रह सकता। किन्तु मनुष्य इस प्रकार का प्रत्यय नहीं है, यह आत्मविदित अविद्यमानता से अनुप्रविष्ट विद्यमानता : भाव्य-भाव अथवा उपहित अव्यवहितत्व से अनुप्रविष्ट आत्मविदित व्यवहितत्व : उपहित पूर्णभाव : है। दूसरे शब्दों में, यह मूल्य-स्वरूप है।

यहां आपत्ति की जा सकती है कि मनुष्य को मोक्ष, निर्वाण या बुद्धत्व से

परिभाषित करना एक पक्ष : नैतिक-धार्मिक पक्ष : को समग्रव्यापी बनाना है। मूल्यों के अनेक आयाम हैं : दैहिक, सौन्दर्यात्मक, शिवात्मक, सत्यात्मक और कुछ अन्य प्रकार के भी। व्यक्ति और संस्कृतियां इनमें से किसी भी एक के अनुसार अपनी आदर्श प्रतिमा का आक्षेप करती हैं और इनमें से कोई भी एक प्रतिमा दूसरी से अधिक प्रामाणिक नहीं कही जा सकती, एकमात्र प्रामाणिक होने की तो बात ही क्या है। गीता में ज्ञान-योग, कर्म-योग और भक्ति-योग वैकल्पिक साधना और वैकल्पिक प्रतिमान-विषयक इसी बोध को प्रदर्शित करते हैं।

यह आपत्ति केवल अंशतः ही सही है, केवल इस सीमा तक कि प्रत्यङ्मुख चेतना का गन्तव्य अनिर्धार्य होने से उसके मार्ग का निर्धारण किसी भी प्रकार से हो सकता है। किन्तु किसी भी निर्धारण के लिए यह अनिवार्य है कि उसे अनिर्धार्य में पर्यवसायी देखा जाय। इसमें भ्रांति सदैव संभव है, और वास्तव में जैसा कि हम पीछे संकेत कर आये हैं, इसमें अधिकांशतः भ्रांति ही हुई है और मोक्ष तथा निर्वाण की अवधारणा ही इस गन्तव्य की और मूल्यान्वेषण के शुद्ध अर्थ की अभिज्ञता को प्रकट करती है। उदाहरणतः 'निर्वाण' केवल निर्धारणों की आगन्तुकता का, अथवा कहें जगद्भाव की औपाधिकता अथवा व्यवधानात्मकता का, और निर्धारणों से अनुपहित परमार्थ की आत्मअभिन्नता अथवा अव्यवहितता का कथन करता है, वह अनिर्धार्य का निर्धारण नहीं करता। इसमें दोष केवल यह है कि यह अनिर्धार्य को निर्धारणों से पृथक् कर उसी पर अपने को केन्द्रित कर देता है, यह निर्धारणों को उसमें उपसंहृत नहीं करता। निर्धारणों का यह उपसंहरण मूल्यान्वेषण के स्वरूप के सम्यक् ग्रहण के लिए आवश्यक है।

जैसाकि हमने पीछे देखा, इस उपसंहरण के बिना निर्धारित एक पृथक् और स्वतंत्र सत्ता प्राप्त कर लेंगे, जो कि बौद्धों को अभीष्ट नहीं है। निर्धारितों को असत् कह देने से वे असत् नहीं हो जाते, उनकी असत्ता केवल मूल्यात्मक मानी जा सकती है : इस अर्थ में कि औपाधिक और आगन्तुक इस रूप में नहीं देखा जाने पर निरुपाधिक सत् का आवरक और इस प्रकार अनेष्य हो जाता है : वास्तविक नहीं, क्योंकि वस्तुतः व्यवहितभाव की व्यवहितरूप में वस्तुता तो है ही, इसके अतिरिक्त अव्यवहित भाव व्यवहित के उपसंहरण के बिना उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता। अव्यवहित में व्यवहित का निषेध उसके असत्करण के रूप में नहीं बल्कि केवल व्यवहित के रूप में : सापेक्ष सत् के रूप में : होता है। उदाहरणतः बौद्धों द्वारा निर्वाण का निरूपण : इसकी अनिरूप्यता का कथन : 'अनभिलाप्य' पद से किया गया है। किन्तु 'अनभिलाप्य' में अभिलाप की सामर्थ्य के अतिक्रमण का कथन है, अभिलाप-असमर्थ चित्त : जैसे पाशव चित्त : के लिए ग्राह्य का कथन नहीं। दिङ्नाग और कांट की स्वलक्षण वस्तु की अवधारणाओं में भी यह दृष्टि-दोष है : दोनों के अनुसार यह वस्तु विकल्प-कोटियों (केटेगरीज़ ऑफ अंडरस्टैंडिंग)

का अतिक्रमण करती है, किन्तु उनके कथनानुसार यह अतिक्रमण कोटियों के विवर्जनपूर्वक है, उनके उपसंहरण-पूर्वक नहीं। दिङ्नाग में तो विकल्प-कोटियां स्पष्टत: अविद्यामूलक हैं, किन्तु कांट में भी स्वलक्षण वस्तु की अवगम्यता असंस्कृत चित्त के लिए ही है : केवल शुद्ध संवेद ही स्वलक्षण वस्तु-ग्राही है : अतिमनस् के लिए नहीं। किन्तु वास्तव में यदि स्वलक्षण वस्तु को विकल्प-रहित चित्त का विषय ही माना जाता है तो यह चित्त विकल्प की निर्धारणात्मकता, खंड-ग्राहकता के ज्ञान के द्वारा इनसे मुक्त होगा, विकल्प से अवर स्तर में अवस्थिति से नहीं। यह उपसंहरणात्मक अतिक्रमण अनिर्धार्य को उस वामनावतार के समान बना देता है जो अपने तीन पदों में तीनों लोकों को नापते हुए उसका अतिक्रमण करता है। यह दृष्टि मनुष्य के इतिहास और वैयक्तिक तथा सांस्कृतिक वैविध्य को भी स्थान देती है : मनुष्य का इतिहास वास्तव : सदसद्, आत्म-अनात्म से संश्लिप्ट : मनुष्य की अपने अश्लिष्ट तथा शुद्ध तत्त्व की ओर क्रमिक यात्रा है और वैविध्य वास्तव-संश्लिष्ट मनुष्य द्वारा अपने अश्लिष्ट तत्त्व के अवधारण के प्रयत्न का परिणाम। किन्तु जैसा कि हमने पीछे देखा, यह अश्लिष्ट तत्त्व अपने प्रथम अवधारण : अस्मिताबोध : में ही आत्म-इतर : युष्मदस्मद् : के रूप में संश्लिष्ट हो जाता है और इसी संश्लेष में वास्तव व्यक्ति का आविर्भाव होता है। वास्तव व्यक्ति युगपद्रूप से आत्म-साम्मुख्य और पर-साम्मुख्य के बीच अपनी प्रतिमा या प्रतिमान के आक्षेप का फल होता है। व्यक्ति को 'प्रतिमा के आक्षेप का फल' कहने का तात्पर्य है कि व्यक्ति की सत्ता मूल्यात्मक है, दूसरे शब्दों में, वह निरन्तर अपने प्राप्त रूप का निषेध और आदर्श-पर्येष्य रूप का आक्षेप है, वह आदर्श से परिभाषित अस्तित्व है। प्रतिमा की यह प्रतिष्ठापना या आक्षेप एक प्रत्यय के रूप में होता है जिसके आधार पर व्यक्ति अपने को संकलित और गठित करता है। व्यक्ति इस आक्षेप का, इस संकलन और गठन का, कर्त्ता और प्रतिफल दोनों होता है, जिसका अर्थ है कि वह भाव और भाव्य के बीच वास्तव तनाव से परिभाषित होता है। किन्तु यह प्रतिमा स्वत:प्रमाण नहीं कही जा सकती, क्योंकि इसका आक्षेप स्वयं व्यवहित चित्त द्वारा अपने अव्यवहित स्वरूप की ऐसी झलक के आधार पर होता है जो झलक युष्मदस्मद् के यौगपद्य से परिभाषित निर्धारित चित्त द्वारा ग्रहण होती है और परिणामत: जो इस चित्त के लिए अनिवार्य रूप से परोक्ष होती है। इस प्रकार, जबकि मानव-प्रतिमा व्यक्ति को आधार देती है और अपने अस्तित्व की प्रामाणिकता की परख के लिए मानदंड देती है, यह स्वयं प्रमाणापेक्षी होती है और इसके अप्रामाणिक होने पर व्यक्ति व्यक्तिरूपेण अव्यवस्थित और बिखरा हुआ, तथा कुशाग्र बुद्धि एवं आत्मालोचित होने पर भी आधार-रहित होता है। इस प्रकार का व्यक्तित्व शक्ति, इन्द्रिय-सुख आदि की साधना से लक्षित होता है। इसमें व्यक्ति ही नहीं, संस्कृतियां भी भ्रान्त हो सकती

हैं। व्यक्तियों में उदाहरण के रूप में नीत्शे[2] और स्पैंग्लर[3] का उल्लेख किया जा सकता है और संस्कृतियों में विशेषत: आधुनिक यूरोप और अमरीका का, जिनकी संस्कृति को सोरोकिन[4] ने ऐन्द्रिक (सैंसेट) विशेषण दिया है। इस दृष्टि की भ्रान्तता व्यवहार में असंयम और मूलगामी असन्तुलन से लक्षित होती है और सिद्धान्त में इस बात से कि इसमें साध्य के रूप में चित्त की मौलिक अव्यवहितता अभीप्स्य नहीं होकर युष्मद्मूलक युष्मदस्मद् : आत्मबहिष्कृत देहेन्द्रियमूलक आत्म: ही साध्य-रूपेण कल्पित होता है।

यहां इन्द्रियार्थवादी (एम्पिरिसिस्ट) इस अव्यवहितता को कल्पनामात्र कहने पर आपत्ति कर सकते हैं, क्योंकि उनके अनुसार सत् केवल इन्द्रियार्थ ही हो सकते हैं। यहां इस आपत्ति की अयुक्तता के सम्बन्ध में कुछ कहना अनावश्यक है, क्योंकि इसके सम्बन्ध में हम पीछे अनेक स्थलों पर चर्चा कर आये हैं। किन्तु यहां कुछ भारतीय अध्यात्मवादियों के लिए यह स्पष्टीकरण पुन: आवश्यक है कि अव्यवहितत्व चित् का अर्थ-राहित्य और अनिर्धार्यता चित् का आकार-राहित्य नहीं है, बल्कि यह अर्थों और आकारों का अपने अतल और अपार आधार में उन्मीलन है। उदाहरणत: ध्वनि इन्द्रियार्थ की सत्ता है और उसकी प्रियता-अप्रियता उसका मूल्य, किन्तु संगीत चित्त के अव्यवहितत्व में अर्थों का ध्वनि के आलंबन से उन्मीलन है, जो अर्थ सत्ता और मूल्य में अगाध और अपार हैं। जैसा कि स्पष्ट है, यह अव्यवहितत्व केवल सापेक्ष चित्त का है, निरपेक्ष चित्त का नहीं जो ब्राह्म स्थिति है, मानवीय स्थिति नही। किन्तु मनुष्य का तत्त्व यह ब्राह्म स्थिति ही है जो उसकी सापेक्षता को निरपेक्षता में, आंशिक अव्यवहितत्व को निरंश-अखंड अव्यवहितत्व में, मितार्थ की अतलता-अपारता को अमितार्थ की अतलता-अपारता में धारण करती है।

यह प्रतिपादन उन लोगों को कल्पनामात्र प्रतीत होगा जो 'धारण' का निदर्श 'पृथ्वी द्वारा घट-धारण' में ही देख सकते हैं। स्पष्टत: अनिर्धार्य में निर्धारित का, अखंड अव्यवहितत्व में खंड अव्यवहितत्व और व्यवहितत्व का धारण घट-भूतल के समान नहीं होता, यह व्यापक-व्याप्य के अर्थ में और उत्कर्ष के तारतम्य के अर्थ में होता है। अब, ब्रह्म या निर्वाण को आधार के इस अर्थ में देखने पर मनुष्य के वे सब प्रयत्न उसके अपने तत्त्व के अन्वेषणपरक हो जाते हैं जिनमें वह अन्तरोन्मुख प्रवर्तित दिखायी देता है। सामाजिक स्तर पर संस्कृतियां इस अन्वेषण को अधिक निश्चित और स्थिर रूप में प्रदर्शित करती हैं, क्योंकि विभिन्न संस्कृतियों के उत्थान-पतन के अन्तराल में से मनुष्य सामान्यत: भाषा, विज्ञान, कला आदि के माध्यमों से क्रमश: अधिकाधिक अर्थों के आन्तर वैभव के उन्मीलन में अग्रसर दिखायी देता है।

2. नीत्शे—ह्यूमन, आल टू ह्यूमन में शक्ति-पर्येषणा (विल टु पावर) की वकालत द्रष्टव्य।
3. स्पैंग्लर—मैन एंड टैक्नीक्स पुस्तक द्रष्टव्य।
4. सोरोकिन—सोश्योलोजीकल थ्योरीज ऑफ टू डे।

12

संस्कृति-तत्त्व

बिंग-त्सि चान के अनुसार, एक चीनी के लिए "मनुष्य सब वस्तुओं का मान-दंड है। कन्फ्यूशियस का अनुसरण करते हुए वह :चीनी व्यक्ति: यह मानता है कि मनुष्य सत्य को महान बनाता है, सत्य मनुष्य को महान नहीं बनाता।"[1] इसी प्रकार गैस्सेट के अनुसार, "मानवीय जीवन एक विचित्र सत्ता है, जिसके सम्बन्ध में सबसे आधारभूत बात यह है कि यह मौलिक यथार्थ है, इस अर्थ में कि अन्य सब सत्ताएं इसी से अपना अर्थ प्राप्त करती हैं।"[2] इसके विपरीत पिछले अध्याय में हमने देखा कि मनुष्य का तत्त्व मनुष्य से उत्तर है, मनुष्य अपने में पर्याप्त अर्थ नहीं है। यद्यपि इससे भिन्न अर्थ में, किन्तु तब भी इसकी पुष्टि में और अपने उपर्युद्धृत कथन के विपरीत, स्वयं गैस्सेट ही कहता है कि "जीवन हमें प्रदत्त होता है, इसे हम स्वयं को प्रदान नहीं करते, हम अपने को इसमें पाते हैं—अकस्मात्, और यह बिना जाने कि कैसे।"[3] अब, यदि हम अपने सर्जक स्वयं नहीं हैं तब, किसी अन्य से सृष्ट नहीं होने पर भी, हम अपने में पर्याप्त नहीं हो सकते। अस्तित्ववादी इसका उत्तर देते हैं कि, यद्यपि हम अस्तित्व में आत्मकृत नहीं हैं किन्तु अपने तत्त्व में हम आत्मकृत ही हैं, अस्तित्व में हम किसी तत्त्व के बिना ही : आकस्मिक और अपूर्व : आविर्भूत होते हैं, किन्तु यह तथ्य तत्त्व में हमें आत्म-कृत: आत्म-सर्जक: बनाता है। किन्तु उनके इस मत का कोई आधार नहीं है, न कोई स्पष्ट अर्थ ही है। क्योंकि सर्वप्रथम, 'यदि हम अस्तित्व में आत्म-कृत नहीं हैं तो पर-कृत भी नहीं हैं, केवल आकस्मिक और अपूर्व हैं' इस धारणा के लिए अस्तित्ववादी के पास क्या आधार है? हम अपने अस्तित्व में पूर्णतः वैश्व नियमों से निर्धारित भी हो सकते हैं, जिस प्रकार भौतिक और जैविक अस्तित्व हैं। दूसरे, यदि हम अस्तित्व में आकस्मिक हैं भी तो भी इससे हम तत्त्व में स्वतः आत्म-कृत नहीं हो जाते, क्योंकि अस्तित्व में अन्य जीव भी हमारे ही समान हैं, किन्तु वे तत्त्व में आत्म-कृत नहीं हैं। यदि कहें कि मनुष्य की आत्म-सर्जकता का स्रोत उसकी आत्म-वेदिता

1. सर्वेपल्लि राधाकृष्णन् तथा पी. टी. राजू (सं०) दि कांसेप्ट आफ मैन में "दि कांसेप्ट आफ मैन इन चाइनीज़ थाट" लेख, पृ० 152.
2. जोसेफ ओर्टेगा वाई. गैस्सेट--हिस्ट्री ऐज ए सिस्टम, पृ० 165.
3. वहीं।

:आत्म-चेतनता: में है, जिससे पशु वंचित है, तो आत्म-वेदिता मनुष्य का पर-कृत तत्त्व हो जाती है, क्योंकि अस्तित्व के समान यह भी मनुष्य को पूर्व प्रदत्त है, आत्म-प्रदत्त नहीं। यदि यह भी कहें कि आत्म-वेदिता ऐसा तत्त्व है जो मनुष्य को सब पूर्व-निर्धारितताओं से मुक्त कर अपने में प्रतिष्ठा देता है, तो भी यह द्रष्टव्य है कि उसका यह तत्त्व व्यक्तिमूलक है या कि जाति-मूलक? अस्तित्ववादी इसे व्यक्ति-मूलक ही मानते हैं, अन्य लोग प्राय: ही इसके सम्बन्ध में किसी स्पष्ट निर्णय से बचते हैं। किन्तु उनकी ओर से कुछ ऐसी बात कही जा सकती है कि, यह तत्त्व अपने को व्यक्ति-मनस् में ही घटित करता है, और जिस भी व्यक्ति में यह घटित होता है वही मनुष्य कहा जा सकता है। किन्तु आत्म-वेदिता को व्यक्तिमूलक कहने के लिए क्या आधार है? व्यक्ति का क्या अर्थ है?

द्रष्टव्य है कि 'व्यक्ति' पद जाति पद का अपेक्षार्थक नहीं है बल्कि 'समाज' पद का अपेक्षार्थक है, 'जाति' का अपेक्षार्थक 'व्यष्टि' है। इनमें अन्तर यह है कि जाति जबकि व्यष्टि की अतिदैहिक-अतिचैतसिक धारयित्री है, समाज और व्यक्ति दोनों चैतसिक सत्ताएं हैं और, हम कहना चाहेंगे कि, इनमें से कोई दूसरे की धारक नहीं है। इस प्रकार व्यक्ति जब कि व्यष्टि रूप में अपनी जाति : मानव-जाति : में धारित है, वह व्यक्ति रूप में उससे स्वतंत्र है। उदाहरणत: व्यक्ति की दैहिक और चैतसिक रचना जबकि जातिगत है : हम समान रूप से पुच्छ-विषाण-हीन हैं और विषय-ग्रहण आदि समान आकारों में करते हैं : प्रत्येक व्यक्ति अपनी अस्मिता और अपनी नेयार्थता के आक्षेप[4] में, अपने तात्पर्य और अपनी प्रतिमा के अवधारण में, विशिष्ट और स्वतंत्र होता है। किन्तु उसकी यह विशिष्टता और स्वतंत्रता किसमें हैं, आक्षेप में या प्रतिमा में? द्रष्टव्य है कि नेयार्थ या प्रतिमा प्राय: ही व्यक्ति अपनी संस्कृति से प्राप्त करता है और प्राय: ही इसके संबंध में अस्पष्ट और अनिश्चित होता है, स्वयं उसकी अस्मिता भी इतर की सापेक्षता में आक्षिप्त और स्फुट होती है। इस प्रकार उसका वैशिष्ट्य और स्वातंत्र्य आक्षेप और अवधारण में होता है। इस प्रकार व्यक्ति अपने आक्षेप का कर्म है, अपने स्वरूप का संकल्प। तब समाज किसमें आधृत है? अपने संकल्प में, व्यक्ति में, या कि मानव-जाति में?

अधिकांशत: समाज को व्यक्ति-समुदाय के रूप में देखा जाता है, इस सामुदायिकता का क्या तत्त्व है, यह प्राय: स्पष्ट रूप में देखने का प्रयत्न नहीं किया जाता। उदाहरणत: एक ओर भेड़ियों या हरिणों का झुंड है और दूसरी ओर मधुमक्खियों का छत्ता, दोनों में दैहिक गठन का एकक (यूनिट) और सामुदायिक गठन का एकक भिन्न-भिन्न हैं : दैहिक गठन के एकक जबकि व्यष्टि-भेड़िया और व्यष्टि-मधुमक्खी हैं, सामुदायिक गठन के एकक झुंड और छत्ता। किन्तु ये दोनों पत्थरों के

4. द्रष्टव्य यशदेव शल्य—विषय और आत्म, अध्याय 3,5.

समूह से भिन्न हैं, ये जैविक गठन हैं और परिणामतः दैहिक गठनों से पृथक् अस्तित्व रखते हैं। किन्तु तब भी हरिण-समुदाय और मधुमक्खी-छत्ते में मौलिक अंतर है : हरिण-समुदाय जबकि व्यष्टियों का व्यवस्था-रहित और आगन्तुक समूहन है जो संभवतः पारस्परिक निकटता में व्यष्टि को रक्षा का आश्वासन देता है, मधुमक्खी-छत्ता व्यवस्थित गठन है, जो गठन दैहिक गठन से इस बात में भिन्न है कि दैहिक गठन भौतिक-रासायनिक उपादान में जैविक व्यापार है और छत्ता चैत्त उपादान में जैविक व्यापार। यहां यह स्पष्टीकरण अविलम्ब अपेक्षित है कि छत्ता स्वयं में चैत्त व्यापार नहीं है, जो व्यापार निम्न स्तरों पर आवेगात्मक प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट होता है और उन्नत स्तरों पर बौद्धिक चिन्तन में, यह जैव सृष्टि के रूप में व्यक्त जैव क्रिया द्वारा उसी प्रकार विशिष्ट आयोजन है जिस प्रकार व्यष्टि-देह विशिष्ट आयोजन है, इनमें केवल उपादन-भेद है। किन्तु मानव-समाज इस प्रकार का गठन नहीं है, न वह हरिण-समुदाय के प्रकार का आवेगात्मक-आश्वासनपरक परस्पर निकटता में विचरण मात्र ही है। वह इन दोनों से मौलिक रूप में भिन्न है। समाज मानव-व्यक्ति के समान ही चैत्त सत्ता है, यद्यपि, जैसाकि हम आगे देखेंगे, इसके सूत्र अतिचैतसिक चित्त : जाति-चित्तः में भी दृष्टिगत होते हैं। मानव-समाज को चैत्त सत्ता कहने का अर्थ है कि इसका आविर्भाव और विद्यमानता उसी प्रकार संकल्पमूलक हैं जिस प्रकार व्यक्तित्व का आविर्भाव और विद्यमानता हैं। यद्यपि छत्ते के समान यह व्यवस्थात्मक भी है, किन्तु इस व्यवस्था का मूल जैव नहीं होकर बौद्धिक चित्त है। इसे संकल्प-मूलक कहने का यह अर्थ नहीं है कि किसी समय कुछ व्यक्तियों ने सम्मिलित होकर विचारपूर्वक इसकी स्थापना की थी[5]; यदि ऐसा होता तो समाज व्यक्ति-समुदाय ही होता; इसे संकल्प-मूलक कहने का अर्थ है कि यह अपने निर्माण में अतिचित्तमूलक नहीं है और इसकी विद्यमानता और सुचारुता निरन्तर प्रयत्नापेक्षी है, जिसके न्यून होने पर यह शिथिल या नष्ट भी हो जाता है। किन्तु तब इस संकल्प का अधिष्ठान कहां है ? किसी चित्त-वृत्ति का अधिष्ठान किसी अतिवैयक्तिक चित्त में देखना अधिकांश लोगों की कल्पना के बाहर है, यह उनके लिए सामान्य की सत्ता से भी अधिक अकल्पनीय है। यहां उदाहरणार्थ हम क्रोबर तथा प्रो. गोविन्दचन्द्र पांडे के मत उद्धृत करेंगे। क्रोबर के अनुसार : "संस्कृति का अधिष्ठान (लोकस) या निवास (रेजिडेंस) स्पष्टतः मानव-व्यक्तियों में है, जिनके व्यवहार से (जिसमें संस्कृति-भिन्न तत्त्व भी रहते हैं) संस्कृति अनुमित और कल्पित की जाती है, अर्थात् उद्-

5. समाज विषयक करार-सिद्धान्त (कांट्रेक्ट-थीसिस) समाज की उत्पत्ति इसी प्रकार देखता है, यद्यपि इस करार को यह वास्तविक रूप में नहीं देख कर केवल सैद्धान्तिक रूप में ही देखता है। द्रष्टव्य : जोहन राल्स-ए थ्योरी ऑफ जस्टिस, अध्याय 1।

ग्रहण द्वारा प्रतिपादित की जाती है।[6] द्रष्टव्य है कि इसी क्रोबर के अनुसार इतिहास या समाजशास्त्र में हम "वस्तुस्थिति की व्याख्या के लिए दो में से किसी एक विधि का सहारा लेते हैं, या तो हम विशिष्ट घटनाओं के आधार पर संस्कृति को निगमित करते हैं अथवा संस्कृति के आधार पर घटनाओं को।"[7] और उसके अनुसार इनमें से दूसरी विधि ही युक्त है। इस प्रकार उसने संस्कृति को एक ठोस अस्तित्व स्वीकार कर उसके आधार पर विभिन्न संस्कृतियों में उत्कृष्ट प्रतिभाओं के आविर्भाव को वैयक्तिक उपलब्धियों के रूप में देखने के बजाय संस्कृति के इतिहास में घटनाएं सिद्ध करने के लिए इस विशाल ग्रंथ की रचना की है। इसी प्रकार डॉ॰ गोविन्दचंद्र पांडे के अनुसार "संस्कृति का उद्‌भव व्यष्टि-मानस् (इंडिविडुअल साइके) में प्रातिभ साक्षात्कार के रूप में होता है और यह साक्षात्कार प्रतीक के रूप में सामाजिक परंपरा में प्रवेश करता है।"[8] किन्तु तब प्रश्न होगा, यहां 'प्रतीक' और 'सामाजिक परंपरा' पदों की वाच्य वस्तु क्या है? स्वभावतः इसका उत्तर होना चाहिए 'अनेक व्यक्तियों द्वारा समान अर्थ से उपचरित भौतिक वस्तु या आकृति प्रतीक हैं और देश और काल के आयाम में सम्बद्ध अनेक व्यक्ति समाज।' किन्तु इस प्रकार समाज इतर-व्यावर्तक व्यक्तियों का समूह मात्र रह जाता है और संस्कृति एक व्यक्ति के मन में घटित घटना की अनेक व्यक्तियों के मन में सांयोगिक अनुवृत्ति। निश्चय ही पांडे जी को यह अभीष्ट नहीं हो सकता। किन्तु यदि 'प्रतीक' और 'सामाजिक परंपरा' को किसी प्रकार का अतिवैयक्तिक अस्तित्व देना अभीष्ट हो तो संस्कृति को वह देना अधिक उपयुक्त है। यहां इस कठिनाई के अतिरिक्त मनस् को व्यक्तिमूलक कहने में यह कठिनाई है कि इससे व्यक्ति मनस् से प्रथम हो जाता है और मनस् से स्वतंत्र परिभाषा की अपेक्षा करता है। इस प्रकार इस परिभाषा में अंततः व्यक्ति को इन्द्रियगम्य विषय (देह) के रूप में देखने की एक सहज, अनालोचित धारणा कार्य कर रही है। किन्तु यह धारणा युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि चेतन सत्त्व स्वरूपतः विषयी है और उस की देह भी इसकी अपवाद नहीं है। अवश्य देह के सम्बन्ध में हमारी प्रथम और सहज धारणा इन्द्रियगोचर विषय के रूप में ही होती है, वह चाहे हमारी अपनी देह ही क्यों नहीं हो, दूसरे की देह की तो फिर बात ही क्या है! किन्तु यह वास्तव में आत्मविदित चेतना की एक अत्यन्त जटिल निष्पत्ति का परिणाम है कि हम अपनी अस्मिता का, अपनी विषयिता का, विषकरण कर पाते हैं और उस विषय से अपने को अभिन्न रूप में ग्रहण कर पाते हैं। चेतना के पाशव स्तरों पर ऐसा नहीं होता।

6. ए॰ एल॰ क्रोबर—दि नेचर ऑफ कल्चर, संकलन ग्रंथ में 'कॉंजिज़ इन कल्चर' लेख, पृ॰ 107.
7. कान्फिगुरेशंस ऑफ कल्चर-ग्रोथ।
8. गोविन्दचन्द्र पांडे—दि मीनिंग एंड प्रॉसेस ऑफ कल्चर, पृ॰ 2.

वास्तव में चेतना की आत्मवेदिता उसके आत्म-विषयकरण के साथ ही आरंभ होती है, यही आत्म-विषयकरण आत्मा को प्रत्यय-गोचर बनाता है और विकीर्ण विषयिता को वैयक्तिक एकत्व का आधार देता है। किन्तु इस विषय का मूल उस आद्य चित् में है जो आत्म-वेदि चित्त में विषयि-विषय युगल के रूप में प्रस्फुटित होता है। विषयता के इस स्वरूप की विस्मृति अन्य सन्दर्भों में वैसी भयावह नहीं होती जैसी मनुष्य के अपने सन्दर्भ में होती है। उदाहरणत: यह विषयकरण चित्त के स्तर पर एक पक्ष में आत्म-प्रत्यय के रूप में अपने पारमार्थिक स्वरूप के लिए प्रतीक प्रस्तुत करता है और दूसरे पक्ष में दर्शन, विज्ञान और कलाओं के रूप में सर्जन को संभव करता है, और देह के स्तर पर यही चित्त आत्मा को एक इन्द्रि-यगम्य आधार देकर अन्य देहियों के समाज में प्रतिष्ठित करता है। किन्तु ये विषयकृत मनस् और विषयकृत देह स्वरूप-विस्मृत होने पर भी किसी अविभाज्य एकत्व का निर्माण नहीं करते, जैसा कि भ्रांत सिद्धान्तों के अधीन कुछ विचारक समझते हैं, ये केवल एक स्मृतिमूलक और अनिश्चित एकत्व का निर्माण करते हैं, जिस एकत्व को बौद्धों ने प्रवाह या सन्तान कहकर चुनौती दी है। वह चुनौती पूर्णत: युक्तियुक्त है, क्योंकि विषय की एकता बाह्यत: केवल आरोप मात्र ही हो सकती है, उसकी मौलिक एकता प्रत्यय-मूलक होती है जो प्रत्यय अपने स्रोत के रूप में निर्माण-चित्त की ओर देखता है। किन्तु चित्त और देह विषय नहीं होकर विषय-कृत विषयी हैं और ये अपनी आत्मीयता विषयिता में ही पाते हैं : और यह तब भी होता है यदि चित्त को अनिवार्यत: विषयापेक्षी भी माना जाय : यदि 'मैं विचारता हूं' क्रिया अनिवार्यत: सकर्मक हो और कर्म के माध्यम से ही प्रकाशित होती हो। इस प्रकार आत्मविदित चित्त अपने को विषय रूप में जानता है, किन्तु विषयी रूप में इस विषय का ज्ञाता होता है। किन्तु यह विषयिता चित्त की प्रत्यङ्मुखता में एक दूसरे स्तर पर प्राप्त होती है, जिसे हम विषय के विषयी में उपसंहरण का स्तर कह सकते हैं। इस स्तर पर विषय-ग्राहक वृत्ति आत्मसाक्षात्कारात्मक होती है। पीछे हम इस पर विस्तार से विचार कर चुके हैं। अप्रत्यङ्मुख चित्त की विष-यिता विषय पर केन्द्रित और उसके प्रति सक्रिय होती है और विषय विषय-प्रत्यय के आधार से रहित होता है। इस प्रकार इस चित्त को न विषयमूलक एकत्व उपलब्ध होता है और न आत्ममूलक। किन्तु प्रश्न है कि आत्म-वेदि चित्त की व्यष्टिता का आधार क्या है, विषय-प्रत्यय या कि विषयिमूलक अनुभूत एकत्व ? कांट ने इस एकत्व को विषयमूलक माना है, जो विषय देहमय या मनोमय आत्म-प्रत्यय नहीं होकर इन्द्रिय-मूलक होता है। किंतु ऐन्द्रिक या आध्यात्मिक किसी भी विषय को चैतसिक एकत्व का आधार मानना दो कारणों से अयुक्ति-संगत है, एक तो इसलिए कि हम एकत्व को विषयज्ञानात्मक स्तर पर ही नहीं आनुभूतिक स्तर पर भी ग्रहण करते हैं : अस्मिता एक मौलिक एकत्व की अनुभूति भी है, यह केवल

आत्म-विषय-प्रत्यय ही नहीं है। दूसरे, विषयगत एकत्व का आधारभूत विषय-प्रत्यय विषयिनिरपेक्ष नहीं होता, क्योंकि विषय और विषयी परस्पर सापेक्ष और निर्भर होते हैं और परिणामतः विषय-प्रत्यय विषयी के प्रत्ययन में प्रतिष्ठित होना अनिवार्य होता है। यह इससे भी सिद्ध है कि विषय की एकता अध्यवसाय में व्यक्त होती है और अध्यवसाय विषयी और विषय का युगपद्भाव है : 'यह घट है' उतना ही घट के एकत्व की अपेक्षा करता है जितना चित्त के एकत्व की, जिसमें उद्देश्य और विधेय विभक्त और संयुक्त होते हैं। इसी प्रकार, जितना इसका उद्देश्य 'यह' विषय-प्रत्यय के एकत्व में अधिष्ठित है उतना ही यह 'यह वही है' इस प्रत्यभिज्ञा में भी अधिष्ठित है, और यह प्रत्यभिज्ञा चित् का विषय-विधायक चित्त में आविर्भाव है। किन्तु इसका अर्थ केवल इतना ही होता है कि एकत्व का आधार विषय या विषयी नहीं होकर प्रत्यय है जो उतना ही विषयमूलक होता है जितना विषयिमूलक। यदि वैयष्टिक एकत्व का आधार अनुभूत एकत्व को भी मानें, जो निश्चय ही एकत्व के आधारों में से एक है, तो भी यह सांवेदनिक विषयिता नहीं है बल्कि प्रत्यङ्मुख चित्त की विषयिता है जो विषय-विज्ञप्ति के विषयिता की भूमि पर निवर्तन और उसके आत्मसाक्षात्कार के रूप में प्रतिफलित होती है। इसे आत्म-प्रत्यय का अस्फुट भावन भी कह सकते हैं जो उसके स्फुट ग्रहण से पूर्ववर्ती होता है। यह आत्म-प्रत्यय इस एकत्वानुभूति में प्रतिष्ठित होकर व्यक्तित्व का प्रतिष्ठापक होता है, जो अनुभूति स्वयं प्रत्ययानुविद्ध होती है। जैसा कि हमने अभी कहा, यह आत्म-प्रत्यय विषयिता नहीं है, किन्तु यह विषय-प्रत्यय भी नहीं है, इसे ज्ञातृत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्व की आत्मविषयता, अथवा आत्म-प्रत्यायक विषयिता कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में, आत्मा* या वैयक्तिक एकत्व चित्त का अपना अवगमन है जो विषय-जगत् की अपने से स्वतंत्र स्थापना कर अपने-में अपने-साथ संयुक्त होता है। यह अपने-में-अपने-साथ-अपना संयोजन अपने प्रति एक अतिक्रामी कर्तृत्व को, संयोजन की क्रिया और उसके साध्य के प्रत्यय को, पूर्वकल्पित करता है, जिस क्रिया का उपादान इस चित्त की वृत्तियां बनती हैं। इस प्रकार वैयक्तिक एकत्व एक जैव-चैत्त तथ्य और अस्तित्व नहीं होता बल्कि वह कर्तृत्व द्वारा आक्षिप्त या साक्षात्कृत आत्म-प्रत्यय या प्रतिमान होता है जिसके अधिष्ठान में जैव-चैत्त सामग्री व्यवस्थित और ग्रथित होती है।

अवश्य व्यष्टि को देह से भी परिभाषित किया जा सकता है और चित्त को देह के गुण के रूप में देखा जा सकता है, किन्तु स्पष्टतः यह व्यष्टि बाह्यतः निर्धारित विषय होगा, कर्तृत्व और अधिष्ठातृत्व की विषयिता नहीं, जो व्यक्तित्व का

* इस शब्द का प्रयोग हम किसी द्रव्य या वस्तु के लिए नहीं कर रहे हैं बल्कि अस्मिता के लक्ष्य, अथवा मात्र अस्मिता-भाव, के लिए कर रहे हैं।

स्वरूप है। किन्तु जैसाकि स्पष्ट है, क्रोबर और पांडे जी का व्यक्ति बाह्यतः निर्धारित विषय है जिसका एकत्व संख्यामूलक है और परिणामतः जो गणितीय योग द्वारा समाज को और अपने गुणों के सम्मिश्रण द्वारा संस्कृति को घटित करता है। अवश्य क्रोबर संस्कृति से व्यक्ति या घटना के निगमन की बात भी करता है और इस प्रकार व्यक्ति और संस्कृति में अवयव-अवयवी-सम्बन्ध देखता है, और वास्तव में उसे यही अभिमत भी है। वह व्यक्ति को एक स्वतंत्र सत्ता नहीं मानता, जिसका अर्थ है कि वह संस्कृति को मूल चैत्त सत्ता मानता है जिसमें व्यक्ति एक चैत्त घटक है। किन्तु तब उसे संस्कृति का अधिष्ठान व्यक्ति या उसके व्यवहार में नहीं देखकर व्यक्ति और उसके व्यवहार का अधिष्ठान संस्कृति में देखना चाहिए, जो वह वास्तव में देखता है। किन्तु यह एक दूसरी भ्रांति है, क्योंकि क्रोबर यहां इस चैत्त सत्ता को आत्म-वेदि चेतना के रूप में, या कम से कम ऐसी चेतना के रूप में जिसका व्यापार अन्तः स्फूर्त और अनुभूत है, देखता हो ऐसा प्रतीत नहीं होता, बल्कि वह उसे उद्दीपनों-प्रतिक्रियाओं के विशाल देश-काल-व्यापी संस्थान के रूप में ही देखता प्रतीत होता है। व्यक्ति की स्वतंत्रता के निषेध में उसकी चित्त-विषयक यह अवधारणा ही निहित प्रतीत होती है। किन्तु यदि व्यक्ति में स्वातन्त्र्य नहीं है तो संस्कृति में यह और भी संभव नहीं है, क्योंकि वास्तव में व्यक्ति संस्कृति की आन्तर निर्धारितता में एक घटक है और उसी कारण अस्वतंत्र है। किन्तु व्यक्ति या संस्कृति में, अथवा दोनों में, स्वातंत्र्य को स्वीकार किये बिना व्यक्ति और समाज में सृजनात्मक परिवर्तन की व्याख्या संभव नहीं है। सृजनात्मक परिवर्तन से हमारा तात्पर्य है जो परिवर्तन परंपरा के अतिक्रमण द्वारा आविर्भूत होता है। व्यक्तिगत स्तर पर यह परिवर्तन व्यक्ति द्वारा किसी साक्षात्कार के आधार पर पूर्वस्वीकृत मान्यताओं, विश्वासों अथवा अभ्यासों के निषेध के द्वारा होता है।

यहां कहा जा सकता है कि ये दोनों प्रकार के परिवर्तन समान रूप से व्यक्तिमूलक ही होते हैं, उदाहरणतः बुद्ध का साक्षात्कार एक-साथ समाज और व्यक्ति में परिवर्तन का आधार बना था। यह मत प्रकटतः युक्तिसंगत प्रतीत होता है और इसी प्रकट युक्ति के कारण पांडे जी ने संस्कृति को वैयक्तिक साक्षात्कार-मूलक परंपरा कहा है। किन्तु यदि बुद्ध का यह साक्षात्कार व्यक्ति-मनस्-मूलक है और इस प्रकार सब विचार और उद्भावनाएं व्यक्ति-मनस् गोचर ही होती हैं तब परंपरा भी कालात्मक आयाम में अनेक व्यक्तियों की सामूहिकता मात्र, क्षण-सन्तान मात्र, होगी। किन्तु यह निष्कर्ष पांडे जी को भी अभीष्ट नहीं होगा।[9]

9. पांडेजी ने एक लेख में संस्कृति को इस प्रकार परिभाषित किया है : "सांस्कृतिक चेतना एक निरात्मक और प्रतीत्यसमुत्पन्न संस्कार-प्रवाह है जो कि वैयक्तिक न होकर लोक-

संस्कृति को मनोमूलक सामूहिकता के रूप में देखना वास्तव में किसी को भी अभिप्रेत नहीं है, किन्तु अस्तित्व को अनिवार्यतः देहमूलक परिसीमाओं से परिभाषित करने पर यह निष्कर्ष अनिवार्य हो जाता है। तब संस्कृति को यदि मात्र उद्ग्रहण, अथवा अनेक विशिष्टों की एकत्र अवस्थिति से उत्पन्न रूप-वैचित्र्य अथवा गुण वैचित्र्य मात्र नहीं भी माना जाता तो अधिक से अधिक इसे व्यष्टियों में सम्बन्धों से प्रकटित प्रतीति (एपिफिनोमिना) माना जा सकता है। किन्तु हमारे विचार में यह युक्त नहीं है। जैसाकि हमारे पिछले विवेचन से स्पष्ट है, स्वयं व्यक्ति एक तथा आणविक अस्तित्व नहीं होकर एक आवयविक संहति है। आवयविक संहति एक ऐसा मौलिक एकत्व होता है जो बहुत्व के माध्यम से अपने को व्यक्त और चरितार्थ करता है। यह आवयविकता चित्त का स्वभाव है : चित्त अपने प्रस्तुत विषय में यह आवयविकता बाह्यतः देखता है और अपने में इसे आन्तरतः घटित देखता है। उदाहरणतः अणु ऋणात्मक-धनात्मक कणों के बहुत्व में व्यक्त एकत्व या सावयवता है और ब्रह्मांड पिंडों के बहुत्व में व्यक्त एकत्व, इसी प्रकार जैव देह अंगों आदि के बहुत्व में व्यक्त एकत्व है और अस्मिता असंख्य चिद्वृत्तियों के बहुत्व में व्यक्त एकत्व। वास्तव में चित्त केवल स्वयं में ही आवयविक : बहुत्व में स्फुटित एकत्व : नहीं है बल्कि यह जिस भी वस्तु में प्रविष्ट होता है उसी को एकत्व और बहुत्व के दो विरुद्धों की समन्विति में रूपान्तरित कर देता है, जैव और मानवीय सब कृतियां इस समन्विति को, बहुत्व में स्फुटित एकत्व को, प्रकट करती हैं। उदाहरणतः नीड़, गृह, गीत, छत्ता और परिवार को देखा जा सकता है। इस प्रकार अस्तित्व और सत्ता दोनों दृष्टियों से व्यक्ति और संस्कृति एक-दूसरे से इस रूप में भिन्न नहीं हैं कि इनमें एक दूसरे से प्रथम और उस पर निर्भर है बल्कि इस रूप में भिन्न हैं कि एक की संरचना और उसका आकार दूसरे से भिन्न प्रकार के हैं। अवश्य यह सही है कि परिवार या समाज में व्यक्ति संस्थित होते हैं, किन्तु परिवार का अधिष्ठान व्यक्ति नहीं है बल्कि एक सामाजिक प्रत्यय है जो व्यक्तियों को अपनी आवयविकता में संस्थित करता है। अब यदि व्यक्ति और परिवार, अथवा व्यक्ति और समाज में अधिष्ठान-अधिष्ठित का सम्बन्ध ही देखना हो तो समाज व्यक्ति में नहीं बल्कि व्यक्ति समाज में अधिष्ठित होता है। किन्तु समाज में व्यक्ति के अधिष्ठित होने पर भी यह उसे उस प्रकार निश्शेष नहीं करता जिस प्रकार अवयवी अवयव को करता है, क्योंकि व्यक्ति अपने-आप में एक स्वतंत्र अवयवी भी है : दैहिक रूप में भी

साधारण है।" (पं० सुरतिनारायण त्रिपाठी अभिनंदन ग्रंथ में उनका लेख "संस्कृति और भारतीयता", पृ० 2.

और चैतसिक रूप में भी ।[10] उसकी दैहिक आवयविकता जैव प्रत्ययगत है और चैतसिक आवयविकता आत्म-प्रत्ययगत । (इस प्रकार, व्यक्ति की वैयक्तिकता उसकी देह की अनुषंगी नहीं होती, इसके विपरीत देह उसकी चैतसिक क्रिया के एक आयाम के रूप में : उसकी विषयिता में : उसकी चैतसिक आवयविकता की अवयव होती है ।) उदाहरणत: परिवार में एक व्यक्ति पिता या पुत्र, अथवा दोनों होता है । अब पिता पितृत्व को और पुत्र पुत्रत्व को उदाहृत करते हैं और ये दोनों परिवार के अन्तर्गत और उसकी अवधारणा में निश्शेषतः निहित होते हैं । यहां यह कहा जा सकता है कि, किन्तु पिता कोई व्यक्ति होता है और इस प्रकार पिता-व्यक्ति, पुत्र-व्यक्ति आदि सम्मिलित होकर परिवार का निर्माण करते हैं । वास्तव में यहां निहित रूप में व्यक्ति को मनोमय देह-विशेष के रूप में कल्पित किया जा रहा है जो युक्त नहीं है । जैसाकि हमने ऊपर देखा, अवश्य केवल व्यक्ति ही पिता या पुत्र हो सकता है और देह उस व्यक्ति का एक अनिवार्य पक्ष है, किन्तु "यह व्यक्ति परिवार को अधिष्ठित करता है" कहने का अर्थ होगा कि पितृत्व आदि व्यक्ति में अनिवार्य हैं और ये व्यक्ति संयुक्त होकर परिवार को घटित करते हैं, जबकि वास्तव में पितृत्व आदि परिवार-प्रत्यय के अंग हैं और व्यक्ति इस प्रत्यय को धारण कर परिवार में अधिष्ठित होते हैं ।

यहां एक दूसरे प्रकार की आवयविकता का उदाहरण व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को समझने में उपयोगी होगा : पीछे[11] हमने ऐन्द्रिक विषयों के परिप्रेक्ष्यात्मक स्वरूप का विवेचन किया था । यह परिप्रेक्ष्यात्मकता प्रेक्षक के पक्ष से व्यक्ति की अनिवार्य सामाजिकता की द्योतक है, क्योंकि परिप्रेक्ष्यता में प्रत्येक प्रेक्षण अन्य असंख्य वास्तव-संभाव्य प्रेक्षणों की एक व्यवस्था को पूर्वकल्पित करता है और इस व्यवस्था में प्रत्येक प्रेक्षण अन्यों का सापेक्ष होता है । उदाहरणत: एक कुर्सी का स्थान स से प्रेक्षण स्वयं में संवेदमूलक एक गुण : वर्ण-संस्थान : मात्र है, किन्तु यह गुण कुर्सी के अस्तित्व के लिए प्रमाण होता है, जो कुर्सी प्रेक्षण के संदर्भ में प्रेक्ष्यों के बहुत्व को संहत करने वाला एक मौलिक एकत्व है । इसी कारण मेरा कुर्सी को देखना उसकी विद्यमानता के लिए अन्य द्रष्टाओं के समर्थन का अपेक्षी होता है । ज्ञान-विषयक यह तथ्य व्यक्ति की अनिवार्य सामाजिकता का और समाज की व्यक्ति से प्रथमता का द्योतक है । द्रष्टव्य है कि विषय की यह परिप्रेक्ष्यात्मकता कांट के अर्थ में विषय-ग्रहण की अतिक्रामी संरचना (ट्रांसेडेंटल स्ट्रक्चर) में निहित

10. द्रष्टव्य है कि देह के अंगों में भी एक सीमा तक स्वतंत्रता रहती है : आंख, चर्म, या कान आदि के कुछ रोग हैं जो उन अंगों के अपने होते हैं । किन्तु आयुर्वेद और होम्योपैथी अवयवी को एक अविभाज्य व्यवस्था मानते हैं, केवल एलोपेथी ही बहुत हद तक अंगों का पृथक्ता में निदान करती है । किन्तु यहां इस बात की उपेक्षा की जा सकती है ।

11. द्रष्टव्य अध्याय 4.

है और इस प्रकार सामाजिकता मानव-चित्तगत एक निर्धारक तत्त्व है। यहां कोई आपत्ति कर सकता है कि यह अतिक्रामी संरचना व्यक्ति-चित्त के द्वारा ही कार्यान्वित होती है और इससे पृथक् इसका कोई अस्तित्व नहीं है। किन्तु यह वही भ्रांति है जिसका खंडन हम पीछे कर आए हैं : यहां विषय की तात्त्विक परिप्रेक्ष्यात्मकता के एक दृष्टिबिन्दु को व्यष्टि-देह में स्थापित किया जा रहा है और व्यष्टि-देह को व्यक्ति कहा जा रहा है। किन्तु यह अयुक्त है, विषय की परिप्रेक्ष्यात्मकता विषयी की अतिक्रामी संरचना में निहित है, जिस संरचना से पूर्व-निर्धारित दृष्टि-बिन्दु पर एक ग्रहण घटित होता है। इस ग्रहण को व्यक्ति-चित्तमूलक कहना अयुक्त है, क्योंकि यह चित्त न वैयष्टिक या वैयक्तिक है और न सामष्टिक, यह दोनों का अंगांगिभाव है।

इसके अनन्तर यहां विशिष्ट रूप से अतिवैयक्तिक संस्कृति-मनस् के कुछ उदाहरण देना स्थाने होगा। इनमें भाषा सबसे अधिक स्पष्ट उदाहरण है। भाषा अनेक व्यक्तियों की समवेत मानसिकता है, क्योंकि इसका आविर्भाव व्यक्तियों के पारस्परिक संप्रेषण के क्रम में होता है। यदि यहां संप्रेषण के प्रसंग को जाने भी दें तो भी यह :भाषा: अपने सब व्यापारों में, वे कथनात्मक हों या अभिव्यंजनात्मक, सामान्यात्मक और सामाजिक है, विशेषात्मक और वैयक्तिक नहीं। दूसरे, इसकी रचना के किसी भी पक्ष : ध्वनि, शब्द, वाक्य, और अर्थ : के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि यह व्यक्ति-मनस्-मूलक या व्यष्टि-व्यवहार-मूलक है। निश्चय ही भाषा का प्रत्येक व्यक्ति का प्रयोग, उसके सभी पक्षों में, विशिष्ट होगा, किन्तु यह वैयक्तिक प्रयोग सामान्य की विशेष मुद्रा, या कहें भंगी मात्र, होता है, विशेषों से उद्गृहीत सामान्य नहीं :आकाश में घट-मठ आकृति के समान, वृद्धों से वार्द्धक्य-कल्पना के समान नहीं।

वास्तव में यह बात अन्य सब सृजनात्मक मानस-व्यापारों या अभिव्यक्तियों के लिए भी, न्यूनाधिक अन्तर के साथ, सही है। उदाहरणतः काव्य, दर्शन या विज्ञान को लें। ये एक-साथ व्यक्ति और समाज दोनों के लक्षण प्रकट करते हैं : कालिदास, भवभूति या तुलसीदास की काव्य-कृतियां उतनी स्पष्टता के साथ उनकी वैयक्तिक भंगियों को प्रकट नहीं करतीं जितनी स्पष्टता के साथ सांस्कृतिक भंगी को प्रकट करती हैं : हम कालिदास की किसी कृति के सम्बन्ध में सन्देह में पड़ सकते हैं कि वह उसी की है या अन्य किसी की, किन्तु वह भारतीय है या नहीं, इसमें सन्देह होना कठिन है। दर्शन, वास्तु-कला, पाक-शास्त्र आदि में वैयक्तिक भंगी और भी अस्पष्ट होती है जबकि सांस्कृतिक भंगी उतनी अस्पष्ट नहीं होती, दर्शन में तो सांस्कृतिक भंगी बहुत अधिक स्पष्ट होती है। जो भी हो, यहां महत्त्वपूर्ण यह है कि संस्कृति एक पृथक् भंगी या मुद्रा है और कम से कम उतनी ही विशिष्ट जितनी वैयक्तिक भंगी होती है।

यहां कहा जा सकता है कि भंगी की संस्कृति-विशिष्टता व्यक्तियों के परस्पर अनुकरण की ही परिणाम होती है। कालिदास और भवभूति के काव्यों में इस कारण एक व्यापक समानता है क्योंकि ये दोनों व्यक्तियों के एक ही वर्ग के सदस्य हैं। यह युक्ति सही नहीं है और इसकी अयुक्तता पर विचार हमें व्यक्ति और समाज के स्वरूपों में और गहरी अन्तर्दृष्टि देता है : यदि भंगी का अनुकरण संभव है तब वह विषयी नहीं होकर विषय और सामान्य है, और यदि वह विषय और सामान्य है तब उसमें व्यष्टि-समष्टि का भेद अयुक्त है। इसका उत्तर हो सकता है कि भंगी मूलत: विषयिता है जो देखी जाने पर विषय और सामान्य बनती है, इसी से यह सिद्ध होता है कि भंगी मूलत: व्यक्तिनिष्ठ होती है और अनन्तर वह व्यक्तियों के वर्ग में संक्रमित हो सकती है, यद्यपि तब वह उस वर्ग में भी विषयिता का रूप ले लेती है। किन्तु तब प्रश्न होगा कि विषयिता की व्यक्ति-मूलकता के लिए क्या युक्ति है? यदि थोड़ा गहराई से देखा जाय तो हम पायेंगे कि विषयिता केवल दैहिक और सांवेदनिक स्तर पर ही वैयक्तिक होती है, चित्त की उच्चतर अभिव्यक्तियों के स्तरों पर यह नितान्त निर्वैयक्तिक होती है, और जैसाकि हमने पीछे[12] देखा, यह दैहिक और सांवेदनिक स्तरों पर भी केवल अंशत: ही वैयक्तिक होती है, क्योंकि स्वयं देह और संवेद के आकार भी जातिमूलक ही होते हैं। चित्त का यह अतिक्रामी स्तर चित्त की वैयक्तिक और सांस्कृतिक दोनों से व्यापकतर, और अन्तत: अनवच्छिन्न सत्ता का द्योतक है और इस प्रकार वैयक्तिकता को उसके लिए आगन्तुक और उपाधि सिद्ध करता है। किन्तु संस्कृति उस स्तर का अस्तित्व नहीं है, वह अतिक्रामी नहीं होकर चैत्त व्यापार है और परिणामत: वैयक्तिक प्रकार का ही अस्तित्व है।

तब संस्कृति क्या है? अब तक हमने जो कहा उसमें यह पूर्वगृहीत है कि यह एक चैत्त आवयविकता है और देश और काल में विकीर्ण मानव-व्यक्तियों को एकत्व देती है। इस प्रकार इसे एक सामाजिक व्यक्तित्व भी कह सकते हैं।[13] इस प्रकार कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व के दो प्रकार या आकार हैं, एक वैयष्टिक और दूसरा सामष्टिक। वैयष्टिक व्यक्तित्व का विच्छेदक लक्षण देह को कहा जा सकता है जो बाह्यत: एक भौतिक : इन्द्रियगम्य : विषय है और आन्तरत: भौतिक क्रिया का अधिष्ठाताभूत आत्मा। किन्तु यह विच्छेदक लक्षण इसका आधार-भूत तत्त्व नहीं है। इसका आधार-तत्त्व वही है जो सामाजिक व्यक्तित्व का भी

12. अध्याय 4.
13. इस परिभाषा की युक्तता का प्रतिपादन हमने अपनी पुस्तक संस्कृति: मानव-कर्तृत्व की व्याख्या के प्रथम दो अध्यायों में तथा 'भारतीय संस्कृति के आधार, वर्तमान सन्दर्भ" लेख में विस्तार से किया है। यह लेख भारतीय संस्कृति, दर्शन एवं सभ्यता, सं० राजेन्द्र-गौतम में प्रकाशित।

है। यह तत्त्व है आत्म-प्रतिमा, आत्म-स्वरूप-प्रत्यय। व्यष्टि-चित्त के जो व्यापार तर्कतः इस प्रत्यय के नियमन के क्षेत्र में आते हैं वे सब व्यष्टि-व्यक्तित्व के घटक होते हैं और जहां तक यह प्रत्यय वास्तव में चित्तवृत्तियों और क्रियाओं का नियमन करता है वहां तक वह व्यक्ति अपने स्वरूप के अनुसार होता है, जहां तक वह यह नियमन अपने संकल्प की क्षीणता के कारण नहीं कर पाता वहां तक व्यक्ति अपने स्वरूप से विसंगत होता है, जो वृत्तियां उसके नियमन के क्षेत्र या प्रसंग से बाहर होती हैं वे वैयक्तिक वृत्तियां अथवा वैयक्तिक क्रियाएं नहीं कही जातीं। संकल्प की क्षीणता व्यक्ति को अपने से व्यवहित करती है और इस व्यवधान की अभिज्ञता व्यक्ति को अपने लिए अपना आदर्श बनाती है।[14] व्यक्ति की यह आत्म-आदर्शस्वरूपता ही उसकी सब क्रियाओं को सृजन का आयाम देती है, उसके अभाव के कारण ही अन्य जीवों के निर्माण सृजनात्मक नहीं होते, न मनुष्य की वे क्रियाएं सृजनात्मक होती हैं जो इस आदर्शस्वरूपता में प्रतिष्ठित नहीं होतीं। इस प्रकार सब सृजन अन्ततः आत्मलाभ या आत्मसृजन हैं, अथवा कहें, एकमात्र आत्म-सृजन ही सृजन है।

व्यक्तित्व का यह तत्त्व संस्कृति में भी उतना ही स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है। संस्कृति का लक्षण सृजन-परंपरा है, क्षीण सृजन-परंपरा सांस्कृतिक ह्रास की द्योतक होती है। सृजन का तत्त्व मूल्य का चरितार्थन है। मात्र परंपरा मानव-समाज से कहीं अधिक सबल जैव समुदायों में देखी जाती है, किन्तु उस परंपरा का आधार मूल्यात्मक प्रत्यय का चरितार्थन नहीं होकर संस्कार होता है।[15] दूसरे शब्दों में, उसका आधार आत्मव्यवधान की अभिज्ञता-जन्य आकुलता नहीं होकर प्रस्तुत स्थिति के प्रति अभ्यास से नियत प्रतिक्रिया होती है। ऐसा नहीं है कि मानव-समाज में यह मूल्य-दृष्टि निरन्तर और सर्वत्र स्पष्ट होती है, इसी प्रकार ऐसा भी नहीं है कि सांस्कृतिक परंपरा में अभ्यास के लिए कोई स्थान नहीं है, किन्तु संस्कृति में अभ्यास का प्रयोजन केवल प्रयत्न-लाघव है, यह संस्कृति का तत्त्व नहीं है, उसका तत्त्व मूल्य ही है, जबकि जैव परंपरा का तत्त्व अभ्यास है। अवश्य यहां आपत्ति की जा सकती है कि जैव परंपरा भी जैव मूल्यात्मक होती है और वहां भी अभ्यास की भूमिका प्रयत्न-लाघव की सिद्धि ही होती है। यह सही है, किन्तु यहां दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं—प्रथम यह कि जैव मूल्य केवल तथाकथित रूप से ही मूल्य है, दूसरे, यह अभ्यास आत्म-अभिज्ञता-मूलक नहीं होता और परिणामतः प्रयत्न-लाघव की सिद्धि केवल अतिक्रामी रूप से ही प्रयोज्य होती है,

14. इस पर विस्तृत चर्चा के लिए द्रष्टव्य संस्कृति : मानव-कर्त्तृत्व की व्याख्या में अध्याय 1, तथा विषय और आत्म में अध्याय 5.

15. यहां पांडेजी की पीछे उद्धृत परिभाषा की अपर्याप्तता देखी जा सकती है।

विचारपूर्वक नहीं। यहां कहा जास कता है कि उत्कर्ष-परंपरा केवल विज्ञान में ही देखी जाती है, दर्शन, कला और नैतिक जीवन में उत्कर्ष-सिद्धि केवल वैयक्तिक होती है। उदाहरणतः बुद्ध, कालिदास, नागार्जुन, या ईश्वरकृष्ण द्वारा साक्षात्कृत मूल्य उन व्यक्तियों के जीवन में ही महत् सिद्धि के रूप में प्रतिफलित हुए, किसी परंपरा में परिष्कृत नहीं हुए। किन्तु यह आक्षेप सही नहीं है। यहां यदि इस पक्ष को जाने भी दें कि प्रायः ही महान व्यक्तियों के आविर्भाव के भी युग होते हैं : इधर हमने अपने देश में 1947 से पहले 19वीं-20वीं शताब्दियों में एक-साथ अनेक महापुरुषों का आविर्भाव देखा, जर्मनी में 17वीं-18वीं शताब्दियों में एक-साथ कांट, फ़िख़्ते, शैल्लिंग, शिलर, हेगल, गोएथे, बीथोवन जैसी अद्भुत् प्रतिभाओं का आविर्भाव हुआ, और उसके बाद वैसी एक भी प्रतिभा शताब्दियों तक दृष्टिगोचर नहीं होती : और 'संभवामि युगे-युगे' महान व्यक्ति के आविर्भाव की युग-परिस्थिति-सापेक्षता का ही कथन है, तो भी यह द्रष्टव्य है कि बुद्ध या कालिदास के रूप में उद्भूत शिखर एक पक्ष में परिष्कार-परंपरा के ही विषय होते हैं और उसी रूप में ये सांस्कृतिक होते हैं। उदाहरणतः महात्मा बुद्ध की संबोधि का एक पक्ष वैयक्तिक प्रयत्न, वैयक्तिक साक्षात्कार, वैयक्तिक सिद्धि और वैयक्तिक अनुभूति है और एक पक्ष वह मूल्य-प्रत्यय या परमार्थ सत् है जो वैयक्तिक नहीं होकर सार्वभौम है। किन्तु यह सार्वभौम सत्य संस्कृति-विशेष में साक्षात्कृत होता है, क्योंकि यह सत्य सहज ग्राह्य नहीं होकर प्रयत्न की एक सुदीर्घ परंपरा की अपेक्षा करता है, और अपने स्वरूप में नितान्त सरल होने पर भी अपनी अभिव्यक्ति और ग्रहण में अत्यन्त जटिल व्यवस्था का रूप लेता है, जो व्यवस्था अपने अवगमन के लिए भी अत्यधिक विराट् मनस् की अपेक्षा करती है, उसके जनन के लिए तो विराट् मनस् अपेक्षित होता ही है। सर्वप्रथम, ऐसी व्यवस्था के लिए भाषा का अत्यन्त जटिल और सूक्ष्म उपकरण अपेक्षित होता है और तदुपरान्त अनुभव, क्रिया, और चिन्तन की सुदीर्घ प्रक्रिया अपेक्षित होती है, जो प्रक्रिया असफलताओं, विरोधों, आक्षेपों और उनके निवारण को पूर्वापेक्षित करती है। उदाहरणतः बुद्ध की मध्यम प्रतिपदा के लिए अतिवादी साधनाओं की निष्फलता की परंपरा और प्रतीत्यसमुत्पाद की अवधारणा के लिए कारणता-विषयक अन्यान्य सिद्धान्तों की अपेक्षा थी और ये सब सिद्धान्त संयुक्त रूप से उस सांस्कृतिक दृष्टि का निर्माण करते हैं : कुछ सत्य के विभिन्न पक्षों के रूप में और कुछ अपने प्रत्याख्यान द्वारा स्वीकृत दृष्टि को सम्पन्नता देने के रूप में। ज्ञान-विषयक यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि आक्षेप और उनके निवारण किसी दृष्टि की संपन्नता और प्रामाणिकता के निश्चय के लिए आवश्यक होते हैं, और किसी दृष्टि के विरुद्ध जितने ही आक्षेप प्रस्तुत होकर निराकृत होते हैं उतनी ही वह दृष्टि सम्पन्न होती है। कहा जा सकता है कि वह द्वन्द्व अतिव्यक्तिमूलक नहीं

होकर व्यक्तिमूलक ही होता है, क्योंकि व्यक्ति ही हैं जो मत-प्रतिपादन करते हैं और दूसरे भी व्यक्ति ही होते हैं जो आक्षेप करते हैं। यह सही है, किन्तु इस प्रकार जो सम्मिश्र निष्पन्न होता है वह वैयक्तिक नहीं होता, यह एक ठोस अति-वैयक्तिक अस्तित्व होता है जो व्यक्तियों को सांस्कृतिक उत्तराधिकार के रूप में उपलब्ध होता है। इस प्रकार जब हम 'भारतीय दर्शन' या 'पाश्चात्य दर्शन' अथवा 'भारतीय काव्य' या 'चीनी काव्य' कहते हैं तब, विशिष्ट सांस्कृतिक भंगी की बात छोड़ते हुए भी, इन पदों के एक-साथ दो वाच्य होते हैं, एक विभिन्न व्यक्तियों की विभिन्न कृतियां और दूसरा सांस्कृतिक मनस्, जिसमें से ये विभिन्न कृतियां उद्भूत होती हैं और उसके अव्यक्त तत्त्व को व्यक्त कर उसे वैचित्र्य और वैविध्य देती हैं। अव्यक्त तत्त्व को व्यक्त करने के पक्ष में वैयक्तिक कृति भी भिन्न प्रकार की नहीं होती, वह भी एक अरूप-अनाम प्रातिभ या साक्षात्कार को ही व्यक्त करती है, और उसी प्रकार वह भी विभिन्न वास्तव-संभाव्य आपत्तियों के निवारण के माध्यम से अपने ग्रहण को विपुल बनाती है। अन्तर केवल इनके आयतन और परिमाण का होता है। यह द्रष्टव्य है कि विचार के लिए उसका व्यक्ति-मनस् में घटित होना अनिवार्य नहीं होता, क्योंकि विचार स्वयं मनस् का एक आयाम है और घटना दूसरा आयाम : यह दूसरा आयाम संवेद है। विचार की वैयक्तिकता केवल उसकी संरचना, व्यवस्था और अभिव्यक्ति की भंगिमा-विषयक होती है जो विचार के तत्त्व पर अवांछनीय आरोप है : 'यह मेरा व्यक्तिगत विचार है' का अर्थ है कि इसकी ज्ञानात्मकता या सत्य संदिग्ध है।

यहां यह स्पष्टीकरण स्थाने होगा कि सांस्कृतिक मनस् का अतिवैयक्तिक अस्तित्व वैयक्तिक मनस् के स्वातंत्र्य को समाप्त या न्यून नहीं करता। स्वातंत्र्य का अर्थ अकारण-अनैमित्तिक होना नहीं है : 'राम दशरथ के पुत्र थे' का यह अर्थ नहीं है कि, जैविक रूप में भी, राम पृथक् व्यष्टि नहीं थे। कारण का यह अर्थ केवल भौतिक सन्दर्भ में ही है कि कार्य उससे पूर्णतः नियत होता है, जैविक सन्दर्भ में भी विज्ञान कारणता को इसी अर्थ के अन्तर्गत लाना चाहता है जो युक्त नहीं है। किन्तु मानसिकता के संदर्भ में कारणता का यह अर्थ सर्वथा नहीं रहता, अथवा कहें उस सन्दर्भ में कारण-कार्य-निर्धारण होता ही नहीं : 'मैंने आपकी बात समझ ली' इसमें कथन और बोध के बीच कारण-कार्य-सम्बन्ध का कथन नहीं है, यह पूर्व-विद्यमान निर्वैयक्तिक ज्ञान का व्यक्ति-चित्त में प्रकाशित होना है। जिसमें कथन प्रसंग या हेतु बनता है; किन्तु यह हेतु कारण-रूप नहीं होता, मानसिकता के संदर्भ में निर्धारण उसी स्तर पर होता है जिस पर मन प्रत्यङ्मुख नहीं होकर परोन्मुख होता है, अथवा वासना-आवेग आदि वृत्तियों में होता है। इसके विपरीत प्रत्यङ्मुख वृत्ति मन के स्वातंत्र्य की वृत्ति है और व्यक्ति-मनस् की इसमें प्रतिष्ठा उसे स्वातंत्र्य में प्रतिष्ठा देती है। उदाहरणतः मान लें कि बुद्ध द्वारा

संबोधि में साक्षात्कृत सत्य संपूर्णतः अपनी सांस्कृतिक परंपरा से प्राप्त था, जो कि वास्तव में था ही, किन्तु इससे उसके साक्षात्कार की मौलिकता, उसकी निजता, सब से बढ़ कर बुद्ध के आत्म-सर्जन की अपूर्वता समाप्त नहीं होती। क्योंकि विचार के तत्त्वों की सांस्कृतिक परंपरा में विद्यमानता और उस विचार का साक्षात्कार, एवं उस व्यक्तित्व का नियोजक, व्यवस्थापक और साध्य होना, एक ही बात नहीं है और इनमें केवल दूसरे में ही व्यक्ति का स्वातंत्र्य प्रकट होता है। यही बात कालिदास, नागार्जुन, ईश्वरकृष्ण या शंकर के बारे में कही जा सकती है। कालिदास की महत्ता अनुभूत विषय, विचार, अलंकार और भाषा के नावीन्य में नहीं है, जोकि उनमें नहीं था, न ही उस मानसिक विद्युच्चुंबकत्व में है जो परंपरा में विकीर्ण प्रासंगिक तत्त्वों को अपने में समेट कर उन्हें नवीन और अधिक सशक्त रूप में व्यक्त कर सका, बल्कि अपनी दृष्टि के प्रति सच्चाई में, अधिक उपयुक्त शब्दों में, अपनी दृष्टि के प्रति दर्शकत्व में, चित्त की अनाविलता :अव्यवहितता: में है। स्वातंत्र्य का दूसरा पक्ष, अथवा उचित रूप से कहें दूसरा आयाम, मूल्यान्वेषण है जिसका तत्त्व, जैसाकि हमने पीछे कहा, स्वरूप-सिद्धि और तद्विषयक व्यवधान का निवारण है। यह तत्त्व चित्त को संभूत से निर्धारित नहीं कर भाव्य के अनुसार आत्म-सर्जन में नियुक्त करता है। जैसाकि हमने पीछे देखा, यह तत्त्व व्यक्ति और संस्कृति दोनों को समान रूप से निरूपित करता है: व्यक्ति उस प्रतिमान से परिभाषित होता है जो उसकी सब विशिष्ट क्रियाओं को अधिष्ठित और नियुक्त करता है और संस्कृति उस प्रतिमान से जिसे वह मानव-स्वरूप के रूप में अवधारित करती है। इस प्रकार व्यक्ति और संस्कृति दोनों का तत्त्व स्वातंत्र्य है, यह बात दूसरी है कि व्यक्ति-विशेष और समाज-विशेष क्रमशः व्यक्तित्व और संस्कृति से किस सीमा तक सम्पन्न होते हैं।

13

इतिहास-तत्त्व

'इतिहास' शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ है 'ऐसा हुआ', अर्थात् अतीत घटनाओं का विवरण। प्रकटतः यह एक अत्यन्त सरल-सीधी सी बात है किन्तु इसे थोड़ा गहराई से देखें तो इसकी अपार जटिलता विचार को अभिभूत किये बिना नहीं रहती। 'अतीत घटना', अथवा 'अतीत' ही कहें, पद का क्या अर्थ है? क्या पत्थर अथवा मिट्टी का कोई अतीत होता है? यद्यपि हम काल की गणना सूर्य और पृथ्वी की सापेक्ष गति और स्थिति आदि से करते हैं और ग्रहों-नक्षत्रों के आविर्भाव और अतीत-वर्तमान आदि की भी बात करते हैं किंतु एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में भौतिक प्रकृति कालात्मक नहीं होती, यह पूर्णतः देशात्मक होती है। जैव प्रकृति इस दृष्टि से भौतिक प्रकृति से मौलिक रूप से भिन्न होती है, यह काल-यापित होती है: पुष्प कली से विकसित होता है और फिर क्रमशः मुरझा कर झड़ जाता है। इसमें एक अनिवार्य क्रम, अनिवार्य अनिवर्तनीयता होती है, विकसित पुष्प कली नहीं बन सकता और झड़ा हुआ पुष्प पुनः वृन्त पर खिलता हुआ पुष्प नहीं हो सकता। किन्तु इस अनिवार्य अनिवर्तनीयता को क्या अतीत-वर्तमान-भविष्यत् ऐसा त्रि-आयामात्मक काल कहा जा सकता है? काल तो यह अवश्य है, क्योंकि अनिवार्य अनिवर्तनीयता ही काल का लक्षण है, किन्तु अनिवर्तनीयता, और आवृत्ति-असम्भवता भी, अनिवार्य रूप से त्रि-आयामात्मक काल की सृष्टि नहीं करते। कहा जा सकता है कि खिले हुए पुष्प का कली-रूप उसका अतीत और सूख कर झड़ने वाला रूप उसका भविष्यत् होता है। यह सही है, किन्तु ऐसा स्वयं पुष्प के लिए नहीं होता, हमारे लिए होता है और इस प्रकार यह पुष्प-मूलक नहीं होकर पुष्प-विषयक होता है। पुष्प-मूलक काल में पुष्प का अतीत और भविष्यत् उसके वर्तमान में सन्निहित होते हैं और उसे बाण की नोक का-सा रूप देते हैं। दूसरे शब्दों में, इसमें पुष्प उद्दिष्ट-घटनात्मक रहता है। इसके विपरीत पुष्प-विषयक काल में घटनाएं घटनात्मक नहीं रहकर क्रम में निर्धारित और स्थित हो जाती हैं: पुष्प-मूलक काल में कली पुष्प हो जाती है और पुष्प मुरझा जाता है, जबकि पुष्प-विषयक काल में पुष्प पहले कली की अवस्था में रहा होता है और पीछे मुरझा जाना उसकी नियति, उसकी भवितव्यता होता है। इस प्रकार ये तीनों अवस्थाएं काल-पट पर अनुक्रमशः अवस्थित रहती हैं। कुछ लोगों ने काल को क्षण-सन्तान-रूप और दूसरों ने प्रवाह-

रूप देखा है। ये दोनों निरूपण भ्रामक हैं, क्योंकि इन दोनों में यह पूर्वमान्यता है कि काल का कोई निरपेक्ष स्वभाव और सत्ता है। किन्तु इनमें पहला मत भयानक रूप से भ्रामक है, क्योंकि इसमें यह पूर्वमान्यता है कि "सत्ता कालात्मक है और इसमें अतीत क्षण अतीत रूप में रहते हैं: वे अर्थ-क्रिया के रूप में तो अवश्य समाप्त हो जाते हैं किन्तु अक्रियात्मकतया रहते हैं, जैसे सिनेमा की रील के चित्र—यदि रील एक ही बार चलायी जाय तो।" यद्यपि यह बात स्वयं क्षण-सन्तानवादियों को अभिप्रेत नहीं है किन्तु उत्पत्ति-नाश में युगपद् क्षण, आगे के क्षण में परिणत नहीं होने से, अपनी अतीतता में अक्षुण्ण तो रहेगा ही, क्योंकि परिणत होने वाला क्षण ही अपने अतीत को वर्तमान में खो सकता है, अपने में अवसित क्षण नहीं। दूसरी ओर काल को प्रवाह कहने में यह दोष है कि प्रवाह में, जैसे जल-प्रवाह में, कोई एक वस्तु या पिंड पीछे से सम्मुख और सम्मुख से आगे की ओर नहीं आता बल्कि निरन्तर पीछे से आता रहता है; किन्तु काल के बारे में ऐसा नहीं है: पुष्प की विकसित स्थिति में कली की अतीत स्थिति से कुछ निरन्तर नहीं आता रहता बल्कि कली पुष्पित होती है और पुष्प मुरझा कर समाप्त होता है, अथवा कहें कली पुष्प-रूप में और मुरझाने के रूप में परिणत होती है। इस प्रकार काल प्रवाहात्मक नहीं होकर परिणामात्मक होता है। परिणामात्मक वस्तु का कुछ अतीत नहीं होता, उसका केवल भविष्योन्मुख वर्तमान होता है, अथवा कहें उन्मुख वर्तमान होता है। यद्यपि यह सही है कि जो वह 'है' सो वह 'अन्य कुछ रहा होने से' ही होता है, किन्तु 'रहा हुआ कुछ' वही 'हो गया' रहता है जो वह अब है। इसके विपरीत अतीत वह होता है जो घटित होकर परिणाम-प्रक्रिया से पृथक् हो जाता है। अवश्य वह एक प्रक्रिया का अंग होता है: काल-क्रम का अंग: इसी कारण वह अतीत भी होता है, किन्तु यह क्रम उसको वह स्थिति देने का प्रयोजन सिद्ध करता है जो उसे परिणत होने, वर्तमान में निश्शेष होने, से बचाती है। उदाहरणतः मान लें कि दस दिन पहले मेरे पैर पर पत्थर लगा और उससे कुछ घाव हो गया, आज वह पूरी तरह भर चुका है, केवल उसका चिह्न बचा है। अब, शुद्ध रूप से शारीरिक काल की दृष्टि से यह कहना युक्त है कि आघात लगने की घटना इस चिह्न में परिणत हो गई। उस घटना का 'घटित हुए होना' स्मृति है जो मानसिक काल के अन्तर्गत है, शारीरिक काल में 'घटित हुई इस घटना' की चर्चा असम्भव है। यहां कोई देह और मन के इस पृथक्करण पर आपत्ति कर सकता है। किन्तु जैसा कि हम अभी देखेंगे, स्मृति-समर्थ मनस् देह से मौलिक रूप से भिन्न होता है; स्मृति-असमर्थ या आवेगात्मक मनस् को चाहे देह के तारतम्य में रखा भी जा सके किन्तु स्मृत्यात्मक मनस् को इस तारतम्य में नहीं रखा जा सकता। इस मनस् की विशेषता विषय-करण में है, जो विषय एक सन्दर्भ के बीच रेखांकित होता है। विषय अनेक सन्दर्भों में घटित होते हैं जिनमें से एक सन्दर्भ काल है। उदाहरणतः प्रस्तर-खंड दैशिक

सन्दर्भ में घटित होता है और पत्थर का ऊपर से नीचे गिरना कालिक सन्दर्भ में। कालिक सन्दर्भ के विषयों को हम घटनाएं कहते हैं। घटनाएं मनस् द्वारा कालिक सन्दर्भ में जड़ी गई या उत्कीर्ण विषय होती हैं। अब, क्योंकि ये घटनाएं जड़ी गई होती हैं इसलिए इनके परिणमन का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता : दूध दही में परिणत होता है किन्तु विषय-रूप में विकल्पित दूध दही बनने की प्रक्रिया से पृथक् दूध ही रहता है, पहले प्रत्यक्षगत और पीछे स्मृतिगत। 'इस दूध' में जामुन डालने की घटना घटित होती है और 'यही दूध' दही बनता है। अब यह सम्पूर्ण क्रम कारण-कार्य घटनाओं का क्रम बनता है, जिसमें ये घटनाएं यथास्थान स्थित होती हैं।

जैसाकि हमने पिछले अध्याओं में देखा, विषय और विषयी एक ही चित्त में से उद्भिन्न दो पक्ष हैं जो उद्भिन्नता चित्त के आत्मोन्मुख संक्रमण के क्रम में घटित होती है, और यह आत्मोन्मुख संक्रमण अर्थों : सत्ताओं या तत्त्वों : के एक सर्वथा भिन्न लोक और उसके असंख्य आयामों को सम्भव करता है। इतिहास : विगत का विवरण : इनमें से एक आयाम है। इस आयाम में काल का भी रूपान्तरण घटित होता है, जिस रूपान्तरण का एक पक्ष काल का तीन आयामों में विभाजन है : हम वर्तमान में होते हैं, अतीत का स्मरण करते हैं, और भविष्यत् के लिए योजनाएं बनाते हैं। ऐसा न तो चेतना के उस स्तर पर होता है जो पूर्णतः विषयात्मक है और न उस चेतना के लिए जो पूर्णतः निर्विषय है, यह केवल चेतना के उस स्तर पर घटित होता है जो विषय-ग्राह से अंशतः मुक्त होकर उसके माध्यम से अपने अर्थों को ग्रहण करती है। यह द्रष्टव्य है कि यद्यपि सभी वर्तमान भूत पर प्रतिष्ठित और भविष्यत् की ओर उन्मुख होता है : सभी प्राणी परिचय के सन्दर्भ में नवीन का ग्रहण करते हैं और उसके प्रति क्रिया के लिए अपने को तैयार करते हैं : किन्तु ये अतीत और भविष्यत् वास्तव में वर्तमान के ही अन्तर्गत आकलनीय होते हैं। इस प्रसंग में 'अतीत' और 'भविष्यत्' पद परिचय और सम्भावना से आविष्ट घटनाओं के विशेषणों के रूप में ही अभिप्रेत होते हैं। ये विशेषण उद्भिन्न चित्त के लिए घटनाओं को एक परंपरा में : कारण-कार्य-परम्परा या प्रतीत्य-समुत्पाद-परम्परा में : प्रतिष्ठित करते हैं और यह परम्परा दोनों ओर स्वरूपतः अनन्त होती है। यद्यपि प्रत्येक वस्तु सादि और सान्त होती है किन्तु कारण-कार्य-क्रम में यह अनिवार्यतः अनादि-अनन्त क्रम की एक कड़ी मात्र होती है। किन्तु क्योंकि यह सादि-सान्त होती है इसलिए यह काल-मय भी होती है, और जो काल-मय है वह अनिवार्यतः अनादि-अनन्त कारण-कार्य-परम्परा का एक भाग मात्र होता है, उसका कोई अपना स्वत्व नहीं होता। इस क्रम में वास्तव में वर्तमान का प्रायः कोई अर्थ नहीं रह जाता, यह केवल अतीत और भविष्यत् को पृथक् करने वाला एक उद्ग्रहणात्मक (एब्स्ट्रेक्ट) बिन्दु मात्र रह जाता है जिसकी अपनी दूसरी कोई मात्रा नहीं होती। किन्तु द्रष्टव्य है कि ऐसा केवल भौतिक जगत् की वस्तुओं

के लिए ही सत्य है, और भौतिक जगत् में कोई वस्तु व्यष्ट्यात्मक होती ही नहीं। सम्पूर्ण भौतिक जगत् अपने में एक अखंड वस्तु है। इसमें व्यष्टिता का आविर्भाव या तो प्राण के प्रवेश से होता है या चित्त के प्रवेश से। उदाहरणतः चिड़िया और घोंसला क्रमशः प्राण और चित्त-मूलक हैं, चिड़िया को चित्त और प्राण का संयुक्त फल भी कहा जा सकता है। इन दोनों को अनादि-अनन्त कारण-कार्य-शृंखला में अपचित नहीं किया जा सकता, और इनका वर्तमान अतीत-अनागत को विभाजित और समाहित करने वाली एक निश्चित कड़ी होता है। ठीक बात यह है कि प्राण-मूलक वस्तुएं केवल वर्तमान की विपुलता को ही प्रदर्शित करती हैं, क्योंकि उनका निमित्त और तत्त्व अस्तित्व : अस्ति-त्व : मात्र होता है। इसमें अतीत अस्तित्व को : वर्तमान को : घटित करने का प्रयत्न और भविष्यत् इसके क्रियान्वयन के प्रयत्न का आधार होता है। अवश्य भविष्यत् इसके नाश की सम्भावना भी है, जिस सम्भावना का उत्तर यह अस्तित्व अन्य असंख्य अस्तित्वों के सृजन के द्वारा देता है। फूल जैसे खिलता और रंग तथा गन्ध की अमित राशि विकीर्ण करता है, पक्षी-शावक अंडे को तोड़कर या बीज मिट्टी की परतों को फोड़ कर जैसे निकलते हैं उससे अस्तित्व के सुखोपभोग की आकुलता प्रकट होती है। यह आकुलता ज्ञानेन्द्रियों के रूप में एक दूसरे आयाम को प्रकट करती है : भोजन देह को अस्तित्व में बनाये रखने का प्रयोजन सिद्ध करता है और इसकी शरीर में एक व्यवस्था है जो अपने-आप में पर्याप्त है, किन्तु रसना उसी भोजन में आस्वाद्यता को आविर्भूत करती है जिसमें निष्प्रयोजन सुखोपभोग-तत्त्व की अभिव्यक्ति और उपभोग की आकुलता प्रकट होती है। इसी प्रकार वर्णों की छटा और गन्धों का वैविध्य केवल अस्तित्व के वैभव की विपुलता के उद्‌गार मात्र हैं। ज्ञानेन्द्रियों को अस्तित्व के उपयोगी उपकरणों के रूप में देखना भ्रामक है, यद्यपि अस्तित्व के उपयोग की सिद्धि भी अस्तित्व की अपार सुखदता और निरपेक्ष मूल्यवत्ता को ही प्रदर्शित करती है, किन्तु वास्तव में ज्ञानेन्द्रियां अस्तित्व की विपुलता और अतिशयता की अभिव्यक्ति हैं। इन्द्रियों की अनेकता विशेष रूप से इसकी पुष्टि करती है। जैव जगत् इस अस्तित्व की, वर्तमान की, आत्मप्रतिष्ठा का ही सन्दर्भ कहा जा सकता है। यह इसके भविष्यत् के स्वरूप से पूर्णतः स्पष्ट है जो केवल अस्तित्व की आवृत्ति-परकता और इस प्रकार वर्तमान को अक्षुण्ण रखने का प्रयत्न मात्र होता है।

किन्तु अस्तित्व की इस आवृत्तिमात्रता के साथ एक विकास का क्रम भी देखा गया है। यह क्रम डारविन ने जैव जगत् में देखा। भौतिक जगत् में ऐसा क्रम अभी तक नहीं देखा गया है।[1] किन्तु तब भौतिक जगत् में अस्तित्व की उद्विग्नता,

1. भौतिक से जैविक की उत्पत्ति में एक विकास, अथवा एक गूह्य प्रयोजन का क्रियान्वयन भी, देखा जा सकता है; किन्तु भौतिक-वैज्ञानिक पदावली में ये अवधारणाएं ग्राह्य नहीं हैं।

अस्तित्व का आह्लाद भी दिखायी नहीं देता। जैव जगत् में भी डारविन से पहले किसी ने विकास-क्रम नहीं देखा था, प्राचीनों के लिए प्रत्येक जाति एक पृथक् वस्तु थी। डारविन ने इन जातियों को विकासमान जैव सत्ता की अवस्थाओं के रूप में देखा, किंतु उसके अनुसार यह विकास यांत्रिक था : नियत कारण से नियत कार्य की उत्पत्ति के सिद्धांत का अनुसारी, भाव्योन्मुख, या अन्त:स्फूर्त अथवा स्वरूपान्वेषी नहीं। अवश्य उसकी यह यांत्रिकता मानसी थी : चयनात्मक और आवश्यकता-मूलक: किन्तु उसका आदर्श भौतिक ही था। किन्तु यदि यांत्रिक व्यवस्था विकासात्मक हो सकती है तब भौतिक जगत् में भी विकास-क्रम होना चाहिए था। किन्तु यहां विचारणीय यह नहीं है कि भौतिक जगत् में विकास-क्रम है या नहीं, यहां विचारणीय यह है कि यदि यह क्रम यांत्रिक है तब क्या इसे विकासात्मक कहा जा सकता है? इसका उत्तर हो सकता है कि, अवश्य कहा जा सकता है, उदाहरणत: सरल से जटिल और जटिल से जटिलतर की उत्पत्ति का क्रम तब यांत्रिक कहा जा सकता है यदि इसे मात्रात्मक मूल्य के अतिरिक्त और कोई मूल्य नहीं दिया जा सके तो। किन्तु यदि जटिलता में कोई उत्कर्ष देखा जाता है तब वह व्यवस्था यांत्रिक नहीं रहती। वास्तव में वैज्ञानिकतावादी निर्मूल्यीकरण में इससे भी आगे गए, उन्होंने क्रम मात्र को विकास कहा, वह चाहे सरल से जटिल की ओर हो या जटिल से सरल की ओर। ऐसी अवस्था में जैव विकास का सरल से जटिल की ओर होना एक संयोग मात्र है, यदि यह जटिल से सरल की ओर होता तो भी यह विकास ही होता। अथवा कहें, यह क्रम कालात्मक नहीं है, अतीत और भविष्यत् पूर्व और पश्चिम के समान हैं, आगे और पीछे की ओर गमन में कोई स्वरूप-भेद नहीं है। सामान्य जन यदि प्रथम को 'विकास' और दूसरे को 'ह्रास' की संज्ञा देते हैं तो यह उनकी दृष्टि की अवैज्ञानिकता का : मूल्यात्मक निकृष्टता का : ही द्योतक है, वस्तुस्थिति की मूल्यात्मकता का नहीं।

किन्तु यहां प्रश्न किया जा सकता है कि जैव जगत् में जातियों को आत्म-तंत्र और पृथक् सत्ताएं क्यों नहीं माना जाय, क्योंकि ये प्लेटो के प्रत्ययों के स्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती हैं, जबकि भौतिक जगत् में ऐसा दिखाई नहीं देता। यदि भौतिक जगत् में पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि को जातियां माना भी जाय तब भी इनमें एक से दूसरे की उत्पत्ति में कोई तारतम्य : तर-तमता : नहीं कहा जा सकता, इसे केवल एक का दूसरे में रूपान्तरण कहा जा सकता है, क्योंकि पृथ्वी से जल और जल से पृथ्वी में रूपान्तरण पूर्ण रूप से समान प्रक्रियाएं हैं और परिणामत: इसमें पार्थक्य और आत्मतंत्रता नहीं है। अब, प्रश्न है कि जैव जगत् में व्यष्टि जाति का और जातियां क्रम का निर्माण कैसे कर सकती हैं? किन्तु जातियां क्रम का अवधारणात्मक रूप से नहीं वस्तुत: निर्माण करती हैं, यह बात जीवविज्ञान पर्याप्त निश्चयात्मक रूप से प्रमाणित कर चुका है। किन्तु यह विकास एक उत्स्फूर्ति

मात्र है, या खुलना है, या आत्म-क्रियान्वयन है, अथवा स्वरूप-साधना, यह निर्णय विज्ञान के क्षेत्र में नहीं आता। किन्तु जैव विकास की अत्यधिक अपव्यय, दिशा-भ्रमों, बिखरावों के बावजूद गठन और व्यवस्था के उत्कर्ष की ओर एक निश्चित प्रगति, तथा इस जैव प्रगति का चेतना के स्वातंत्र्य की सिद्धि की दिशा में प्रगति से सामंजस्य विकास की निश्चित लक्ष्योन्मुखता की ओर संकेत करता है : लक्ष्योन्मुखता लक्ष्य की अवास्तविक विद्यमानता की, अथवा कहें अनस्तिसत्ता की, द्योतक है जिसके आधार पर अस्तित्व अपनी सार्थकता प्राप्त करता है। यह विकास ही आत्मबोध-सम्पन्न होने पर, अतीत की स्मृति और भविष्यत् की कल्पना से मंडित होने पर, इतिहास बनता है। इस प्रकार प्राणि-जगत् में हम काल की दृष्टि से दो प्रकार की घटनाएं देखते हैं, अस्तित्वात्मक तथा भाव्यात्मक या विकासात्मक। ये दोनों प्राणि-जगत् के प्राणिक स्तर पर घटित होती हैं। प्राणि-जगत् में ही सत्ता का एक दूसरा स्तर या प्रकार मानसिक है जो पुनः द्वि-आयामात्मक है। इन दो आयामों में भी काल के दो भिन्न रूप दिखायी देते हैं। इनमें एक आयाम क्रिया-प्रतिक्रियात्मक है और दूसरा आवरणापनयनात्मक। प्रथम का उदाहरण सम्पूर्ण प्राणि-व्यवहार है : मछलियों और पक्षियों की प्रवास-यात्राएं, भूख लगने पर भोजन की खोज, और भोजन दिखाई देने पर उसकी ओर प्रवृत्ति या औदासीन्य, तथा हमारा आवेगात्मक या बौद्धिक व्यापार आदि। दूसरे का उदाहरण चेतना का विषय से सम्बन्ध है। जैसाकि दर्शन के विद्यार्थी जानते हैं, कुछ दार्शनिक चेतना को अनिवार्यतः विषयात्मक मानते हैं और कुछ स्वरूपतः निर्विषय। यहां यह विवाद हमारे लिए अप्रासंगिक है।[2] किन्तु यहां यह देखना महत्त्वपूर्ण है कि सविषया चेतना का भी विषय से सम्बन्ध सर्वत्र एक-सा नहीं है। उदाहरण के लिए आवेग या कामनातिशय में एक ओर तथा तटस्थ विचार में दूसरी ओर हमारी चेतना का विषय से सम्बन्ध सर्वथा भिन्न प्रकार का होता है। दूसरी दशा में यह पर्याप्त स्वतंत्र होता है। अशिक्षित व्यक्ति विषय को उसके अपने तंत्र में ग्रहण करने में अपेक्षाकृत असमर्थ होता है जबकि वैज्ञानिक अधिकाधिक समर्थ होता है। दर्शन में यह स्वातंत्र्य पराकाष्ठा पर होता है। अशिक्षित जनोचित विषयिनिष्ठता वास्तव में चेतना की विषयावृतता : विषय के आवरण में निबद्धता : है, क्योंकि चेतना उसी सीमा तक विषय को उसके तंत्र में प्रतिष्ठित कर पाती है जिस सीमा तक यह उससे तटस्थ हो पाती है। ताटस्थ्य की यह सामर्थ्य मनुष्य में जात्या सब प्राणिओं से अधिक है, इसी प्रकार पशु-जातियों में भी इसके न्यूनाधिक्य का क्रम है जो जैव विकास में स्तर-क्रम का सहगामी है। जैव आयाम में मस्तिष्क की संरचनात्मक उत्कृष्टता-निकृष्टता के अनुसार चिन्मूलक आयाम में सामर्थ्य-भेद

2. इस पर पीछे अनेक स्थलों पर विचार हो चुका है, विशेष विस्तार से अध्याय 7 में।

के संकेत कुछ अंश तक पढ़े जा सकते हैं। इस प्रकार जैविक विकास के अनुरूप चेतना के इस आयाम में भी विकासात्मकता देखी जा सकती है, यद्यपि जैविक विकास से भिन्न इस आयाम में प्रगति एक निश्चित गन्तव्य की ओर उन्मुख देखी जा सकती है। इस आयाम की एक पराकाष्ठा है, चेतना की विषयात्मकता, जो वनस्पतियों और कृमियों में देखी जा सकती है, और एक दूसरी पराकाष्ठा है निर्विषयता, जिसकी ओर प्रगति की उच्चतम सिद्धि एक ओर तत्त्व-चिन्तन में और दूसरी ओर मन के नियमन, अथवा कहें नैतिक आत्म-नियोजन में, दृष्टिगत होती है। कुछ दार्शनिक, जैसे हेगल और श्री अरविन्द, प्रथम पराकाष्ठा स्वयं भौतिकता के रूप में ही देखते हैं, क्योंकि विषयता अपने शुद्धतम रूप में भौतिकता में ही उपलब्ध होती है; जीव के आविर्भाव के साथ इस शुद्ध विषयता में एक आत्म-विभाजन घटित हो जाता है जो विषय-मुक्ति की यात्रा का प्रथम चरण बनता है। किन्तु भौतिकता चेतना या चित्त का आयाम नहीं होकर चित् का आयाम है, और इसी प्रकार निर्विषयता भी चेतना का आयाम नहीं होकर चित् का आयाम है, चेतना अनिवार्यतः विषयात्मक है और निर्विषयता इसका साध्य है। इस प्रकार चेतना चित् के दो छोरों : विषयभाव और निर्विषयता : के बीच चित् की आत्माभिव्यक्ति के इतिहास की माध्यम बनती है।

किन्तु 'इतिहास' शब्द का यह प्रयोग केवल गौण अर्थ में ही समझना चाहिए, क्योंकि जैसाकि हमने पीछे कहा, इतिहास काल में अतीत, वर्तमान और भविष्यत् के आयामों के आविर्भाव को पूर्वापेक्षित करता है और यह आविर्भाव चेतना में विषय-विषयि-द्वैत के आविर्भाव को पूर्वापेक्षित करता है। इस प्रकार मनुष्य से पहले, अथवा कहें भाषा के आविर्भाव से पहले, का काल विकासात्मक तो कहा जा सकता है किन्तु इतिहासात्मक नहीं, जब तक यह नहीं माना जाता कि संपूर्ण विकास चित् का आत्माभिव्यक्ति के लिए महाभिनियोजन है और इस प्रकार संपूर्ण जगत् एक विराट् इतिहास है जिसमें मानव का इतिहास एक अध्याय मात्र है। एक दूसरा विकल्प हो सकता है कि मनुष्य के आविर्भाव से पहले का सम्पूर्ण विकास इतिहास के आविर्भाव की तैयारी है और मनुष्य के आविर्भाव के साथ यह सम्पूर्ण कालक्रम इतिहास में रूपान्तरित हो जाता है।

इनमें पहले विकल्प को स्वीकार करने में यह कठिनाई है कि इससे प्राकृतिक विकास को आत्मचेतन मानना होगा और इस प्रकार प्रकृतिगत आद्य चित् को विषय-विषयि-रूप में आत्मविभक्त मानना होगा। किन्तु यह आत्मविभक्तता वैयक्तिकता को पूर्वापेक्षित करती है और वैयक्तिकता सीमितता को। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है, क्योंकि आत्मचेतनता के लिए सीमितता को पूर्वापेक्षित मानने का अर्थ होगा कि अनात्मचेतन असीम है और इस प्रकार कृमि-कीट असीम चेतनात्मक हो जाएंगे। इसके विपरीत हमने पीछे देखा है कि चेतना आत्मोन्मुखता

के स्तर के अनुसार विषय की और मानसिकता की सीमाओं से मुक्त होती है। इस प्रकार यद्यपि मनुष्य में आत्मचेतना आत्मविभक्त रूप में ही मिलती है किन्तु हम यह भी देखते हैं कि आत्मोन्मुखता के उत्कर्ष के साथ क्रमशः विषय की विशिष्टता, गुरुता और स्थूलता भी व्यापकता और सूक्ष्मता में विलीन होती जाती है, और विषयी के विषय-सापेक्ष, अथवा कहें विषय के विषयि-सापेक्ष होने से विषय की सूक्ष्मता और निर्विशिष्टता के साथ विषयी भी सूक्ष्म और निर्विशिष्ट होता जाता है। इस प्रकार पूर्णतः आत्मचेतन वास्तव में पूर्णतः अविभक्त, पूर्णतः आत्म-अव्यवहित और निस्सीम भी होता है, जोकि चित् है। किन्तु तब यहां आपत्ति हो सकती है कि उस अवस्था में अभिनियोजन का कोई अर्थ नहीं रहता, क्योंकि अभिनियोजन अव्यवहितत्व में बाधा का, व्यवहितत्व का, द्योतक है, और अभिनियोजक स्वयं अपने को बाधित करे, यह बात बोधगम्य नहीं है। किन्तु यह द्रष्टव्य है कि भौतिक, जैविक तथा चेतन जगत् में स्पष्ट रूप से एक अभिनियुक्त एवं सलक्ष प्रगति दृष्टिगत होती है, और सलक्ष प्रगति का अर्थ है आत्मव्यवधान का क्रमशः निवारण। तब इसको कैसे समझा जाय? इसका उत्तर हम पिछले अध्यायों में दे चुके हैं कि, व्यवधान केवल सीमित चेतना के लिए ही है, अन्यथा यह केवल वैविध्य है जो अद्वय की विपुलता है, और जटिलता केवल सम्पन्न सरलता का नामान्तर मात्र है। इस प्रकार विकास को अभिनियोजनात्मक कर्तृत्व के रूप में नहीं देखकर सम्पन्न तादात्म्य के रूप में, अथवा अखंडता के रूप में देखना ही युक्तियुक्त है।

किन्तु तब आपत्ति होगी कि यह ऐतिहासिकता का निषेध है, क्योंकि इतिहास के लिए अतीतता और भविष्यतता का वास्तविक होना अनिवार्य है। यह सही है और परिणामतः इसका समाधान होगा कि अव्यवहित-अद्वय तत्त्व इतिहासात्मक नहीं है। किन्तु दूसरी ओर इतिहास अनिवार्यतः अव्यवहित तत्त्व का पूर्वापेक्षी है, क्योंकि इतिहास तारतम्य : तर-तमता : को, तारतम्य साध्य लक्ष्य को, लक्ष्य की साध्यता अभाव को, और अभाव पूर्ण भाव को पूर्वापेक्षित करता है।

तब क्या प्राकृतिक विकास को इतिहास कहा जा सकता है? इसका उत्तर दो कारणों से निषेधात्मक होगा, एक तो इस कारण से क्योंकि प्राकृतिक विकास अतीत और भविष्यत् का संग्राहक तो है किन्तु अतीत का अतीतता में और भविष्य का भविष्यता में प्रकाशक और प्रतिष्ठापक नहीं है,[3] जो कि इतिहास

3. यहां यह द्रष्टव्य है कि बर्गसों ने एक-आयामात्मक काल को सत्ता और सत्ता से समरस चित्त का लक्षण कहा है। हम काल को सत् का लक्षण नहीं मानते और एक-आयामात्मक काल को अनुद्भिन्न : विषय-तदात्म : चेतना का लक्षण मानते हैं।

के लिए पूर्वापेक्षित है। दूसरे इस कारण क्योंकि अभाव के आत्मचेतन हुए बिना अभाव वास्तविक नहीं रहकर निरपेक्ष के भीतर सापेक्ष स्थिति मात्र रह जाता है, जैसे अवयवी के अन्तर्गत उसके अवयव, अथवा वेदनामात्र रह जाता है, जैसे पौधे अथवा कृमि में भूख-प्यास। अवश्य दूसरे प्रकार के अभाव में एक लक्ष्योन्मुखता और नियोजनात्मकता है, किन्तु यह विकासोपयोगी नहीं होकर अस्तित्वोपयोगी है।

इस प्रकार ऐतिहासिकता का आरम्भ मनुष्य के साथ ही होता है, जिसमें काल और क्रम आत्मचेतन होते हैं। किन्तु यहां तीन आपत्तियां हो सकती हैं। एक यह कि 'मनुष्य' से अभिप्राय 'व्यक्ति' से है या कि 'समाज' से, यह स्पष्ट नहीं है। और कोई कारण नहीं है कि मनुष्य को व्यक्ति-रूप में नहीं देखकर समाज-रूप में देखा जाय। अब, व्यक्ति-जीवन में यदि ऐतिहासिकता के सभी लक्षणों की विद्यमानता भी स्वीकार कर ली जाय तो भी उसकी जीवनी को इतिहास नहीं कहा जाता। और वास्तव में व्यक्ति-जीवन में ऐतिहासिकता के सब लक्षण भी नहीं हैं। इसमें प्रमुखतम लक्षण : लक्ष्य के लिए पर्याप्तता : का अभाव है—यदि व्यक्ति को एक जीवन तक ही सीमित माना जाय तो ; क्योंकि दैहिक स्तर पर व्यक्ति में यौवन के बाद ह्रास-क्रम आरम्भ हो जाता है और मानसिक स्तर पर अधिकांश जीवनियां किसी एक तथा ऐतिहासिकता के लिए पर्याप्त लक्ष्य की ओर उन्मुख दिखायी नहीं देतीं। अधिकांश में उनके साध्य तात्कालिक होते हैं। किन्तु यदि व्यक्ति को पुरुषार्थोपलब्धि-पर्यन्त पुनर्जन्मों की शृंखला के रूप में देखा जाता है, जैसा भारतीय संस्कृति ने देखा और कांट ने अभीष्ट के रूप में कल्पित किया, तब दूसरी बात है। किन्तु वास्तव में व्यक्ति की जीवन-यात्रा को जन्म-जन्मान्तरों के क्रम में भी इतिहास नहीं कहा जाता। इतिहास केवल एक समाज की, या सार्वभौम मानव की, या विश्व की ही, यात्रा को कहा जाता है और यह एक अत्यन्त अर्थ-गर्भ बात है। अर्थ यह कि व्यक्ति अन्ततः अवयव मात्र है, आत्मपूर्ण अवयवी नहीं। इस प्रकार इतिहास के लिए 'मनुष्य' पद का अर्थ व्यक्ति नहीं हो सकता।

इतिहास को अधिकांशतः समाजमूलक ही देखा गया है, कभी-कभी विश्व-मानव-मूलक भी देखा गया है। किन्तु इतिहास का वाहक समाज को मानने पर भी समस्या ज्यों की त्यों रहती है, क्योंकि यद्यपि समाज में सांस्कृतिक परम्परा के रूप में चरितार्थन या क्रियान्वयन-परक एक लक्ष्योन्मुख गति दिखायी देती है किन्तु यह गति न अनवरत होती है और न लक्ष्य-सिद्धि-पर्यन्त, यह एक प्रकार की जैविकता प्रदर्शित करती है, जिसकी ओर ओस्वाल्ड स्पैंगलर ने संकेत किया है। स्पैंगलर द्वारा जैव देह और संस्कृति के वृद्धि-क्षय-क्रम में साम्य का प्रतिपादन अत्युक्तिपूर्ण होने पर भी इस बात में युक्त है कि संस्कृतियां अभिवर्द्धित और क्षीण

होती हैं, अवश्य यह अभिवृद्धि और क्षीणता उतनी संस्कृतिमूलक नहीं होती जितनी सामाजिक कारणतामूलक होती है। संस्कृति किसी मूल्यात्मक प्रत्यय का सामाजिक आयाम में अवधारण है और सांस्कृतिक इतिहास उस प्रत्यय के साक्षात्कार का, अथवा कहें अवधारणा के चरितार्थन और विवेचन का क्रम। अब इसमें यौवन, वार्द्धक्य आदि का कोई क्रम देखना तर्कतः अयुक्त है, जैसे व्यक्ति में होने वाले किसी विचार के विकास में कोई ऐसा क्रम और नियति देखना। व्यक्ति के देह में इस प्रकार का क्रम और नियति अवश्य है, समाज में भी एक प्राणिक उत्कर्ष और प्राणिक ह्रास के काल और क्रम देखे जाते हैं, किन्तु वे जैव नहीं होकर मनोवैज्ञानिक और आगन्तुक होते हैं और बार-बार आते और जाते रहते हैं। इसे गीता के "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत, अभ्युत्थान-मधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम्" श्लोक के अनुसार देखा जा सकता है, इसके पौराणिक पक्ष को छोड़कर। उदाहरण के लिए भारतीय इतिहास में बुद्ध, गुप्त-साम्राज्य, 14वीं-15वीं शताब्दी के सन्त कवि, अंग्रेजी राज्य की प्रतिक्रियास्वरूप स्वतन्त्रता-पर्यन्त का नवजागरण आदि देखे जा सकते हैं जिनके कारण समाज में नव युगारम्भ हुए। ये नवारंभ किसी नये विचार के साथ होते हैं जो मूल सांस्कृतिक प्रत्यय का अधिकांश में नवावधारण या नवीनीकरण होता है, किन्तु कुछ समय बाद उसके प्रति सृजनात्मकता समाप्त होकर एक आभ्यासिकता : रूढ़ि-परता : आ जाती है। इस अवस्था का अधिष्ठान संस्कृति को नहीं बल्कि प्राकृतिक मनस् को कहा जा सकता है। आभ्यासिकता देह और प्राकृतिक मनस् का स्वभाव है, जबकि संस्कृति मूल्य-प्रत्यय के क्रियान्वयन में प्राकृतिक मनस्-स्तरीय होने पर भी मूल्य-प्रत्यय के अवधारण और बोध में अतिप्राकृतिक होती है। प्राकृतिक मनस् में ह्रास और क्षय के लक्षण दो आधारों पर प्रकट होते हैं, दैहिक ह्रास के आधार पर और अतिप्राकृतिक मनस् से संपर्क छूट जाने के आधार पर। व्यक्ति में ये दोनों प्रकार के ह्रास देखे जाते हैं, यद्यपि दैहिक ह्रास अनिवार्य रूप से मानसिक ह्रास को भी उत्पन्न करे, यह आवश्यक नहीं है। दूसरे प्रकार का ह्रास प्रथम प्रकार के ह्रास से स्वतन्त्र होने पर भी उससे प्रेरित होता है और दूसरे प्रकार के ह्रास का अभाव प्रायः ही प्रथम प्रकार के ह्रास को भी विलंबित करता है। किन्तु संस्कृति के क्रियान्वयन का वाहक समाज होने से संस्कृति में देहमूलक ह्रास केवल प्राकृतिक प्रकोप अथवा बाह्य आक्रमणों से होता है, अन्यथा इसमें सब ह्रास प्राकृतिक मनोमूलक होता है, जो केवल तब तक रहता है जब तक मन अति-प्राकृतिक मनस् की ओर उन्मुख नहीं होता। व्यक्ति में भी ऐसी उन्मुखता के क्षण आते रहते हैं, यद्यपि अधिकांश व्यक्तियों में ये कभी भी नहीं आते। इसी प्रकार समाज के लिए भी है। किन्तु यह सब होने पर भी किसी एक संस्कृति की ऐति-हासिक यात्रा न अनवरत होती है और न पार्यन्तिक। यदि यह कहा जाय कि

इतिहास के लिए यह कोई शर्त नहीं है कि प्रगति लक्ष्य-पर्यन्त और शाश्वत हो, केवल लक्ष्योन्मुख गति होना मात्र ही अपेक्षित है, तो इसका उत्तर होगा कि उस अवस्था में व्यक्ति की जीवनी को भी इतिहास क्यों नहीं कहा जाय ? व्यक्ति-जीवनी को इतिहास नहीं कहने का कारण एक जीवनी की अन्तर्वस्तु का इतिहास के लिए अपर्याप्त होना है, यद्यपि जीवनी को 'वैयक्तिक इतिहास' कहने में कोई दोष नहीं है, विशेषत: यदि वह व्यक्ति के एक जन्म तक सीमित नहीं हो तो। इसी प्रकार समाज की लक्ष्योन्मुख यात्रा के लिए भी है। किन्तु इस यात्रा में स्थायी स्खलन या पूर्ण विराम इतिहास के लिए समाज या संस्कृति की अपर्याप्तता प्रदर्शित करते हैं। यह अपर्याप्तता एक अन्य प्रकार से भी प्रदर्शित होती है, और वह इससे कि प्रत्येक संस्कृति एक अवधारणा, एक जीवन-विधि, अथवा एक रीति, या एक शैली-जैसी होती है, जो अनेक सम्भव रीतियों या विधियों में से एक होती है, और लक्ष्योन्मुख होने पर भी इसमें लक्ष्य की युक्तता या सत्य के सम्बन्ध में कोई स्वगत प्रामाणिकता नहीं हो सकती, जो तथ्य इसे मात्र एक प्रयोग बना देता है। परिणामत: इतिहास का वाहक केवल मानव-सामान्य ही हो सकता है, और विभिन्न संस्कृतियां इसकी विभिन्न रीतियां और विभिन्न प्रयत्न मात्र। किन्तु तब प्रश्न होगा कि, ये विभिन्न प्रयोग और प्रयत्न युक्त लक्ष्य की ओर ही उद्दिष्ट हैं, अथवा मानव-सामान्य : मानवता : की यात्रा युक्त दिशा की ओर ही अग्रसर है, अयुक्त की ओर नहीं, यह कैसे कहा जा सकता है ?

किन्तु विश्वमानव-मूलक इतिहास वास्तव में मानव तक सीमित नहीं रहता, वह या तो अतिमानवीय अभियोजन का उपकरण हो जाता है अथवा आत्मा की अलौकिक यात्रा का एक चरण। किन्तु यह वास्तव में ऐतिहासिक दृष्टि का एक दोष नहीं होकर उसकी अनिवार्यता है। यहां कांट[4] और हेगल[5] का एक ओर तथा पौराणिक और धार्मिक इतिहास-दृष्टियों का दूसरी ओर स्मरण प्रासंगिक है। कांट और हेगल अपने विचार का विषय विश्व-इतिहास को कहते हैं। किन्तु इससे उनका अभिप्राय विश्वमानव से ही है। किन्तु दोनों में इतिहास का अभि-योजक विशिष्ट या सामान्य मानव नहीं होकर क्रमश: प्रकृति और प्रत्यय (आइडिया) है। कांट में प्रकृति अपने अन्तर्हित लक्ष्य की सिद्धि के लिए मानव-व्यक्तियों की परस्पर अनियोजित क्रियाओं को अपने प्रयोजन की सिद्धि के अनु-सार नियुक्त करती है और हेगल में इतिहास : पूर्ण चिदुन्मुख प्रत्यय : अपनी चातुरी (कनिंग) से व्यक्तियों और समूहों तथा समाजों को अपने प्रयोजन के

4. कार्ल जे० फ्रीड्रिख (संपा०) दि० फिलोसोफी ऑफ कांट : मॉरल एण्ड पोलिटिकल राइटिंग्स में "आइडिया फोर ए यूनीवर्सल हिस्ट्री विद् कोस्मोपोलिटन इंटेंट" लेख, पृ० 116-131.

5. हेगल—दि फिलोसोफी ऑफ हिस्ट्री, इंट्रोडक्शन।

लिए नियुक्त करता है। इस प्रकार मानव-इतिहास इन दोनों के अनुसार विश्व-इतिहास का एक चरण मात्र हो जाता है। किन्तु मानवता के इतिहास की अवधारणा का यह अनिवार्य आत्मोत्क्रमण इतिहास-दृष्टि के दोष का द्योतक नहीं है बल्कि वास्तव में इस तथ्य के कारण है कि कोई वस्तु स्वरूपत: आत्म-पर्याप्त, आत्म-पर्यवसायी नहीं होती बल्कि संपूर्ण में अपनी सिद्धि पाती है।

किन्तु जैसाकि हमने कहा, इतिहास को अधिकांशत: समाजमूलक देखा गया है। इसका कारण यह है कि, जबकि देह के रूप में बाह्यत: और मनस् के रूप में आन्तरत: केवल व्यक्ति ही एक ठोस वस्तु है, भाषा, वाङ्मय-परम्परा, राज्य, भौगोलिक एकत्व आदि के रूप में समाज भी एक पर्याप्त ठोस रूप ले लेता है। अब यह समाज इस वस्तु के रूप में 'हम', 'हमारा', 'अन्य', 'अन्य का' आदि सर्वनामों का प्रयोग भी करने लगता है और इस अस्मिता की देशात्मक काया के समान परम्परा के रूप में कालात्मक मानसिकता का भी आविर्भाव हो जाता है।

यहां दो आपत्तियां प्रासंगिक हैं : प्रथम यह कि, यदि सामाजिक वैयक्तिकता का अस्तित्व स्वीकार कर भी लिया जाय तो भी उसमें एक समन्वित और लक्ष्योन्मुख अतीत तथा वर्तमान है, यह कैसे कहा जा सकता है? जैसाकि हमने ऊपर देखा, वैयष्टिक व्यक्ति में भी एक सुनियोजित मानसिकता और स्थायी लक्ष्योन्मुखता अलभ्य होती है, समाज की तो फिर बात ही क्या है। दूसरी यह कि, यदि समाज में सुनियोजित मानसिकता और स्थायी लक्ष्योन्मुखता स्वीकार कर भी ली जाय तो भी क्रिया का केन्द्र और कर्त्ता व्यष्टि होता है और इसके प्रयोजन तथा लक्ष्य समाज के और सामाजिक इतिहास के प्रयोजनों और लक्ष्यों से समरस तथा उनसे निर्दिष्ट नहीं होते। इसके अतिरिक्त : और यह एक मौलिक महत्त्व की बात है कि : समाज भी किसी लक्ष्य की ओर अनवरत प्रगति प्रदर्शित नहीं करता, बल्कि कुछ काल के बाद पथान्तर की ओर अथवा ह्रास और क्षय की ओर अग्रसर होता है।

इसका एक उत्तर हो सकता है कि इतिहास का अर्थ एक निश्चित और उत्कर्षात्मक प्रगति नहीं है बल्कि एक सार्थक क्रम में व्यवस्थापित अतीत है। वास्तव में इतिहास-लेखन के हमें जितने भी उदाहरण मिलते हैं सबमें इतिहास इसी रूप में देखा गया मिलता है। अवश्य पौराणिकों ने, और कुछ दार्शनिकों ने भी, इतिहास को एकदिशोन्मुख सार्वभौम प्रगति के रूप में देखा है, किन्तु इनमें प्रथम ने यह गति साधारणत: पतनोन्मुख ही देखी है, उत्कर्षोन्मुख नहीं। इसके विपरीत कुछ दार्शनिकों ने, जैसे कांट, हेगल और श्री अरविन्द ने, इस गति को उत्कर्षोन्मुख देखा है, किन्तु इनमें केवल हेगल ने ही इस विचार को वास्तव अतीत में प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है, जिस प्रयत्न की असफलता में किसी को सन्देह नहीं है। किन्तु यदि इतिहास को इस कारण एक सार्वभौम दिशोन्मुख प्रगति

या अधोगति के रूप में नहीं देखा जाता कि इस दृष्टि को वास्तविक मानव-जीवन से सम्बन्धित नहीं किया जा सकता, तो यह कठिनाई हमें इतिहास-विषयक किसी भी व्यापक दृष्टि से वंचित कर सकती है, क्योंकि किन्हीं भी घटनाओं के दैशिक क्षेत्र, सन्दर्भ और काल बहुत सीमित होते हैं और उन्हें किसी सार्थक ऐतिहासिक व्यवस्था के अन्तर्गत लाने में वस्तु-दृष्टि को छोड़ना अनिवार्य होता है। उदाहरणतः भारतीय इतिहास में गुप्त-युग को लें। सर्वप्रथम, भारत के इतिहास में यह एक बहुत छोटा कालखण्ड है, दूसरे, गुप्त राजा एक राज्य-संस्था के अध्यक्ष थे, जो संस्था कितनी भी महत्त्वपूर्ण होने पर भी परिवार, विद्यालय आदि संस्थाओं और साहित्य, दर्शन, संगीत, चित्र आदि की परम्पराओं के लिए केन्द्रीय नहीं हो सकती, क्योंकि इन सबके अपने-अपने केन्द्र थे, और इनकी परंपराएं गुप्तों के काल से सीमित नहीं थी। राजनीतिक दृष्टि से भी गुप्त युग को अपने में एक पूर्ण, या पर्याप्त भी, व्याख्या-सन्दर्भ नहीं बनाया जा सकता। राजनीतिक घटना-क्रम की दृष्टि से यदि गुप्त-युग को कारण-कार्य-शृंखला से विच्छिन्न कर भी लिया जाय तो भी सांस्कृतिक दृष्टि से : उन प्रवृत्तियों की दृष्टि से जो गुप्त-युग की और गुप्त-राजाओं की मानसिकता के आधार में उसी प्रकार थीं जिस प्रकार खेती की उपज के आधार में खाद होती है, अथवा तूफान के आधार में वायु-मण्डल की स्तब्धता होती है : इसे सम्पूर्ण परम्परा से पृथक् नहीं किया जा सकता। और वास्तव में राजनीतिक घटनाओं की दृष्टि से भी इस युग का कारण-कार्य-सम्बन्ध-विस्तार कम नहीं है। अब, जैसे ही हम इतिहास को इस प्रकार देखते हैं, हमारे वास्तविकता के आग्रह की निरर्थकता स्पष्ट हो जाती है। किन्तु ठीक बात यह है कि किसी छोटे प्रदेश के छोटे काल-खंड में भी घटना-क्रम का सार्थक व्यवस्थापन, जोकि किसी इतिहास-लेखन या इतिहास-विचार के लिए न्यूनतम शर्त है, प्रदत्त घटनाओं से अनेकधा अधिक कल्पित घटनाओं के आक्षेप की अपेक्षा करता है। उदाहरणतः 'इन्दिरा गांधी की हत्या क्यों हुई', अथवा 'उसके बाद के उत्पात क्यों हुए' इनके विवरण देने का प्रयत्न करके देखा जा सकता है। इस प्रकार इतिहास-लेखन में हम भले ही खंडों को विषय बनाएं किन्तु इन्हें 'वास्तव इतिहास' कहना युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। किन्तु यहां यह कहा जा सकता है कि, तब भी एक सीमित देश-काल-खंड की घटनाओं का जिस प्रकार आकलन और निर्धारण किया जा सकता है एक समाज के संपूर्ण जीवन का वैसा नहीं किया जा सकता, और संपूर्ण मानव के इतिहास का निर्धारण तो और भी असाध्य है। किन्तु जितना यह दृष्टिकोण ठीक है उससे कहीं अधिक इसका विपरीत दृष्टिकोण ठीक है : हम सीमित व्यावहारिक प्रयोजनों से तो अवश्य घटनाओं के निर्धारण का एक प्रसंग निर्धारित कर सकते हैं किन्तु इतिहास का उद्देश्य यह नहीं है उसका उद्देश्य कम से कम एक समाज के जीवन में अन्तर्दृष्टि प्राप्त करना

होता है, और वह तब तक सम्भव नहीं है जब तक उस जाति के जीवन को पहले समग्र दृष्टि से नहीं देखा जाता। और सीमित देश-काल की घटनाओं को भी यदि हम एक संस्कृति के मनस् को समझने के प्रयोजन से देखते हैं तो ये उसके : सांस्कृतिक मनस् के : आधार पर ही समझी जा सकती हैं, उससे पहले और पृथक् नहीं।

किन्तु क्या संस्कृतियों या समाजों को भी एक पूर्ण एकक, अथवा कहें इतिहास का एक अपने-आप में पूर्ण वाहक, कहा जा सकता है? इसका उत्तर सकारात्मक देने का आधार यह हो सकता है कि एक संस्कृति एक ऐसा बृहत्तम एकक होती है जो एक संरचनात्मक आवयविकता प्रदर्शित करती है : मानव-जगत् में संस्कृति से विशालतर संरचनात्मक एकक या अवयवी दिखाई नहीं देता। अवश्य दो या अधिक संस्कृतियां परस्पर संपर्क में आती और परस्पर को प्रभावित करती हैं, किन्तु ऐसा वे दो अवयवियों के समान ही करती हैं। परिणामतः दो संस्कृतियों की अपनी-अपनी पृथक् ऐतिहासिक नियति होती है। किन्तु इसका नकारात्मक उत्तर भी हो सकता है, जिसका आधार यह है कि एक संस्कृति की नियति मनुष्य की ऐतिहासिक पर्येषणा को सन्तुष्ट नहीं करती, एक संस्कृति का साध्य चाहे पूर्णता ही हो : और वास्तव में यही उसका साध्य होता भी है : किन्तु यह उसके लिए असंख्य सम्भव साधना-मार्गों में से एक का संधान होता है। जैसा कि हमने पीछे कहा, एक संस्कृति अपने लौकिक जीवन में एक अवधारित प्रत्यय या मूल्य के चरितार्थन के उद्देश्य से अग्रसर होती है और कुछ समय के बाद वह क्रमशः अपनी सप्राणता खो देती है। अब, अपने आध्यात्मिक तत्त्व में एक संस्कृति इस तत्त्व के अवधारण को और लौकिक जीवन में इस अवधारणा के क्रियान्वयन के प्रयत्न को प्रकट करती है। किन्तु एक ओर यह अवधारण अनिवार्यतः सीमित होता है और दूसरी ओर यह प्रयत्न केवल न्यूनाधिक सफल : अस्तित्वपरक सब स्थितियों के समान सांस्कृतिक अस्तित्व की भी यह एक अनिवार्य नियति है। परिणामतः एक संस्कृति को एक आत्मपूर्ण ऐतिहासिक सत्ता नहीं कहा जा सकता, इसे केवल एक ऐतिहासिक प्रयत्न कहा जा सकता है।

इस प्रकार विकास और इतिहास दोनों साध्योन्मुख यात्राएं हैं और वास्तव में विकास ही अपनी यात्रा के अगले चरणों में इतिहास का रूप ले लेता है। विकास का इतिहास में यह रूपान्तरण ऐतिहासिक पर्येषणा की दिशा का संकेत देता है। यह दिशा चित्त की आत्मोपलब्धि है जिसके प्रथम चरण के रूप में मनुष्य के साथ इतिहास का सूत्रपात होता है।

14

प्राकृतिक विज्ञान

'प्रकृति' से यहां अभिप्राय इन्द्रियगोचर विषय-जगत् से है । 'इन्द्रिय-गोचर विषय-जगत्' पद का वाच्य पदार्थ : विषय-जगत् : सम्भवतः सबसे अधिक सुपरिचित और सहज प्रदत्त है । किन्तु थोड़ा गहराई से देखने पर हम पाते हैं कि वास्तव में यह अत्यन्त जटिल और समस्यात्मक है । 'इन्द्रियगोचर विषय' पद के घटक दो शब्दों के परस्पर सम्बन्ध को लेकर दर्शन के इतिहास में जो विवाद उठा है उससे हम सुपरिचित ही हैं, किन्तु 'विषय' और 'जगत्' के बीच सम्बन्ध कोई कम बड़ी समस्या नहीं है, यद्यपि उसकी चर्चा दार्शनिकों में उतनी नहीं हुई है । इन्द्रियगोचर विषय-ग्रहण में घटना-क्रम की दृष्टि से संवेदप्रदत्त गुण : वर्ण, गन्ध आदि : जबकि पहले और उनसे प्रकट विषय : घट, पुरुष आदि : अनन्तर घटित होते हैं, चेतना में यह क्रम इसके उलट रहता है : चेतना संवेद-प्रदत्तों को विषय-गुण रूप में, और स्वयं इनके भी विषयकरण पूर्वक ग्रहण करती है। किन्तु ये विषय पुनः एक दूसरे आधार में गृहीत होते हैं, आत्म-पर्याप्त स्वतंत्र वस्तुओं के रूप में नहीं । यह आधार जगत् है । चेतना में यह आधार विषयों से भी प्राक्तन होता है । वैसा नहीं रहने पर हम विषयों से आगे विषयों पर ही संक्रमण कर सकते थे, जगत् पर नहीं । किन्तु जब हम इस अवगमनक्रम को घटना-क्रम के अनुसार समझने का प्रयत्न करते हैं तब यह संक्रमण एक असंक्रमणीय पहेली के रूप में प्रस्तुत होता है, क्योंकि प्रत्येक संवेद-प्रदत्त न केवल अपने-आप में एक आत्म-संकुचित घटना होता है, हम इन प्रदत्तों को परस्पर संबंधित करने के लिए किसी तात्त्विक सिद्धांत को भी नहीं जानते, जगत्परक आवयविक एकत्व के लिए किसी सिद्धान्त को जानने की बात तो दूर है । यहां कहा जा सकता है कि एकत्व का आकलन कांट की विधि से किया जा सकता है : जगत् को बुद्धि का अतिक्रामी प्रत्यय: ट्रासेंडेंटल आइडिया आफ रीज़न : कहकर । यह सही है, किंतु कांट ने जबकि विषयता की अतिक्रामी कोटियों (केटेगरीज़ आफ अंडरस्टैंडिंग) को विषयों के ठोस आधार के रूप में और इस प्रकार उनके विषयों को व्यवहार या संवृति के वास्तविक विषयों के रूप में प्रस्तुत किया, अतिक्रामी बुद्धि के प्रत्यय (ट्रांसेडेंटल आइडिया आफ रीज़न) को जगत् के ठोस आधार के रूप में और इस प्रकार जगत् को व्यवहार के वास्तविक विषय (फिनामिनल आब्जेक्ट) के रूप में

प्रस्तुत नहीं किया, जबकि वास्तव में अतिक्रामी कोटियां भी विषय को सत्ता नहीं देकर उसे सत्ता का छद्म आश्वासन मात्र देती हैं। यह कठिनाई विज्ञान के लिए और विषम हो जाती है, क्योंकि उसके लिए केवल प्रस्तुत आवयविकता के आधार की ही समस्या नहीं है, जिसकी वह एक बार उपेक्षा भी कर सकता है, क्योंकि उसके विषय देश-कालगत वस्तुएं नहीं होकर घटनाएं होती हैं, उसके लिए समस्या घटनाओं में प्राकृतिक नियम की विद्यमानता का आधार और इस नियम के माध्यम से प्रस्तुत के आधार-तत्त्व (प्रिंसिपल) को खोजने की है। यह नियम और आधार-तत्त्व वैज्ञानिक के लिए उसी प्रकार की किन्तु गम्भीरतर समस्या प्रस्तुत करते हैं जिस प्रकार की समस्या इन्द्रियगोचर विषयों से आरम्भ करने वाले दार्श-निक के लिए विषय और जगत् प्रस्तुत करते हैं, क्योंकि देशकालगत वस्तुएं और जगत् जबकि सहज प्रस्तुत होते हैं, नियम और उससे भी अधिक आधार-तत्त्व, इस प्रकार प्रस्तुत नहीं होते, ये तर्कानुमेय भी नहीं होते; बल्कि इसके आगे जाकर यह भी कह सकते हैं कि घटनाएं स्वरूपतः आगन्तुक होती हैं और परिणामतः अनियमाधीन होती हैं। इसी से इन घटनाओं में आगमनात्मक सम्बन्ध का उपचार किया जाता है। इस उपचार या आरोप के औचित्य की समस्या से सब परिचित ही हैं। आगमनात्मक अनुमान के व्यावहारिक औचित्य की बात करना पुनरुक्ति मात्र है, क्योंकि आगमनात्मक अनुमान का अर्थ ही है घटनाओं में स्वयं कोई संबंध नहीं हो सकने पर सम्बन्ध का आरोप करना। किन्तु विज्ञान इस आरोप की विधि या व्यवस्था नहीं है, यह घटनाओं के परे स्वरूप या स्वभाव की खोज है। घटनाएं उसके लिए अपने-आप में अर्थ : वस्तुएं : नहीं होतीं, वे मात्र प्रतीक होती हैं, जिनके माध्यम से जगत् का तत्त्वार्थ व्यंजित होता है। इस कारण विज्ञान घटनाओं की व्यवहारानुकूल व्यवस्था नहीं प्रस्तुत करता बल्कि उन्हें किसी सिद्धान्त के उदाहरण के रूप में देखता है। यही कारण है कि विज्ञान के लिए घटनाएं यथा-प्रस्तुत रूप में विचारार्थ स्वीकृत नहीं होतीं बल्कि सिद्धान्त के अनुसार रूपान्तरित होकर ही स्वीकृत होती हैं। कुछ घटनाएं इस प्रकार सीधे रूपान्तरित नहीं की जा सकतीं और तब वे वैज्ञानिक विचार के योग्य भी नहीं मानी जातीं। उदाहरण के लिए, 'मेज़ पर पुस्तक पड़ी होना' तब वैज्ञानिक विषय हो जाता है जब यह इस जिज्ञासा का विषय होता है कि यह पुस्तक ऊपर क्यों नहीं उड़ जाती, किन्तु जब यह इस जिज्ञासा का विषय होता है कि यह पुस्तक कुर्सी पर नहीं पड़ी होकर मेज़ पर क्यों पड़ी है, तब यह प्रत्यक्षतः वैज्ञानिक विषय नहीं होता; वैसा बनने के लिए उसे पूर्णतः रूपान्तरित होना होता है। उदाहरण के लिए इसमें प्रत्यक्षतः पुस्तक रखने वाले के चुनाव का कारण और रखने का प्रयोजन आदि निहित हैं, और ये तर्कतः वैज्ञानिक तत्त्वमीमांसा में अग्राह्य हैं। इसलिए उपर्युक्त जिज्ञासा के वैज्ञानिक समाधान के लिए सर्वप्रथम इसका प्रयोजन-विहीन पदावली में रूपान्तरण अनि-

वार्य है, जिसका अर्थ है अन्ततः इस पुस्तक को रखने वाले के इच्छा, प्रयोजन आदि को मस्तिष्कीय घटनाओं में रूपान्तरित करना।

किन्तु किसी प्रस्तुत वस्तुस्थिति के सम्बन्ध में 'क्यों' या 'कैसे' की जिज्ञासा अथवा व्याख्या की अपेक्षा का क्या अर्थ है? इसका अर्थ है कि हम इस घटना के प्रस्तुत रूप को प्रतीक रूप में, किसी गहनतर अर्थ के व्यंजक के रूप में, देख रहे हैं, अपने आप में स्पष्ट और पर्याप्त रूप में नहीं। उदाहरणतः 'इस पुस्तक का मेज़ पर पड़े होना' प्रस्तुत है और इसके इसी प्रकार पड़े रहने तथा नहीं उड़ने सम्बन्धी जिज्ञासा इस वस्तुस्थिति को उद्गृहीत कर 'पड़े रहने अथवा उड़ जाने' के द्वन्द्व के एक पद में रूपांतरित करती है, और तब इसकी व्याख्या के लिए हम इसे एक ऐसी वस्तुस्थिति से सम्बन्धित करते हैं जो स्वरूपतः अप्रस्तुत रहती है। इस वस्तु-स्थिति : गुरुत्वाकर्षण-तत्त्व : से सम्बन्धित होने के बाद यह घटना हमारे लिए बोधगम्य हो जाती है, किन्तु तब यह एक घटना के रूप में विलीन हो जाती है। घटना के रूप में इसकी समाप्ति का अर्थ है कि अब हम इसके घटित होने से पहले ही बता सकते हैं कि यह कैसे घटित होगी और पीछे के सम्बन्ध में बता सकते हैं कि यह कैसे घटित हुई : और इसका वर्तमान इस कालातीतता अथवा त्रैका-लिकता का एक पक्षमात्र हो जाता है। और बोधगम्यता का अर्थ है कि घटित होना, मेज़ पर पड़े होना आदि इसका स्वरूप नहीं है, इसका स्वरूप है कि यह उस नियम को, उस तत्त्व को, व्यक्त करती है जो सूर्य के वहां होने जहां वह है, इस पानी के उस प्रकार प्रवाहित होने जिस प्रकार वह प्रवाहित हो रहा है, और इस फल के उस गति से भूमि पर गिरने जिससे वह गिरा है, को समान रूप से धारण करती है।

अब यहाँ यह द्रष्टव्य है कि हम न केवल प्रस्तुत विशिष्ट, व्यष्टि या घटना का अप्रस्तुत सामान्य, प्रत्यय या सिद्धान्त में अन्तर्भाव कर रहे हैं बल्कि इस सामान्य या सिद्धान्त को एक सत्तामीमांसा में भी प्रतिष्ठित कर रहे हैं। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया का अर्थ है कि वैज्ञानिक व्याख्या में यह पूर्व-मान्यता निहित रहती है कि प्रस्तुत स्वयं में स्वरूप और सत्ता से युक्त नहीं होकर स्वरूप और सत्ता को केवल व्यक्त करता है। और वैज्ञानिक के लिए यह स्वरूप और सत्ता वह है जो शुद्ध गणित की पदावली में ग्राह्य है। इसे विशेष प्रकार की मात्राएं भी कह सकते हैं, जो मात्राएं एक-साथ वस्तुएं भी हैं और सम्बन्ध भी। किन्तु द्रष्टव्य है कि ये मात्राएं इन्द्रियग्राह्य स्थूलता, दीर्घता आदि गुण नहीं हैं, ये गणित के जटिल समी-करणों द्वारा वाच्य सम्बन्ध और सम्बन्धित हैं। इसे इन्द्रिय-विषयता का शुद्ध तत्त्व भी कह सकते हैं जिस विषयता की विषयिता संवेदरहित स्थितिमात्रता, निरिन्द्रिय प्रेक्षकत्व (आइडियल आब्ज़र्वर) हैं, जो स्थिति या प्रेक्षकता किसी विशेष देश-काल में नहीं होकर किसी भी देश-काल में हो सकती है। उदाहरण के लिए

गुरुत्वाकर्षण-शक्ति को लें, जिसका उल्लेख हमने पीछे किया था। यह सेब के पेड़ से पृथ्वी पर गिरने और चांद के पृथ्वी के गिर्द घूमने दोनों की समान रूप से व्याख्या करती है। व्याख्या की दृष्टि से यह किसी व्यक्ति के मूर्छा में हाथ-पैर पटकने और किसी मकान में एकाएक आग भड़क उठने की प्रेत-बाधा से व्याख्या के समान है : दोनों में प्रस्तुत स्थिति अप्रस्तुत से नियमित और निदिष्ट होती है और अप्रस्तुत प्रस्तुत के अस्तित्व का नियामक और उसके प्रकट रूप का वास्तविक स्वरूप होता है। किन्तु इनमें एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है और वह यह कि जादुई व्याख्या में व्याख्यात्मक पदार्थ व्याख्येय के समान ही अस्तित्वात्मक और वास्तविक : वस्तुरूप: होता है जबकि वैज्ञानिक व्याख्या में यह अस्तित्वात्मक नहीं होता, यह केवल स्वरूपात्मक :गणित-शब्द-वाच्य नियममात्र: होता है। यहां यह द्रष्टव्य है कि वैज्ञानिकों में तथाकथित सैद्धान्तिक वस्तुओं (थ्योरिटीकल एंटिटीज़) के अस्तित्व को लेकर विवाद है, कुछ वैज्ञानिक और दार्शनिक इन वस्तुओं को वस्तुता में व्याख्येय पदार्थों से भिन्न नहीं मानते, केवल सूक्ष्मता में भिन्न मानते हैं : अर्थात् व्याख्यापक पदार्थ अति सूक्ष्म होने से या तो सूक्ष्मदर्शी यन्त्र द्वारा दृश्य होते हैं, अथवा ऐसे यंत्रों से भी इस कारण अदृश्य होते हैं क्योंकि हमारे इंद्रियोपकरणों :इंद्रिय-यंत्रों: की रचना एक विशेष प्रकार की है : जैसे एक्स किरणें और विशेष ध्वनि-तरंगें : किन्तु वे गोचर विषयों से प्रकारतः भिन्न नहीं होते।[1] किन्तु यह वैज्ञानिक व्याख्या के स्वरूप को समझने में भ्रांति का द्योतक है। यदि परमाणु उसी प्रकार विस्तारात्मक वस्तुएं हैं जिस प्रकार मेज़-कुर्सी आदि, और इनमें भेद केवल स्थूलता-सूक्ष्मता का है, अथवा 'गुरुत्वाकर्षण' उसी प्रकार का दबाव विशेष है जिस प्रकार का हम भारी वस्तु उठाने पर अपनी मांस-पेशियों में अनुभव करते हैं, तब इसमें एक को सिद्धान्त और दूसरे को व्याख्येय वस्तुस्थिति नहीं कहा जा सकता। सम्भव है यहां कोई आपत्ति करे कि व्याख्यापक और व्याख्येय कोई इस प्रकार भिन्न सत्ताएं नहीं होतीं कि इनमें एक गोचर वस्तु और दूसरी अगोचर सिद्धान्त ही हो, स्वयं विज्ञान में भी व्याख्येय व्याख्यापक का और व्याख्यापक व्याख्येय का स्थान ले सकता है। उदाहरण के लिए 'गुरुत्वाकर्षण शक्ति क्या है' यह प्रश्न किया जा सकता है और तब इसकी व्याख्या उन विभिन्न प्रकार की घटनाओं के उदाहरण से होगी जिनकी व्याख्या के लिए हम 'गुरुत्वाकर्षण' का उपयोग करते हैं। किन्तु यह सही नहीं है, इसमें वास्तव में यह कहा जायगा कि "गुरुत्वाकर्षण वह है जो इस-इस प्रकार की स्थितियों की व्याख्या करता है" आदि। यदि व्याख्यापक को भी सूक्ष्मतर

1. इस प्रकार के मत के लिए द्रष्टव्य—"मिन्नेसोट्टा स्टडीज़ इन दि फिलोसोफी ऑफ साइंस", खंड 3 (सं०) हर्बर्ट फाइग्ल और ग्रोवर मैक्सवेल, 1962 में ग्रोवर मैक्सवेल का लेख—दि ओंटोलोजीकल स्टेटस ऑफ थ्योरेटीकल एंटिटाज़।

वस्तुएं ही माना जाय जिस प्रकार मैक्सवेल कह रहा है, तब व्याख्यापक और व्याख्येय में केवल सहगामिता का संबंध होगा, प्रकट और स्वरूप का, सिद्धान्त और उसके उदाहरण का नहीं, जो कि होना अपेक्षित है। वास्तव में जादुई व्याख्या में भी व्याख्यापक अस्तित्ववान् होने पर भी व्याख्यापक के रूप में व्याख्येय का अन्तर्गत तत्त्व होता है और इस रूप में वह सामान्य होता है, जिसकी व्याख्येय वस्तुस्थिति एक उदाहरण होती है। उदाहरण के लिए मूर्च्छित व्यक्ति का व्यवहार न तो स्वयं उस व्यक्ति से नियंत्रित होता है जिसका प्रकटतः वह व्यवहार होता है, और न वह व्यवहार अनियंत्रित ही होता है, तब वह व्यवहार किसी अन्य से नियंत्रित होना चाहिए। यह अन्य नियामक कोई अन्य जीव कल्पित किया जाता है। अब यह द्रष्टव्य है कि जब अपने व्यवहार का नियामक व्यक्ति स्वयं होता है तब भी उसके नियामक का जीव-रूप में आक्षेप सैद्धान्तिक है और जादुई व्याख्या उस सिद्धान्त का ही आगे विस्तार है। जीव की वस्तुता केवल नियमित व्यवहार की व्याख्या की अपरिष्कृतता को ही प्रकट करती है व्याख्याओं में स्वरूप-भेद को नहीं। यही बात मेक्सवैल की व्याख्या के सम्बन्ध में कही जा सकती है।

इस प्रकार आकारतः जादुई व्याख्या वैज्ञानिक व्याख्या से भिन्न नहीं है, किंतु यह अन्तर्वस्तु में उससे स्वरूपतः भिन्न है। वैज्ञानिक व्याख्या की अन्तर्वस्तु असम्यक्तया निर्धारित प्राकृतिक विषयता का सम्यक्तया निर्धारित प्राकृतिक विषयता में रूपान्तरण है और इस प्रकार जादुई व्याख्या से, अथवा कहें किसी भी व्याख्या से, मौलिक रूप में भिन्न है। इसका बहुत समीचीन निरूपण रूडोल्फ कार्नप के शब्दों में इस प्रकार किया जा सकता है : "भौतिक विज्ञान की सैद्धान्तिक पदावली विशिष्ट देश-काल निर्देशांकों (स्पेस-टाइम कोऑर्डिनेट सिस्टम) पर आधारित है, इस प्रकार ये देश-काल-बिन्दु वास्तव में संख्याओं के व्यवस्थित चतुष्क हैं... जब भौतिक विज्ञानी किसी भौतिक व्यवस्था का, अथवा उसमें घटित होने वाली किसी प्रक्रिया का, अथवा इसकी क्षणिक स्थिति का वर्णन करता है तब वह या तो किसी देश-काल-प्रदेश को, अथवा उसके किसी बिन्दु को, भौतिक परिमाणात्मक मूल्य देता है......**एक भौतिक व्यवस्था अपने आप में और कुछ नहीं है सिवाय परिमाणों की पदावली में वर्णित देश-काल प्रदेश के।**......मनोवैज्ञानिक प्रत्यय भी किन्हीं देश-काल प्रदेशों (प्रायः मानवीय देहों अथवा उनके समूहों) के विशेषक गुण, सम्बन्ध अथवा मात्राओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।"[2]

जैसा कि इस निरूपण से स्पष्ट है, यह विषयता वास्तविक साधारण विषयता

2. मिन्नेसोट्टा स्टडीज इन फिलोसोफी ऑफ साइंस, खंड 1 (सं०) हर्बर्ट फाइग्ल तथा माइकिल स्क्रीवान् में रूडोल्फ कार्नप का लेख "दि मैथोडोलोजीकल स्ट्रक्चर आफ थ्योरैटीकल कांसेप्ट्स", पृ० 43-44 (रेखांकन हमारे द्वारा)

से उद्ग्रहण (एब्स्ट्रेक्शन) है, भौतिकता के तत्त्व का उद्ग्रहण। यह बहुत सीमा तक, अथवा कहें पूर्णरूप से, डेकार्ट के उस विचार पर आधारित है जिसके अनुसार भौतिक द्रव्य शुद्ध विस्तारात्मक सत्ता है और वह सत्ता चित्त के द्वारा स्पष्ट और विविक्त प्रत्ययों (क्लीयर एंड डिस्टिंक्ट आइडियाज़) के रूप में ग्राह्य होती है, इस अन्तर के साथ कि यहां इन प्रत्ययों से आगे सत्ता की धारणा नहीं है, बल्कि ये प्रत्यय ही हैं जो इस रूप में गृहीत हैं। यहां हाइडेगर का स्मरण उपयोगी होगा जो आधुनिक विज्ञान को और भी अधिक गंभीर रूप से डेकार्ट-दर्शन में प्रतिष्ठित देखता है। उसके अनुसार "डेकार्टीय सत् प्रत्यय की विषयता* (आब्जेक्टिविटी आफ रिप्रिज़ेंटेशन) है, जो प्रत्यय मनुष्य को असन्दिग्ध रूप से प्रस्तुत होती है। सत्ता के लिए मनुष्य को प्रस्तुत होने की यह अनिवार्य अपेक्षा विषयनिष्ठ तत्त्व-मीमांसा में प्रतिष्ठित है। परिणामतः अब हमारा ज्ञान सत्ता से निर्धारित नहीं होता बल्कि सत्ता ज्ञान से निर्धारित होती है। यह तत्त्वमीमांसा मनुष्य को प्रकृति के नियामक के रूप में और प्रकृति को मनुष्य के द्वारा निर्धारित और नियम्य के रूप में देखती है।"[3]

यहां हाईडेगर के विवेचन के जननात्मक : ऐतिहासिक निर्धारणात्मक: पक्ष को छोड़ते हुए, जो किसी भी दार्शनिक विचार के युक्तता के दावे को एक मनो-वैज्ञानिक निर्धारण में अपचित कर देता है, यह द्रष्टव्य है कि विज्ञान के इस उद्ग्रहण का उद्देश्य इन्द्रिय-ग्राह्य जगत् के पीछे जाकर उसके तत्त्व का साक्षात्कार है जो तत्त्व अपने को उतना ही स्पष्ट उजागर करता है जितना चित्त अपने में प्रतिष्ठित होता है। हाईडेगर आधुनिक विज्ञान की इस दृष्टि को अरस्तू की सत्ताभिमुख दृष्टि के विपरीत सत्ता पर अवधारणात्मक व्यवस्था (कांसेप्चुअल फ्रेमवर्क) का आरोप कहता है,[4] जो उसके अनुसार आधुनिक विज्ञान की आधार-शिला भी है और उसका दृष्टि-दोष भी। आधुनिक विज्ञान का हाईडेगर द्वारा यह निरूपण साधारण रूप से युक्त कहा जा सकता है, जैसा कि आइंस्टाईन के सापेक्षता-सिद्धान्त और हाइज़नबर्ग के सम्भाव्यता-सिद्धान्त से स्पष्ट है : इनमें प्रथम आदर्श प्रेक्षक (आइडियल आब्ज़र्वर) को आधार बनाता है और दूसरा मापन को, और इस प्रकार ये दोनों ही विषयिमूलक दृष्टियां हैं, सत्तामूलक दृष्टियां नहीं। इसी प्रकार कुछ आधुनिक दर्शन-संप्रदाय भी हैं, जैसे अर्थ-क्रियावाद (प्रैग्मेटिज़्म), लोकभाषा-विश्लेषणवाद और तार्किक प्रत्यक्षवाद; ये विभिन्न प्रकार

* हम यहां 'प्रत्यय की विषयता' के बजाय 'प्रत्यय का आत्मप्रस्तुतीकरण' पद का प्रयोग करना चाहेंगे।

3. द्रष्टव्य हाईडेगर एंड मॉडर्न फिलोसोफी (सं० माइकिल मर्रे, येल यूनीवर्सिटी, 1978 में हैरोल्ड एडमैन का लेख "हाईडेगर्स क्रिटीक आफ साइंस एंड टेक्नोलोजी, पृ० 36,

4. हाईडेगर एंड मॉडर्न फिलोसफी, वहीं।

के विषयिमूलकतावाद ही हैं। किन्तु इन दो : वैज्ञानिक सिद्धान्तों और इन दार्शनिक सिद्धान्तों : में इस बात में महत्त्वपूर्ण अन्तर है कि वैज्ञानिक सिद्धान्त स्पष्ट रूप से अपने उद्देश्य में सीमित हैं जबकि दार्शनिक सिद्धान्त अपने उद्देश्य में असीमित हैं।

किन्तु द्रष्टव्य है कि पूर्ण अर्थ में तत्त्वमीमांसीय नहीं होने पर भी विज्ञान सीमित रूप से प्रकृति के स्वरूप के सम्बन्ध में एक तत्त्वमीमांसा को पूर्व-कल्पित करता है। इस तत्त्वमीमांसा के अनुसार इन्द्रियगोचर विषय अथवा घटनाएँ शाश्वत और सार्वभौम नियमों की एक व्यवस्था को व्यंजित करती हैं। यह नियम-व्यवस्था निगमनात्मक और इस प्रकार पारदर्शी होती है यद्यपि इसकी व्यंजक इन्द्रियगोचर घटनाएं परस्पर असम्बद्ध और अपारदर्शी होती हैं। अपने इस अपारदर्शी स्वरूप के कारण इन्द्रियगोचरताओं में, उनके अपने स्तर पर, कोई आन्तर सम्बन्ध सम्भव नहीं होता, केवल बाह्य : देश-कालपरक : सम्बन्ध ही सम्भव होता है। परिणामतः इन पर हम जो भी सम्बन्ध आरोपित करते हैं वे कितने भी विश्वसनीय होने पर केवल आगमनात्मक ही हो सकते हैं, यद्यपि ये सम्बन्ध उस आधार-व्यवस्था के लिए ही प्रतीक बनते हैं जो स्वयं में निगमनात्मक है। उदाहरण के लिए एक प्रतिज्ञप्ति को लें जो सार्वभौम नियम के रूप में प्रस्तुत की जाती है : "जो उत्पन्न होता है उसकी मृत्यु निश्चित है।" एक प्रकार से यह प्रतिज्ञप्ति वस्तुमात्र के सम्बन्ध में है, क्योंकि उत्पत्ति और नाश जगत् की सब वस्तुओं का स्वभाव माना जाता है। किन्तु उत्पन्न और नष्ट एक घट, या असंख्य घटों को देखकर हम इस प्रस्तुत घट के उत्पन्न हुए होने और नष्ट होने के सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकते, क्योंकि गोचर रूप में घट में कोई भी ऐसा लक्षण विद्यमान नहीं है जो इस नियम को प्रकट करता हो। किन्तु यदि घटनाओं या वस्तुओं की यह आत्म-संकुचितता अपने से बाहर खुलते हुए और प्रत्येक को दूसरे में धारण करने वाले नियम की प्रतीक रूप में व्यंजक नहीं होती तो वास्तव में आगमन तर्क की भी कोई संभावना नहीं होती। इसे एक दूसरे उदाहरण से देखना उपयोगी होगा : "पत्थर लगने पर चिड़िया उड़ जाती है" यह हम कुछ चिड़ियाओं के व्यवहार से जानते हैं, और तब इसका साधारणीकरण कर देते हैं। यह साधारणीकरण आगमनात्मक रूप में दृष्ट व्यवहार की अपारदर्शिता से पूर्णतः संगत कहा जा सकता है, क्योंकि इसका अर्थ है कि यदि भविष्य में कोई चिड़िया इस प्रकार नहीं उड़ती तब हम इसमें इस प्रकार संशोधन कर लेंगे कि "कुछ चिड़ियाएं पत्थर लगने पर उड़ जाती हैं और कुछ नहीं उड़तीं।" किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता, हम किसी चिड़िया के नहीं उड़ने पर यह मानते हैं कि वह या तो मृत होगी अथवा मिट्टी की बनी होगी। दूसरे शब्दों में, हम चिड़िया के दृष्ट व्यवहार को जीव-स्वभाव में प्रतिष्ठित करते हैं और इसे एक घटना या घटना-समवाय से स्वभाव के एक उदाहरण में रूपांतरित

कर देते हैं। अब मान लें कि कोई चिड़िया जीवित भी है और पत्थर लगने पर उड़ती भी नहीं, और मान लें कि अन्ततः हम स्वभाव के सम्बन्ध में अपना मत परिवर्तित करने को बाध्य होते हैं, तो इससे मूल स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि तब हम वस्तु-स्वभाव में और गहरा देखकर उस वस्तु-स्वभाव के सम्बन्ध में अपना मत नये सिरे से स्थिर करना चाहते हैं। यहां आपत्ति की जा सकती है कि इसके लिए हमारे पास कोई औचित्य नहीं होता। किन्तु इस आपत्ति का कारण यह है कि आपत्ति करने वाला घटनाओं की गोचररूपता का अतिक्रमण कर उसकी प्रतीकरूपता को नहीं देख रहा है। यहां कार्ल पौप्पर के एतत्सम्बन्धी विचार का उल्लेख उपयोगी होगा जो वास्तव में वैज्ञानिक सिद्धान्तों के स्वरूप-विषयक समकालीन चर्चाओं का एक प्रतिनिधि है, और यहां रोचक बात यह है कि पौप्पर उन कुछ अल्पसंख्यक विचारकों में से एक है जो वैज्ञानिक सिद्धान्तों को निगमनात्मक मानते हैं। वह गिल्बर्ट राईल के इस मत को कि "हम बहुत बार नियमात्मक प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता के सम्बन्ध में युक्तियुक्त रूप से निश्चित होते हैं" पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत कर कहता है कि "मैं इस प्रकार के विचार के विरुद्ध सर्वप्रथम तब हुआ जब आईंस्टाईन के गुरुत्वाकर्षण-सिद्धान्त ने उस समय तक सार्वभौम और असंदिग्ध रूप से स्वीकृत न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत को केवल एक प्राक्कल्पना, एक ऊहामात्र सिद्ध कर दिया।"[5] यहां पौप्पर प्राकृतिक नियम और उसके ज्ञान को एक ही बात मान रहा है। यह सही है कि हम प्राकृतिक नियम को पर्याप्त रूप से जानते नहीं हैं, किन्तु हमारा जिज्ञास्य वह नियम ही होता है, और जब विज्ञान तत्त्व-साक्षात्कार के पर्याप्त उत्कृष्ट धरातल को प्राप्त कर लेता है तब वह या तो पक्षतः इसी नियम का अवगमन करता है अथवा इसके अवगमन में भ्रान्त होता है, और परिणामतः एक स्थापना अथवा सिद्धान्त के असत्यापित होने पर दूसरे सिद्धान्त का अन्वेषण करता है जो, चाहे अंशतः ही सही, शाश्वत और अनिवार्य प्राकृतिक नियम का अवगमन कर सके। यही कारण है कि न्यूटन का सिद्धान्त विशेषों का साधारणीकरण नहीं था, वैसा वह आईंस्टाइनीय सिद्धान्त से विस्थापित होने पर भी नहीं हुआ, क्योंकि वह स्वरूपतः ही निगमनात्मक था और इस प्रकार के नियम के रूप में ही वह विस्थापित हुआ। किंतु कार्ल पौप्पर कहेगा कि, निगमनात्मक होने पर भी यह केवल एक ऊहा, एक अटकल, ही था, स्वयं नियम नहीं। यह सही है, किन्तु इस ऊहा की संरचना, इसका स्वरूप निगमनात्मक है और इसके वैसा होने का कारण यह है कि हम विज्ञान में प्रकृति को एक सार्वभौम नियम से व्यवस्थित देखते हैं।

5. कार्ल पौप्पर—आब्जेक्टिव नोलेज, पृ० 9. यहां यह द्रष्टव्य है कि राइल का मत मेरे मत के समान नहीं है।

विज्ञान का स्वरूप इस प्रकार समझ लेने पर यह समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि विज्ञान न इन्द्रियानुभववादी दर्शन से प्रेरित हो सकता है और न उसका प्रेरक ही हो सकता है, क्योंकि इसका आधार यह दृष्टि या आस्था है कि सत्ता निर्दोष बुद्धि द्वारा अवगम्य है और बुद्धि तथा सत्ता अपने आद्यमूल में अभिन्न हैं। इस प्रकार विज्ञान वास्तव में प्लेटोवादी है, यद्यपि इस भेद के साथ कि इसकी अन्वीक्षा की सीमा में यह आद्यमूल केवल भौतिकता का तत्त्व ही हो सकता है।

इसके विपरीत अनुभववाद अपारदर्शी प्रेक्षणों (ओपेक् आब्ज़र्वेशन्स) के ऊपर नहीं उठ सकता और परिणामतः वह प्रकृति को एक नियम या व्यवस्था के रूप में नहीं देख सकता। **न क्रिटीक् आफ प्योर रीज़न** का लेखक ही अनुभववाद से बहुत आगे जा पाया है, क्योंकि प्रागनुभविक उसके लिए भी आरोप है, वह चाहे अभ्यास-मूलक आरोप नहीं होकर विषयविधायक चिन्मूलक ही क्यों न हो। विज्ञान में प्राकृतिक नियम के प्रेक्षण द्वारा प्रमाणीकरण की व्यवस्था से उसके प्लेटोवाद पर कोई आँच नहीं आती, क्योंकि प्रमाण के रूप में स्वीकृत प्रेक्षण वास्तव में सिद्धान्त के ही बाह्याक्षेप होते हैं, ये नियम के नियामक नहीं होकर उससे निर्धारित और निरूपित होते हैं; जो प्रेक्षण इस प्रकार नियम से आक्षिप्त नहीं होते, जैसे साधारण घटनाएं और विषय, वे नियम के लिए प्रतीक बनते हैं और उसे प्रमाणित या अप्रमाणित नहीं करते।

ऊपर हमने विज्ञान को एक सीमित तत्त्वदृष्टि कहा। किन्तु साथ ही यह भी कहा कि कोई तत्त्वदृष्टि वास्तव में सीमित नहीं हो सकती। ऐसी अवस्था में विज्ञान या तो तत्त्वदृष्टि नहीं होगा या यह सीमित दृष्टि नहीं होगा। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि यह स्वयं तत्त्व-दृष्टि नहीं होकर तत्त्वदृष्टि का परिणाम होगा।

वास्तव में पश्चिम में विज्ञान का जिस प्रकार एक सर्वग्रासी आन्दोलन के रूप में उदय हुआ उसमें इसने एक असीमित तत्त्व-दृष्टि का रूप भी लिया, अपने को सीमित तत्त्व-दृष्टि के रूप में भी देखा, और उन लोगों ने जो वैज्ञानिक नहीं थे इस अन्य तत्त्व-दृष्टि के परिणाम के रूप में भी देखा। किन्तु अत्यन्त प्राचीन काल में अरस्तू ने फिज़िक्स (भौतिक विज्ञान) और मैटाफिज़िक्स (तत्त्व-दृष्टि) के बीच बहुत ही सूझपूर्ण भेद कर दिया था, जिसके अनुसार भौतिक विज्ञान इस कारण तत्त्व-दृष्टि नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह भौतिक तत्त्व की सत्ता पूर्व-कल्पित करके चलता है। किन्तु इधर पश्चिम में विज्ञान के एक सांस्कृतिक अभिनिवेश के रूप में उत्कर्ष के बाद तत्त्वमीमांसा को ही मृगमरीचिका के रूप में देखा गया और विज्ञान को सत्य का मानदंड माना गया। इस प्रक्रिया में स्वयं विज्ञान-दृष्टि में भी एक मौलिक रूपान्तरण घटित हुआ, अब वैज्ञानिकों ने भौतिक तत्त्व को पूर्व-सिद्ध सत्य के रूप में नहीं देखकर अनुसंधान-प्रक्रिया के प्रकार्य (फंक्शन) के रूप

में देखना आरम्भ किया और तदनुसार दार्शनिकों ने उनकी इस परम अनासक्त दृष्टि का अनुसरण किया। इस प्रकार कहा जा सकता है कि विज्ञान ने अरस्तू के द्वारा अपने निरूपण का बहुत कुछ परिहार कर दिया। और पुनः ह्यूम और कांट द्वारा तत्त्वीमांसा का प्रत्याख्यान, तार्किक प्रत्यक्षवादियों द्वारा एक कदम और आगे जाकर स्वयं दर्शन को ही वैज्ञानिक अन्वेषणों के विवेचन का कार्य सौंपना, और दूसरी ओर विज्ञान का कार्य इन्द्रियगोचर स्थितियों और घटनाओं के लिए व्यवस्था देने को निश्चित करना, इस बात के द्योतक हैं कि पश्चिम में विज्ञान ने अपने और दर्शन दोनों के ही क्षेत्रों को व्यामिश्रित कर दिया है और इस प्रकार अब इसके सम्बन्ध में अरस्तू का वर्गीकरण युक्त नहीं रहता।

किन्तु यह बात दर्शन के सम्बन्ध में वास्तव में बिल्कुल भी सही नहीं है, यह केवल एक दर्शन-संप्रदाय का मत रहा है, क्योंकि पश्चिम में भी दर्शन विज्ञान के अन्वेषणों के विवेचन तक सीमित नहीं रहा है। जहां तक विज्ञान का सम्बन्ध है, इसके वर्तमान रूप को अवश्य उस प्रकार की पूर्वमान्यता से मुक्त कहा जा सकता है जिस प्रकार की पूर्वमान्यता की बात अरस्तू ने की है, किन्तु तब भी यह अपने क्षेत्र को एक सीमित प्रयोजन के आधार पर ही परिभाषित करता है, जिसकी व्याख्या हम पीछे कर चुके हैं, और इस रूप में यह दर्शन से भिन्न कहा जा सकता है। किन्तु विज्ञान में तत्त्व-विषयक दृष्टि-परिवर्तन के परिणामस्वरूप एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह हुई है कि अब विज्ञान को प्रकृति का पूर्वमान्यतारहित दर्शन कहा जा सकता है। उदाहरणतः हमने पीछे 'प्रकृति-तत्त्व' अध्याय में प्रकृति के भौतिक आयाम के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह इस अध्याय में निरूपित विज्ञान की विषयभूत प्रकृति से विसंगत नहीं है, और हमारा वह निरूपण एक तत्त्वमीमांसीय समग्र सिद्धान्त का अंग है। यह सही है कि आधुनिक विज्ञान में विकल्पित प्रकृति प्लेटो या अरस्तू की, अथवा **क्रिटीक आफ जज्मेंट** के कांट की, अथवा सांख्य और वेदान्त की प्रकृति से मूलतः भिन्न है, क्योंकि इन सबमें प्रकृति भाव्यात्मक है जबकि आधुनिक विज्ञान में यह यांत्रिक है, किन्तु विज्ञान की यह सिद्धान्त-दृष्टि इन दार्शनिकों की प्रकृति-विषयक सिद्धान्त-दृष्टि के समकक्ष है, अरस्तू के उल्लिखित प्रकार की नहीं।

किन्तु जैसा कि हमने पीछे कहा, बहुत से उत्साहियों ने तत्त्वमीमांसा के इस उपक्षेत्र को उसका समग्र क्षेत्र मान लिया और परिणामस्वरूप आधुनिक पश्चिम में बहुत से सांस्कृतिक विकार उत्पन्न हुए, और पश्चिम के राजनैतिक तथा आर्थिक प्रभुत्व के कारण दूसरे बहुत से समाजों में भी हुए और हो रहे हैं। विज्ञान के क्षेत्र का यह अनधिकृत विस्तार चेतना का भौतिक में अन्तर्भाव करने के रूप में हुआ जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य की मनोमूलक और अति-मानसिक अभीप्साएं आदि सब इस क्षेत्र में ले ली गई और परिणामस्वरूप समाजविज्ञान, मनोविज्ञान आदि-

आदि भ्रामक पदों के वाच्व पदार्थों का आविष्कार हुआ। किन्तु क्षेत्र का यह अनधिकृत विस्तार विज्ञान की कोई अपनी अपेक्षा से नहीं है बल्कि एक बाहरी सांस्कृतिक वस्तुस्थिति-मूलक है : पश्चिम ने विज्ञान की प्रकृति-स्वरूप-विषयक दृष्टि को इस दृष्टि की व्यावहारिक सफलता के कारण एक समग्र दृष्टि मान लिया और इस प्रकार युक्त समग्र-दृष्टियों को विकृत कर दिया। किन्तु स्वयं विज्ञान की प्रकृति-विषयक दृष्टि क्या है, यह निर्णय दर्शन ने किया, और इस निर्णय में अधिक प्रभावशाली अनुभववादी रहे। किन्तु जैसा कि हमने ऊपर देखा, यह दृष्टि विज्ञान की वास्तविक दृष्टि से संगत नहीं थी।

15

कला-तत्त्व

इन अन्तिम तीन अध्यायों के विषय : इतिहास, विज्ञान और कला : इस पुस्तक के प्रथम अध्याय : दर्शन : के समकक्ष हैं और शेष अध्यायों के विषयों से मूलतः भिन्न हैं। एक प्रकार से ये ज्ञान के चार रूप या आयाम कहे जा सकते हैं, यद्यपि अधिकांश लोग कला और दर्शन को ज्ञानात्मक नहीं मानते। एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में कला ज्ञानात्मक है भी नहीं। यह अर्थ है युक्तता-विषयक किसी निर्णय या निष्कर्ष पर पहुँचना, यद्यपि कला में युक्तता उतनी ही स्वरूपगत और नियामक रहती है जितनी ज्ञान की अन्य तीन विधाओं में। 'ज्ञानात्मक' शब्द का यह सीमित प्रयोग भी बहुत व्यापक अर्थ में है, जिसके अनुसार दर्शन और कला-समीक्षा उतने ही ज्ञानात्मक हो जाते हैं जितना विज्ञान और इन्द्रियगोचर विषय-सम्बन्धी कथन। किन्तु इस व्यापक परिभाषा से भी कला ज्ञानात्मक के वर्ग में नहीं आती। इस कारण इसे एक दूसरे वर्ग में रखा जाता है जिसे रसात्मक या भोगात्मक कहा जाता है। रस या भोग चेतना का विषय से निरपेक्ष व्यापार है। इस व्यापार के क्रम में चेतना अपने अनुकूल विषय की सृष्टि भी कर सकती है, जैसे स्वप्न में, बाह्य विषय को भी प्रस्तुत कर सकती है, जैसे खाद्य या पेय वस्तु को, किन्तु इस सर्जन या प्रस्तुतीकरण में विषय अपनी इदन्ता या वस्तुता में प्रतिष्ठित नहीं होकर आस्वादन में उपयोगी के रूप में सन्निविष्ट होता है। दिवास्वप्न इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण है: इस अवस्था में चेतना सायास अवास्तव विषयों की सृष्टि करती है। यद्यपि यह सही है कि वह इस आयास पर यथासम्भव सम्मोहन का आवरण भी डालती है, और जहां तक यह ऐसा कर पाती है वहीं तक वह उपभोग में समर्थ भी होती है, किन्तु तब भी विषय की वास्तविकता वहाँ अभीष्ट ही होती है, सिद्ध या प्रदत्त नहीं। इसका और अधिक पुष्ट रूप बच्चों द्वारा सायास कल्पित वस्तुस्थिति में वास्तव स्थिति के समान व्यवहार में दृष्टिगत होता है, जिसमें बच्चा मनोरंजन अथवा आवेग-व्यय के लिए वस्तुस्थिति की सायास कल्पना करता है और उसके कल्पना होने को सायास विस्मृत कर देता है। किन्तु बच्चे को यह वस्तु-आक्षेप और विस्मरण दोनों की सायासता विदित रहती है। उस पर जो आवरण रहता है उसे मोदावरण कहा जा सकता है। इसी प्रकार स्वप्न में भी आक्षेप और विस्मरण होता है: मनोविश्लेषकों का कहना है कि स्वप्न में भी ये

दोनों व्यापार सायास ही होते है। किन्तु यदि स्वप्न अनायास भी हो तो भी वह एक आधारभूत अर्थ में बालक के मोदावरण से समानता रखता है और प्रत्यक्ष तथा निर्णय से भिन्न होता है। वह अर्थ यह है कि ज्ञान-व्यापार जबकि चित्त का अतिक्रामी व्यापार है और उसका विषय अतिक्रामी आक्षेप, स्वप्न और मोदावरण दोनों चेतना-मूलक : अन्त:करणमूलक : व्यापार होते हैं। दूसरे शब्दों में इन्हें हम मनोवैज्ञानिक क्रियाएं कह सकते हैं। इस प्रकार सायास नहीं होने पर भी स्वप्न को मोदावरण कहा जा सकता है, यद्यपि मनोविश्लेषकों के साथ यह कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि यह सायास ही होता है, यद्यपि इसमें आयास पूर्णत: अविदित रहता है।

मोदावरण की ये स्थितियां : दिवास्वप्न, बाल-कल्पना और स्वप्न: ज्ञानात्मक के विपरीत भोगात्मक कही जा सकती हैं। जैसाकि हमने पीछे कहा, भोजन-पान आदि भी भोगात्मक ही होते हैं, किन्तु इन दो प्रकार के भोगों में यह अन्तर किया जा सकता है कि प्रथम जबकि अन्त:करण मूलक हैं, दूसरे ऐन्द्रिक हैं। इनमें केवल प्रथम प्रकारक भोगों का ही संबंध भावना से है।

भावना क्या है? स्थूल रूप से इसे संस्कार से उपचरित आवेग कह सकते हैं। इन संस्कारों में मूल्यात्मक संस्कार भी सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार रस-मीमांसा में परिगणित स्थायी भावों को आवेगों के रूप में नहीं देखना चाहिए, जैसे घट को मिट्टी के रूप में नहीं देखना चाहिए। उदाहरणत: शृंगार का स्थायी भाव प्रेम के बजाय रति कहने में संस्कार-पक्ष की उपेक्षा है और आवेग या वासना-पक्ष को अतिरिक्त महत्त्व दिया गया है। इसका प्रभाव संस्कृत और प्राचीन हिन्दी-काव्य पर दृष्टिगत भी होता है। किन्तु इस पर हम यहां विचार नहीं करेंगे। यहां महत्त्वपूर्ण यह देखना मात्र है कि भावना संस्कारित वासना या आवेग होती है।

कला भावना-मूलक होती है और वास्तव को लक्षित नहीं कर विषय का कल्पना द्वारा आक्षेप करती है। किन्तु दिवास्वप्न आदि से इसमें यह भेद रहता है कि इसमें कल्पनाक्षेप कलाकार की ओर से मोदावरण सहित नहीं होता। वह अपनी कृति में अवश्य मोदावरण-जनकता संपुटित करना चाहता है: वास्तव में यह किसी भी कल्पना-सृष्टि के लिए अनिवार्य पूर्वापेक्षा है: किन्तु स्वयं कलाकार मोदावृत नहीं होता, जिसका अर्थ है कि कलाकार की कल्पना-सृष्टि भावना के उपभोग के लिए नहीं होती। इस प्रकार कला जहां एक ओर ज्ञानात्मक नहीं है वहां दूसरी ओर यह भोगात्मक भी नहीं है। कलाकार भावना के भोगित्व का प्रेक्षकत्व में अतिक्रमण करता है और उसकी भावना और भोगित्व उसके लिए उस लोक को व्यंजित और उद्घाटित करते हैं जो लोक अन्यथा इनमें अव्यक्त रहता है। तब वास्तव में वह अपनी कृति में भी मोदावरण-जनकता दर्शक या श्रोता को भावना का भोग कराने के उद्देश्य से संपुटित नहीं करता बल्कि उस अर्थ के दर्शन के लिए

तत्परता उत्पन्न करने के लिए करता है जो अर्थ भोगात्मक है। द्रष्टव्य है कि यह प्रेक्षकत्व न वस्तुलोक का होता है और न प्रत्यय-लोक का, यह प्रेक्षकत्व विषयिगत अर्थों का उनकी विषयिता में ही होता है। विषयित्व चैत्त घटना या अस्तित्व है : जैसे संवेद, आवेग, भावना, विचार आदि। जब हम किसी निर्णय या दृष्टि के सम्बन्ध में कहते हैं कि वह 'विषयिनिष्ठ है' तब यह विषयिता ही अभिप्रेत होती है। यह विषयिता दृष्टि को ठीक ही उपरंजित और सम्मोहित करती कही जाती है। किन्तु विमर्श-बुद्धि के लिए यह संभव होता है कि वह घटना की अन्तर्वस्तु को उद्गृहीत कर उसके तत्त्व का विमर्श कर सके। यह विमर्श विषयरूपेण भी सम्भव होता है और विषयिरूपेण भी। कला में यह विषयित्व का विषयित्व में ही विमर्श होता है, विषयत्व में नहीं। इस विमर्श में दृष्टि विषयित्व से उपरंजित नहीं होती, वह विषयित्व का विषयित्व की वृत्ति या उपाधि से मुक्त होकर अवगमन करती है। इस प्रकार दृष्टिविषय बनी विषयिता अपने अर्थों का जिस प्रकार उन्मेष करती है उसका रूप विषयगत अर्थों के उद्घाटन से नितान्त भिन्न प्रकार का होता है। उदाहरण के लिए संगीतकार अर्थबोध को व्यक्त करने के लिए ध्वनि के उपादान में आकार की सृष्टि करता है। यह आकार विषयिनिष्ठ, दूसरे शब्दों में यादृच्छिक, नहीं होता, बहुत बार कलाकार को समुचित आकार की उपलब्धि के लिए बहुत साधना करनी होती है, अथवा उसकी दृष्टि सहज रूप से ही स्पष्ट होती है और वह भावनागत अर्थों और उनके अनुरूप आकारों का सहज ही प्रत्यक्ष कर लेता है और हम कहते हैं कि यह उसके पूर्वजन्म-संचित संस्कारों का फल है। किन्तु यह स्पष्ट है कि भावना के अर्थावगमन और उसकी तदुपयुक्त अभिव्यक्ति के लिए कलाकार को विषयिता से उतना ही मुक्त होना होता है जितना वैज्ञानिक को : वैज्ञानिक देश-काल में निर्विशिष्ट स्थिति सिद्ध करना चाहता है और कलाकार भावना में निर्विशिष्ट स्थिति सिद्ध करना चाहता है। इसीलिए अन्यत्र हमने कला की परिभाषा 'विषयिगत का विषयिगत सामान्य के रूप में अवगमन' की थी।[1] 'सामान्य' से यहां अभिप्राय 'किसी भी विषयिता' से नहीं है, बल्कि उस तत्त्व से है जो विषयिता में उपलक्षित होता है।

कला को विषयितामूलक और भावनामूलक कहने से यह अर्थ नहीं है कि कलाकार अपनी भावनाओं से उदीरित होकर उनके अर्थों का ही विमर्श करता है। एक सीमा तक गीत-काव्य में, और कला की अन्य विधाओं में अवसर विशेष पर, ऐसा भी होता है कि कलाकार अपनी उदीरित भावनाओं का विमर्शक होता है, किन्तु अधिकांशत: तो वह आत्म-निरपेक्ष किन्तु विशिष्ट विषयिता से तदात्म होकर उसमें अन्तर्निहित अर्थों का प्रत्यक्ष करता है। उदाहरण के लिए नाटककार या

1. मनुष्य और जगत् में 'कला-सर्जन' अध्याय।

उपन्यासकार अपनी भावनाओं का विमर्श नहीं करता है। कुछ कहना चाहेंगे कि वह पात्रों पर अपनी भावनाओं का आक्षेप करता है। किन्तु वास्तव में ऐसा भी नहीं है, वह वास्तव में वहां एक भावनात्मक साक्षात्कार का चरित्रों के माध्यम से विमर्श करता है, जो चरित्र अपनी विषयिता को तादात्म्यक साक्षात्कार के लिए कलाकार पर प्रकाशित करते हैं : यहां होता यह है कि वह भावनात्मक रूप से उदीरित होकर वस्तुस्थितियों के आन्तर अर्थों का प्रज्ञात्मक साक्षात्कार करता है। इसी से उन वस्तुस्थितियों को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त भाषा कथनात्मक नहीं होकर व्यंजनात्मक होती है, चित्र अनुकृत्यात्मक नहीं होकर वास्तव व्यक्ति के चित्रण के प्रसंग में चरित्रगत अर्थ का व्यंजक होता है और भाव-चित्रण के प्रसंग में भाव-संकेतात्मक होता है। यही बात मूर्ति के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। उदाहरणतः बुद्ध की या नटराज की मूर्ति भाचित्रणात्मक है। द्रष्टव्य है कि कला की इन तीनों विधाओं में साक्षात्कारात्मक प्रज्ञा अपने अवगत अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए विषयता को माध्यम बनाती है, किन्तु विषयता यहां इस प्रज्ञा की उपयुक्त माध्यम होने के लिए अपने को रूपान्तरित कर लेती है। उदाहरण के लिए इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यास को लें। यद्यपि इतिहास मुख्यतः वर्णनात्मक नहीं होकर निर्वचनात्मक (इंटर्प्रिटेश्नल) और रचनात्मक ही होता है, किन्तु उसका मुख्य उद्देश्य वर्णन ही होता है और उसमें निर्वचन और रचना क्षीण वर्णनात्मक सामग्री की न्यूनता की पूर्ति के लिए ही होते हैं। वास्तव में ये दोनों तत्त्व हमारे इन्द्रिय-विषय-ग्रहणों में भी बहुत अधिक मात्रा में रहते हैं, किन्तु वहां भी विषय की बाह्य सत्ता का उपकार ही इनका लक्ष्य होता है। इसी से इतिहास और ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष हमारे विषयात्मक ज्ञान के आदर्श माने जाते हैं। इसके विपरीत उपन्यास में पात्र, देश तथा काल कल्पित या अप्रासंगिक होते हैं और इस प्रकार इसमें वर्णनात्मकता और ज्ञानात्मकता आरंभ से ही निषिद्ध रहती हैं। यद्यपि कुछ उपन्यास पात्रों के नामान्तर से वास्तविक जीवन-वृत्त ही प्रस्तुत करने का दावा करते हैं, किन्तु यह नामान्तरण लेखक और पाठक दोनों को विषयता से मुक्त भी करता है : लेखक विषयितात्मक अर्थ की व्यंजना और संगति के उपकार के लिए विषयात्मक वास्तविकता को छोड़ सकता है और पाठक की विषयनिबद्ध चेतना इससे आहत नहीं होती। किन्तु ऐतिहासिक नाटकों, उपन्यासों या महाकाव्यों में नामान्तरण भी नहीं होता और वास्तविकता को भी यथासंभव अक्षुण्ण रखा जाता है, किन्तु तब भी ये नाटक या उपन्यास इतिहास नहीं होते। नाटककार या उपन्यासकार इतिहास में से किसी ऐसी घटना या चरित्र का चयन करता है जो चारित्रिक गौरव, मूल्य-निष्ठा या आनुभूतिक मार्मिकता को व्यंजित कर सकती हो, और तब उसके भावनात्मक अर्थ के अन्तर में प्रतिष्ठित होकर उसे प्रस्तुत करता है। इतिहास वहां एक प्रकार से वही प्रयोजन सिद्ध करता है जो

दिवास्वप्न-गत मोदावरण सिद्ध करता है : दिवास्वप्न में यह आवरण जबकि अवस्तु की वस्तु-कल्पना के रूप में होता है, यहां वस्तुता को ही अपना लिया जाता है; यद्यपि वास्तव में वह निषिद्ध रहती है। इस प्रकार उपन्यास-लेखक अपने कथानक के लिए किन्हीं वास्तविक व्यक्तियों अथवा ऐतिहासिक घटनाओं को कोई सूचना या जानकारी देने के लिए, किसी अज्ञात तथ्य को प्रकट करने के लिए, नहीं चुनता बल्कि वह उनमें किसी विषयि-मूलक अर्थ की व्यंजना देखता है और उसके अनुसार उन विषयात्मक घटनाओं या चरित्रों का कल्पना में नव सर्जन करता है।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि एक काव्य कोई एक भावना, या एक संबंध अथवा सम्बन्धित चरित्रों को ही निरूपित करता है; वास्तव में उपन्यास या महाकाव्य में जितनी ही जटिलता और व्यापकता होती है उतना ही वह महत् होता है : **रामचरित मानस** इसका उत्कृष्टतम उदाहरण है। उसकी व्यापकता अन्यत्र दुर्लभ है, उसमें प्रायः सभी स्थायिभाव और असंख्य प्रकार के चरित्र हैं। किन्तु वास्तव में उसमें निरूपित ये सभी भाव और चरित्र एक अन्य भाव के अनुषंगी हैं और वह है धर्म-भाव। किन्तु टाल्स्टाय के उपन्यास **युद्ध और शांति** में इस प्रकार किसी एक भावना की बात भी नहीं की जा सकती। वहां केवल एक विषय-वस्तु है जो विभिन्न पात्रों की विषयिताओं के माध्यम से अपने को व्यक्त करती है। इस उपन्यास को दो विशेषताएं इतिहास से पृथक् करती हैं, एक है विषयिमूलकता और दूसरी है पात्रों की और कथानक की काल्पनिकता। वैसे इनमें से कोई एक भी तत्त्व किसी कथा को इतिहास से पृथक् कर देता है, किन्तु उसके साहित्य होने के लिए ये दोनों आधारभूत होती हैं।

किन्तु द्रष्टव्य है कि जबकि विषयिता अनिवार्यतः वास्तव और विशिष्ट होती है, काल्पनिकता वास्तवता की और अवास्तवता विशिष्टता की प्रतिषेधक होती है। विषयिता का एक आधारभूत लक्षण 'जीवन-जीना' है : विचार—जो मैंने विचारा है, प्रेम—जो मैंने किया है, अनीति—जिसकी ग्लानि से मैं खिन्न हूं। यह 'मैं' काल्पनिक नहीं हो सकता, काल्पनिक होते ही यह 'मैं' नहीं रहता। किन्तु इसके कला का विषय होने के लिए इस असंभवता को घटित होना होता है : जीये जा रहे, भोगे जा रहे मैं को कल्पित होना होता है। यही चित्त द्वारा विषयिता में विषयिता का अवगमन है। यहां कहा जा सकता है कि, जबकि उपन्यास के पात्र एक-साथ उपभुक्त विषयी और कल्पित होते हैं, आत्मकथा या परकथा के पात्र काल्पनिक नहीं होते। किन्तु ऐसा नहीं है, आत्मकथा का विषयी भी काल्पनिक ही होता है, केवल औपन्यासिक पात्रों के विपरीत उसकी विषयता काल्पनिक नहीं होती : अर्थात् निरूपित घटनाओं के देश, काल और सम्बन्ध काल्पनिक नहीं होते, किन्तु वे आत्मकथा के मर्म के लिए प्रासंगिक भी नहीं होते। उदाहरण के लिए गांधी जी द्वारा **सत्य के प्रयोग** में घटनाओं की उत्पत्ति की

परिस्थितियां कोई महत्त्व नहीं रखतीं।

आत्मकथा का विषयी किस प्रकार काल्पनिक होता है ? द्रष्टव्य है कि जीवनी वर्तमान को जीने में नहीं बल्कि अतीत के पुनरुज्जीवन में निहित होती है। अब, जबकि केवल वह घटना ही स्मृत कही जाती है जो अपने जीवन में घटित हुई है, स्मृति में उस घटना का केवल आकार ही प्रदत्त होता है, वह अनुभव नहीं जो उसकी अन्तर्वस्तु होता है। किन्तु घटना का आकार निर्विशिष्ट होता है। इसी कारण बहुत बार हम कल्पित या दूसरे के द्वारा बतायी हुई घटना का भी अपने साथ घटित के रूप में स्मरण कर लेते हैं। इस प्रकार स्मृति में घटनाओं का अन्तरंग प्रस्तुत नहीं होता, केवल बाह्य विषयता ही प्रस्तुत होती है। किन्तु यदि किसी घटना को हम अपने जीवन के आलोचक के रूप में देखते हैं तब एक दूसरी बात होती है, तब हमें यद्यपि उस घटना की अन्तर्वस्तु प्रदत्त नहीं होती, जिसके प्रस्तुत होने का अर्थ है हमारा उस घटना में पुनः घटित होना, किन्तु तब उसका केवल आकार भी प्रस्तुत नहीं होता, तब हम या तो उस घटना की भावना में अधिष्ठित होते हैं अथवा उसकी मूल्य-पर्येष्टृता में। किन्तु आत्म-कथा-लेखक की स्थिति अपने अतीत के साधारण आलोचक की स्थिति से कुछ और भिन्न होती है, वह अपने अतीत को अपने संपूर्ण जीवन की योजना में, जिसमें अपना भविष्यत् भी सम्मिलित होता है, देखता है और उसके साथ अन्तरंग आलोचक के रूप में भावनात्मक तादात्म्य में स्थित होता है। किन्तु इसमें वह पर-जीवनी-लेखक और उपन्यास-लेखक से भिन्न स्थिति में नहीं होता, सिवाय इस बात के कि पिछली दो स्थितियों में, विशेषतः उपन्यास-लेखक की स्थिति में, वह (लेखक) मुख्यतः पर्येष्टृ नहीं होकर भावुक होता है, जबकि पर-जीवनी-लेखन में वह एक-साथ आलोचक और भावुक होता है, किन्तु पर्येष्टृ सर्वथा नहीं होता। यहां उपन्यास-लेखक को मुख्यतः 'भावुक' कहने के तात्पर्य की व्याख्या अपेक्षित हो सकती है : 'भावुक' का अर्थ है भावना का भोक्ता। उपन्यास-लेखक अपने पात्रों की भावनाओं का भोक्ता होता है। यह बात पहली दृष्टि में बहुत अटपटी लग सकती है, क्योंकि पात्र वास्तव में तो होते ही नहीं, वे कल्पित होते हैं और परिणामतः उनकी भावनाओं के वास्तव होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। किन्तु वास्तव में इसमें कुछ अटपटापन नहीं है। यह सही है कि उपन्यास के पात्र कल्पित होते हैं किन्तु तब भी यह सही है कि उपन्यासकार उनके साथ भावनाओं का सहभोक्ता होता है। इसे यों भी कह सकते हैं कि ये पात्र विषय-रूपेण वास्तव नहीं होते किन्तु विषयिरूपेण वास्तव होते हैं और कवि (उपन्यासकार) उनकी इस वास्तवता में सहजीवी होता है। द्रष्टव्य है कि एक लेखक अनेक पात्रों की सष्टि करता है और यह आवश्यक नहीं है कि उनमें से कोई एक भी लेखक की अपनी विषयिता के अनुरूप हो : उदाहरण के लिए प्रेमचन्द का कोई भी पात्र

उसके अनुरूप नहीं था : इतना ही नहीं, वह अपने से नितान्त विरूप पात्रों की सृष्टि भी करता है और उनका सह-जीवी होता है। ऐसा सम्भव होता है यह बात विषयिता और कला के सम्बन्ध में एक बहुत महत्त्वपूर्ण तथ्य है। यह इस बात का द्योतक है कि चेतना विषयिता का विषयिता-सामान्य के रूप में अवगमन कर सकती है, और कला में यही होता है। किन्तु द्रष्टव्य है कि विषयिता-सामान्य विषयता-सामान्य के अनुरूप नहीं होती : विषय-विशेष जबकि इन्द्रिय-ग्राह्य अस्तित्व होता है, विषय-सामान्य बुद्धिग्राह्य तत्त्व, जो अस्तित्व-रहित होता है। इसके विपरीत विषयिता विशेष और सामान्य दोनों रूपों में अन्तर्भुक्त होती है। विषयिसामान्य वह विषयिविशेष होता है जो वास्तव नहीं होकर कल्पित होता है। किन्तु यहां यह भी द्रष्टव्य है कि यह काल्पनिकता विषयी की असत्ता की वाचक नहीं होकर केवल उसके अनस्तित्व की वाचक है और परिणामतः कल्पित विषयी 'कोई भी व्यक्ति या विषयी' नहीं होकर उतना ही विशिष्ट, निर्धारित और भावित होता है जितना वास्तव विषयी, अन्तर केवल यह होता है कि उसकी विषयिता अहंकारोपहित नहीं होती। उदाहरणतः दुष्यन्त अभिज्ञान शाकुन्तलम् का एक पूर्णतः विशिष्ट विषयी है और उन सबके लिए समान रूप से भावनीय है जो उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं, किन्तु वह कल्पित और अवास्तव होने से अहंकार-मुक्त है और केवल उसी के लिए, और ऐसे किसी के भी लिए, भावनीय है जो निरहंकार विषयिता में प्रतिष्ठित हो सकता है। विषयिता की यह एक महत् अचरजपूर्ण बात है कि जबकि वास्तवता में चित्त केवल एक व्यक्तित्व को ही धारण करता है, यह धारित व्यक्तित्व असंख्य संभव व्यक्तित्वों में से एक होता है जो चेतना में स्थगित या निषिद्ध रूपेण रहते हैं। इन सम्भव व्यक्तियों में वे भी सम्मिलित होते हैं जो अन्यत्र वास्तव होते हैं : जैसे मेरे लिए डॉ० गोविन्दचन्द्र पांडे, डॉ० दयाकृष्ण आदि हैं : और वे भी जो सर्वत्र अवास्तव होते हैं, जैसे लेखक और पाठक के लिए उपन्यास के पात्र। पीछे 'मानव-तत्त्व' अध्याय में हमने व्यक्ति को चित्त द्वारा आक्षिप्त आत्म-प्रतिमा के रूप में परिभाषित किया था। उसके साथ उतनी ही महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह आक्षेप वरणात्मक होता है और यह वरण असंख्य वरणीय और अवरणीय आत्म-प्रतिमाओं में से एक होता है। इस वरण का यह अर्थ नहीं है कि वरित और अवरित प्रतिमाएं चित्त से पृथक् सत्ताएं होती हैं, जैसे सांख्य में प्रकृति है, ये केवल स्वतंत्र सृष्टियां और वृत्तियां ही होती हैं, इसीलिए ये विषयात्मक नहीं होकर विषयि-आत्मक होती हैं। यहां अवान्तरतः यह देखना भी अस्थाने नहीं होगा कि सांख्य में भी व्यक्तित्व चित्परक और स्वतंत्र सर्जन ही है, वह प्राकृतिक नहीं है। यहां कहा जा सकता है कि यदि व्यक्तित्व स्वतन्त्र सर्जन है तब उसे वरण कहना युक्त नहीं है, और वह भी असंख्य विकल्पों में से एक का वरण।

वास्तव में यह तर्क सही होता यदि यह सांवृतिक : औपाधिक : वस्तुविषयक स्तर की बात होती, किन्तु यह अतिक्रामी वस्तुविषयक स्तर की बात है। इसे अध्यवसाय या विचार के उदाहरण से समझना सहायक होगा। एक अध्यवसाय एक तथ्य को आविर्भूत करता है, जैसे 'यह गाय है' कथन में, और तथ्य का यह आविर्भाव असंख्य सम्भव आविर्भावों में से एक का वरण और अन्य असंख्य का स्थगन करता है। यह अध्यवसाय एक-साथ स्वतंत्र सर्जन भी होता है और वरण भी, सर्जन इसलिए क्योंकि अध्यवसाय का यह कर्म अकारण और आद्य होता है और तत्कृत आविर्भाव अपूर्व होता है : संवेद को यदि प्रदत्त भी मानें तो भी उसे अध्यवसाय का अंशतः निर्धारक तो कहा जा सकता है, कारक नहीं : और वरण इसलिए क्योंकि यह कर्म उन तथ्यों में से किसी को भी आविर्भूत कर सकता था जो तथ्य इस आविर्भाव के साथ स्थगित हो गए।

यहां आपत्ति हो सकती है कि अध्यवसाय को आद्य-अकारण कर्म कहना अयुक्त है, क्योंकि अध्यवसाय अध्यवसायी की मनःस्थिति और बाह्य कारकों का फल होता है। इसके सम्बन्ध में यहां इतना कहना ही अपेक्षित है कि प्रथमतः तो मनोविज्ञान और भौतिक विज्ञान अध्यवसाय को पूर्वापेक्षित करते हैं और दूसरे, अध्यवसाय का मूल अन्तःकरण में नहीं होकर अतिक्रामी होता है। यह बात विचार के सम्बन्ध में और भी स्पष्ट है : विचार एक युक्ति-व्यवस्था का स्वतंत्र सर्जक होता है, जो सर्जन अपने आविर्भाव के साथ असंख्य अन्य वैकल्पिक व्यवस्थाओं को स्थगनपूर्वक आविर्भूत करता है। अध्यवसाय और विचार का यह स्वरूप होने के कारण ही यह सम्भव होता है कि चाहने पर हम अन्य अध्यवसायों औरव्य वस्थाओं का उनकी अवास्तवता में निरीक्षण कर सकते हैं। यह व्यष्टित्व के आविर्भाव की अनिवार्यता है कि वह चित्त में सब संभव व्यष्टित्वों के सहित ही आविर्भूत होता है, वे लोक में चाहे अस्तित्व ले पायें या नहीं ले पायें। व्यष्टित्व का आविर्भाव अभिन्न चित्-सत्ता का भिन्न होना होता है, इसलिए सब व्यष्टि-विषयिताएं चित्त के लिए पारदर्शी और आन्तरतः अवगम्य तथा भोग्य होती हैं। इसलिए यह कहना कि कवि और पाठक या दर्शक पात्र के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं, इस तथ्य को अव्याख्यायित ही छोड़ देता है कि विषयी और विषय में तादात्म्य कैसे सम्भव है, अथवा यदि दोनों को विषयी भी मानें तो दो भिन्न विषयियों में तादात्म्य कैसे सम्भव है? यहां अभिनवगुप्त के साधारणीकरण-सिद्धान्त का उल्लेख उपयोगी होगा जो एतद्विषयक भारतीय मतों में सबसे अधिक सूझपूर्ण है। उसके अनुसार—"सर्वप्रथम सहृदय काव्यात्मक शब्द को सुनता है। उसको सुनने से उसे काव्यार्थ का बोध होता है, काव्यार्थ-बोध से सहृदय की सहृदयता जग जाती है तथा काव्यात्मक शब्द में रहने वाली व्यंजना (भावना) भी क्रियाशील हो जाती है। सहृदयता तथा काव्यशक्ति की महिमा से संपूर्ण

काव्यार्थ साधारणीकृत हो जाता है, अर्थात् शकुन्तला आदि के विशेष-विशेष रूप आवृत हो जाते हैं और उनके साधारण रूप सम्मुख आते हैं। इस साधारणीकरण के साथ ही वह सब विभावानुभावादि भी सहृदय के हृदय में प्रविष्ट होकर भावमय बन जाते हैं।"[2] दूसरे शब्दों में, अभिनवगुप्त के अनुसार शकुन्तला नारि-सामान्य के लिए संकेत बन जाती है। यहां इस बात को छोड़ते हुए कि इस उद्धरण में, और संपूर्ण अभिनवगुप्त में भी, अनेक आधारभूत पद अव्याख्यायित हैं, प्रश्न होगा कि यदि शकुन्तला नारि-सामान्य के लिए संकेत बन जाती है तो फिर सीता किसके लिए संकेत बनती है ? दोनों नारि-सामान्य के लिए किस प्रकार संकेत बन सकती हैं ? तब संशोधन किया जा सकता है कि नहीं, शकुन्तला प्रेमिका-सामान्य के लिए और सीता पत्नीत्वादर्श के लिए संकेत बनती है। किन्तु तब ये विषयात्मक सामान्य हो जायेंगी और व्याप्ति द्वारा पर-हृदय-ज्ञान के लिए आधार होंगी। अन्तर केवल यह होगा कि यह अनुमान पाठक के हृदय को उद्रेकित करेगा, बहुत कुछ उसी प्रकार जिस प्रकार आधुनिक पाश्चात्य अनुभववादियों के सिद्धान्त के अनुसार दूसरे का पीड़ा से तड़पना (व्यवहार) हमें उसकी पीड़ा का विषयात्मक अनुमान देता है और यह अनुमान हमारे मन में दया, वेदना आदि का उद्दीपन करता है। किन्तु यह सिद्धान्त ठीक नहीं है, शकुन्तला नारि-सामान्य के लिए संकेत नहीं बनती, वह अखंड रूप से विशिष्ट व्यक्ति : शकुन्तला : ही रहती है, और उसके चरित्र का अभिनय करनेवाली वास्तव अभिनेत्री में यह अवास्तव विशिष्ट, अर्थात् विषयता से विरहित विषयी, उसी प्रकार व्यंजित होता है जिस प्रकार शब्द से अर्थ। इस प्रकार सामान्यीकरण या साधारणीकरण शकुन्तला का नहीं होता, वह होता है तो लेखक और पाठक का, किन्तु इस रूप में कि वह अपने अहंकार से मुक्त होकर शकुन्तला, दुष्यन्त, कण्व, हरिण सबके साथ उनकी विशिष्ट विषयिताओं में संक्रमित हो सकता है। यहां एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करना स्थाने होगा : काव्य-लेखक के लिए यह भी सम्भव नहीं होता कि वह कोई सामान्य संदेश भी दे सके। उदाहरण के लिए, मान लें कि कोई नाटककार प्रेम-विवाह की असफलता दिखाना चाहता है। अब इस सामान्य प्रतिज्ञप्ति की सत्यता वह विशेष चरित्रों के माध्यम से ही दिखा सकता है। ये चरित्र विशेष होने से वह केवल विशेष प्रकार के व्यक्तियों के विशेष सम्बन्ध और उनकी विशेष परिणति ही दिखा सकता है। अब, नाटक की समाप्ति पर यदि वह मंच पर आकर कहता है कि, "तो इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि प्रेम-विवाह कभी सफल नहीं हो सकता" तो दर्शक कह सकता है कि,

2. चिन्मयी माहेश्वरी कृत—रसगंगाधर : एक समीक्षात्मक अध्ययन में पंडितराज जगन्नाथ कृत रसगंगाधर से उद्धृत और अनूदित, पृ० 27.

"क्यों नहीं हो सकता ? यदि रमेश उतना तेज़ स्वभाव का नहीं होता और थोड़ी समझदारी दिखाता तो अनुराधा उससे उस प्रकार खिन्न नहीं होती !"

इसी प्रकार दूसरी कलाओं में भी होता है : मान लें कि चित्रकार वार्द्धक्य को चित्रांकित करना चाहता है; तब वह क्या करता है ? यह द्रष्टव्य है कि हम आकृतियों को व्यक्ति-विशेष की आकृतियों के रूप में भी देखते हैं और भाव के निर्वैयक्तिक अभिव्यंजक संकेतों के रूप में भी। आकृति-विशेष भाव की निर्वैयक्तिक अभिव्यंजक तब होती है जब वह दर्शक के लिए किसी प्रस्तुत व्यक्ति से सम्बन्ध छोड़कर निर्विशिष्ट आकृति मात्र में रूपान्तरित हो जाती है, उदाहरणतः अजन्ता के भित्ति-चित्र, या बेन्द्रे के चित्र। किन्तु यह रूपान्तरण ज्यामितिक आकृतियों के रूपान्तरण के समान नहीं होता जिसमें ब्लैक बोर्ड पर त्रिकोण-विशेष का आरेखन मूलतः त्रिकोण-सामान्य के रूप में ही होता है। प्रस्तुत वृद्ध की आकृति का निर्वैयक्तिक वृद्धाकृति में रूपान्तरण उसके द्वारा उद्दीप्त भावना के भावना-दृष्टि में रूपान्तरण के द्वारा होता है जो भावना-दृष्टि वृद्धाकृति को संकेत बनाकर वार्द्धक्य की अनवच्छिन्न विषयिता का साक्षात्कार करती है। किन्तु पुनः, यह साक्षात्कृत अर्थ उद्गृहीत सामान्य (एब्स्ट्रेक्ट यूनीवर्सल) नहीं होता, यह ठोस और सजीव होता है, सामान्य यह इस अर्थ में होता है कि यह देश-कालानवच्छिन्न होता है। यही बात चित्रित वास्तव आकृति के लिए भी सत्य होती है। द्रष्टव्य है कि जब चित्रकार किसी वास्तव व्यक्ति का भी चित्र बनाता है तब विशिष्ट आकृति अपने वैशिष्ट्य में ही चित्रणीय होती है, किन्तु इस अन्तर के साथ कि उसका गोचर रूप नहीं बल्कि अभिव्यंज्यार्थ चित्रणीय होता है, वह व्यक्तित्व चित्रणीय होता है जो दैहिक आकृति को आश्रित कर अपने को व्यक्त करता है। एक चित्रकार की महत्ता आकृति-व्यंजित व्यक्तित्व के साक्षात्कार की गहराई, उस साक्षात्कृत व्यक्तित्व के चित्रण के लिए उपयुक्त प्रतीकों और संकेतों के प्रातिभ की स्फुटता तथा उस साक्षात्कार और प्रातिभ को चित्रपट पर अंकित करने के कौशल में होती है। यद्यपि यह तीसरा पक्ष ही है जो लोक में प्रकट होता और दर्शक को प्रस्तुत होता है, किन्तु चित्र का तत्त्व प्रथम दो में होता है और वह चित्र उनकी महत्ता से ही महत् होता है। अब, इस आकृति द्वारा व्यंजित व्यक्तित्व यद्यपि कल्पित नहीं होता किन्तु वह वास्तव के किसी भी अर्थ में वास्तव भी नहीं होता : व्यक्तित्व एक अर्धचरितार्थ और अर्धस्फुट मूल्य-प्रत्यय होता है, परिणामतः उसको वास्तव कहने का कोई अर्थ नहीं बनता, इसलिए वह विषय-बुद्धिगम्य नहीं होता, वह केवल तत्त्व-साक्षात्कारी कल्पना-गम्य होता है, और क्योंकि यह तत्त्व विषयितात्मक होता है इसलिए इसका अवगमन चित्त की उस भूमि पर प्रतिष्ठित होकर होता है जो व्यक्तित्वों के सर्जन में उत्क्रमित होती है, अथवा कहें व्यक्तित्वों को संकल्पित करती है। जहां तक इस साक्षात्कार के व्यंजक प्रतीकों का सम्बन्ध

है, यद्यपि ये व्यज्य अर्थ से सम्बद्ध होते हैं किन्तु प्राय: ही ये संस्कार-सापेक्ष भी होते हैं, अर्थात् कलाकार किस प्रतीक-परम्परा से सम्बद्ध है इसके सापेक्ष; यद्यपि कभी-कभी कलाकार परंपरागत प्रतीकों को अनुपयुक्त भी पाता है और उन्हें त्यागने को बाध्य होता है, जो इस बात का द्योतक है कि प्रतीकों का अर्थ से सम्बन्ध केवल रूढ़ ही नहीं होता बल्कि सृजनात्मक और साक्षात्कारात्मक भी होता है। यही कारण है कि कौन-सा रंग कहां और कौन-सी रेखा कहां अभिप्रेत अर्थ को अधिक सम्यक् और प्रभावशाली रूप में व्यक्त करेगी, यह बोध अर्थ और प्रतीक में विद्यमान गुह्य सम्बन्ध को देख सकने की अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा करता है। यद्यपि ये प्रतीक सांस्कृतिक परंपरारूढ़ होते हैं, किन्तु यह तथ्य उनकी यथार्थता की हानि नहीं करता, केवल उनकी औपाधिकता प्रकट करता है। इसीसे कवि को कभी-कभी उपयुक्त पद, या भंगी, या अलंकार की खोज में गहन मनन करना होता है। यही बात अन्य विधाओं के कलाकारों के लिए भी सही है। इस बात में कला का अभिव्यक्ति-पक्ष जगत् या जैव देहों की रूप-रचना के समान होता है : आगन्तुक और वैकल्पिक, किन्तु तब भी अभिव्यक्त आत्मा से अन्त:-सम्बद्ध।

किन्तु द्रष्टव्य है कि इस बात में कला-प्रतीक और विषय-प्रतीक में कोई भेद नहीं होता, सिवाय इस बात के कि कला में अर्थ और उसके व्यंजक में उससे बहुत गहरा और निकट सम्बन्ध होता है जितना विषय-ज्ञान-प्रसंग में इनमें होता है। विषय-ज्ञान-प्रसंग में भाषा अभिव्यक्ति का आदर्श उपकरण होती है और अन्य विधाएं उस पर उपजीवी होती हैं। उदाहरण के लिए चौराहे पर यातायात का नियन्त्रण करने वाले संकेत, मानचित्र और पोस्टर आदि भाषा में न केवल अनुवाद्य होते हैं बल्कि भाषा के माध्यम से ही अर्थ से सम्बद्ध होते हैं। इसके विपरीत कला में स्वयं भाषा अपने मुख्य व्यापार : अभिधान : में स्थगित हो जाती है और अन्य प्रतीक-व्यवस्थाएं भाषा अथवा किसी अन्य प्रतीक-व्यवस्था में अन्तर्भाव्य नहीं होतीं : किसी गान, या चित्र, या नृत्य, या कविता का परस्पर में या किसी एक में अनुवाद सम्भव नहीं है। इतना ही नहीं, विषयात्मक प्रतीक-व्यवस्था में एक वाक्य-रचना उसी भाषा की अन्य वाक्य-रचनाओं में और एक भाषा के वाक्य दूसरी भाषा के वाक्यों में बहुत थोड़ी अर्थ-हानि के साथ अनुवाद्य होते हैं, किन्तु कला-कृतियों में ऐसा सम्भव नहीं होता। कला-कृति की यह अनिवार्यता और अद्वितीयता प्रतीक और उससे व्यंज्य में सम्बन्ध की आन्तरता, अथवा कहें सत्तात्मक तारतम्य की द्योतक है, जो आन्तरता भाषा और उसके वाच्य में नहीं रहती। कला की इस विशेषता का कारण हेगल की सहायता से यह कहा जा सकता है कि कला निरुपाधिक चित् का ऐन्द्रिय आकार में निरूपण है, अथवा कहें, यह परमार्थ (ट्रुथ) की ऐन्द्रिक अभिव्यक्ति है। इसके विपरीत कथनात्मक या अभिधानात्मक

प्रतीक-व्यवस्था को बुद्धि-विकल्पमूलक अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। ऐन्द्रिक अभिव्यक्ति होने के कारण कलात्मक प्रतीक अपने अस्तित्व में पर्यवसायी होते हैं यद्यपि चित् की अभिव्यक्ति होने से ये निरुपाधिक को व्यंग्यतया प्रकट करते हैं।

यहां कहा जा सकता है कि भावना अपने-आप में आकारित नहीं होती, आकार उस पर आरोपित होता है, परिणामतः एक ही भावना गान, नृत्य या कविता में व्यक्त हो सकती है, विशेषतः तब जब वह सामान्य के रूप में भावित हो जाती है, वह भावन चाहे विषयितात्मक ही क्यों नहीं हो। यह सही है, एक ही प्रेम-भावना असंख्य कला-कृतियों में निरूपित होती है, जैसे एक ही विषय-प्रत्यय अथवा शुद्ध प्रत्यय विभिन्न प्रकार की प्रतिज्ञप्तियों अथवा सिद्धान्त-व्यवस्थाओं में निरूपित हो सकता है। इस रूप में वास्तव में ही कला-कृतियों और वर्णनात्मक या सैद्धान्तिक (विषयात्मक) रचनाओं में कोई आधारभूत अन्तर नहीं होता। किन्तु वर्णनात्मक-सैद्धान्तिक भाषा में शब्द और अर्थ के बीच सम्बन्ध की परोक्षता निर्विवाद है, प्रश्न कलात्मक प्रतीक और उसके व्यंज्य के बीच सम्बन्ध के स्वरूप का है : ऐसा क्यों है कि कला-कृति अननुवाद्य, अद्वितीय और अखंड होती है जबकि वर्णनात्मक और सैद्धान्तिक रचनाएं उस प्रकार और उतनी ऐसी नहीं होतीं ? एक चित्र या कविता की विलक्षणता किस बात में होती है ?

चित्र को विशिष्ट वर्ण-व्यवस्था और दैशिक व्यवस्था का अन्तःसंवाद कह सकते हैं। ये दोनों व्यवस्थाएं संयुक्त रूप से एक छन्द से अन्तःप्रविष्ट और अन्तःशासित होती हैं, जो छन्द इस वर्ण-संस्थान के प्रत्येक बिन्दु को अन्य सब बिन्दुओं का धारक केन्द्र बनाता है। इसी में इस चित्र का वैलक्षण्य और अखंडता निहित होती है। यद्यपि नियुक्तता और रचनात्मकता ज्यामितिक आकृतियों में भी रहती है, किन्तु सर्वप्रथम, वे मूलतः ही सामान्य वाचक होती हैं और दूसरे, उनकी रचनात्मकता में कोई बिन्दु केन्द्र नहीं होता, केवल रेखाओं या कोणों के अनुपात की व्यवस्था होती है; वर्ण वहां होता ही नहीं। द्रष्टव्य है कि छन्दोमयता चित्र का आदर्श होती है, वास्तव चित्र में वह न्यूनाधिक ही क्रियान्वित होती है, क्योंकि यदि आदर्श और वास्तव में यह दूरी नहीं हो तो प्रत्येक चित्र अनिवार्यतः निर्दोष हो। चित्रगत यह छन्द, जो उसकी विलक्षणता का अधिष्ठान होता है प्रत्यय के सभी लोकावतरणों को उपलक्षित करता है। इस प्रकार वास्तव में भाषा के सैद्धान्तिक या वर्णनात्मक प्रयोगों में भी यह छन्द रहता है। इस छन्द के कारण ही वर्णनात्मक और सैद्धान्तिक कृतियां भी व्यक्तित्व से युक्त होती हैं और उनमें एक आन्तर संगति अथवा उसकी न्यूनता होती है। किन्तु सिद्धांत और वर्णन दोनों में छन्द के अधिष्ठान क्रमशः तत्त्व और उद्गृहीतार्थ (एब्स्ट्रेक्ट कांसेप्ट्स) होते हैं जो भाषा से केवल परोक्षतः सम्बन्धित होते हैं जबकि कलाओं में इस छन्द का

अधिष्ठान बिम्ब, कल्पनाकृतियां, या प्रतिमाएं होती हैं। कविता में शब्द-विन्यास, चित्र में रंग-रेखाएं और संगीत में ध्वनि-संस्थान इन प्रत्ययों की गोचर प्रतिकृतियां ही प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं। इस कारण कला में प्रत्यय और उसकी अभिव्यक्ति में अधिक निकट सम्बन्ध होता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि कलाकृतियों में शब्द, वर्ण, रेखा, स्वर आदि में कोई भी परिवर्तन उनकी संवादिता, आवयविकता आदि के लिए नितान्त असह्य होता है। महाकाव्य, नाटक, उपन्यास आदि में तो बहुत कुछ घटाया-बढ़ाया जा सकता है और उससे उनकी अन्तः-संवादिता प्रभावित नहीं होती, लघु कविता, चित्र, मूर्ति आदि में भी एक सीमा में यह संभव हो सकता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि कला-कृतियों में यह अन्तः-संवादिता या छन्द होता नहीं है, इसका केवल इतना ही अर्थ है कि यह अवयवों के एक सीमा तक घटाव-बढ़ाव से भंग नहीं होता। अथवा होता है तो उसका सबको पता नहीं चलता। इसका एक बड़ा कारण यह है कि दर्शक को भी पहले छन्द का, समग्रता में अवयवी का, ही प्रत्यक्ष होता है और उसमें अवयवों की थोड़ी क्षति बाधा नहीं बनती।

द्रष्टव्य है कि अवयव-क्षति केवल कला-कृति में ही नहीं होती, और वह केवल कला-कृति में ही अनवगत नहीं रहती बल्कि उसके बिम्ब के अवगमन में भी रहती है। कलाकृति की, अथवा सभी प्रकार की कृतियों की, असम्यक्ता और अपर्याप्तता अवगमन की इस अपर्याप्तता के कारण ही होती है।

यहां कला-कृति और उनके व्यंज्य बिम्ब के बीच सम्बन्ध पर संक्षेप में विचार स्थाने होगा। संस्कृत-काव्य-शास्त्र में एक ही बाह्य स्थिति के दो प्रकार के वाक्यों द्वारा वर्णन का एक उदाहरण प्रचलित है। यह प्रकार-भेद केवल श्रुति-गुण : कोमल-कर्कश : के प्रसंग से है। वाक्य हैं :

1. शुष्कः वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे।
2. नीरसस्तरुरिह विलसति पुरतः।

इन दोनों का वर्ण्य विषय है—सामने सूखा पेड़ है। इस उदाहरण द्वारा प्रतिपाद्य है कि इन दोनों का अभिधार्थ एक होने पर भी इनमें एक श्रुतिकर्कश है और दूसरा श्रुति-मधुर। किन्तु द्रष्टव्य है कि 'तिष्ठति' और 'विलसति' शब्द केवल स्थूलरूप से ही पर्यायवाची हैं, वास्तव में नहीं, क्योंकि 'स्थ' और 'लस्' धातुएं पर्यायवाची नहीं हैं और न इनसे व्युत्पन्न शब्द सब प्रसंगों में रूढ़ि से पर्यायवाची हैं, यहां वाच्य तथ्य के प्रति आग्रह से वाचक वाक्य के अपने अर्थ की उपेक्षा है। अब, शब्दार्थ की दष्टि से पहला वाक्य वर्ण्य तथ्य का अधिक अनुसारी है और श्रुतिगुण की दृष्टि से भी पहला ही वाक्य अधिक तथ्यानुसारी है। किन्तु यह अनुसारिता वर्ण्य-विषय की नहीं, वर्ण्य से सम्बद्ध भाव की है, जो काव्य का विषय है। काव्य सम्मुख स्थिति शुष्क : नीरस : वृक्ष से उद्दीप्त भावना की भावप्रतिमा को व्यक्त करना चाहता है,

जो प्रतिमा किसी शब्द द्वारा अभिधेय नहीं होती, क्योंकि शब्द इन प्रतिमाओं के निरूपण के लिए नहीं बने हैं, ये प्रतिमाएं शब्द-रचनाओं द्वारा केवल व्यंग्यतया संकेतित और अनुरणित होती हैं। यहां यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यहां व्यंज्य भावनाएं नहीं होतीं बल्कि भाव-प्रतिमाएं : विषयि-दृष्टि को प्रस्तुत भावनाएं : होती हैं। भाव-द्रष्टृ की विषय होने से ये प्रतिमाएं विशिष्ट : अन्तःकरण या अन्य इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य अर्थः नहीं होकर तत्त्वात्मक होती हैं और विषयि-आत्मक होने से ये न अपने देश-कालगत संस्थान में विभाज्य होती हैं और न वाच्यार्थ में विषय-प्रत्ययों के समान विश्लेष्य। इसके अतिरिक्त, वस्तु-वर्णनात्मक वाक्यों के वाच्य जबकि सामान्य होते हैं और वर्ण्य वस्तुस्थिति उन सामान्यों के व्यष्टीकृत विषय, भाव-प्रतिमा मौलिक रूप से सावयव और विलक्षण होती है और इस सावयव विलक्षणता में भी सार्वभौम होती है, क्योंकि ये प्रतिमाएं भाव-घटनाएं नहीं होकर विषयि-दृष्टिग्राह्य भाव-प्रत्यय होती हैं :'विषयि-दृष्टि' का अर्थ है विषयिता का विषयि-प्रत्यय के रूप में विमर्शः। प्रतिमा या बिम्ब की यह सावयवता इसकी व्यंजक कला-कृतियों में भी उसी प्रकार रहती है क्योंकि ये उन प्रतिमाओं की यथासंभव सम्यक् प्रतिकृतियां होती हैं। किन्तु सर्वप्रथम, प्रतिमा के मानसिक अवगमन या प्रत्यक्ष की सम्यक्ता भी साधना-सापेक्ष होती है, बाह्य अभिव्यक्ति में उसके योग्य सम्यक्ता तो और भी अधिक साधना की अपेक्षा करती है, क्योंकि इसके लिए मूल प्रतिमा के सम्यक् अवगमन के अतिरिक्त लोक में उसके अनुदर्शन के उपयुक्त प्रतीक-व्यवस्था का साक्षात्कार भी अपेक्षित होता है, जो और अधिक क्लिष्ट होता है। यहां द्रष्टव्य है कि यह सम्यग्दर्शन या अनुकरण छाया-चित्र जैसा नहीं होता, यह प्रतीकात्मक और संरचनात्मक आविष्कार होता है, इसी से एक भाव-प्रतिमा के लिए सर्वथा भिन्न प्रकार की विभिन्न प्रतीक-व्यवस्थाएं संभव होती हैं। कला की विभिन्न शैलियां इसके लिए प्रमाण हैं। किन्तु तब आपत्ति हो सकती है कि प्रतीक-व्यवस्थाओं के आविष्कार होने पर उनकी साक्षात्कारात्मकता का कोई अर्थ नहीं रहता, तब प्रतीक और व्यंज्य या वाच्य का सम्बन्ध केवल रूढ़िगत ही रह जाता है। किन्तु जैसाकि हमने पीछे भी संकेत किया, ऐसा नहीं होता। अवश्य प्रतीक और व्यंज्य में सम्बन्ध भावना और विषयि-प्रत्यय के समान आन्तर तारतम्य का नहीं होता किन्तु तब भी यह बाह्य और रूढ़िमूलक भी नहीं होता, प्रतीक व्यंज्य के द्वारा अपनी व्यंजना के लिए आविर्भूत होते हैं और उनसे अवियोज्यवत् होते हैं और उपयुक्त प्रतीक के प्रत्यक्ष का अर्थ होता है उसके द्वारा व्यंजित का प्रत्यक्ष करना। इस प्रकार एक ओर एक ही भाव-प्रतिमा के लिए विभिन्न प्रतीक-शैलियां होती हैं और दूसरी ओर ये शैलियां उस भाव-प्रतिमा के प्रति अधिकाधिक सम्यक् होने के प्रयत्न के फलस्वरूप होती हैं, निराधार क्रीड़ाएं नहीं होतीं।

यहां अन्त में कला की बिम्बात्मकता या प्रतिमात्मकता पर विचार स्थाने होगा। प्रत्ययों के स्थूलरूप से चार प्रकार कहे जा सकते हैं : (1) ऐन्द्रिक (2) उद्ग्रहणात्मक (3) तत्त्व-धर्मात्मक और (4) बिम्बात्मक। जैसाकि स्पष्ट है, इनमें प्रथम और अंतिम परस्पर सीधे सम्बन्धित हैं : बिम्ब का एक महत्त्वपूर्ण घटक ऐन्द्रिय प्रत्यय का प्रतिबिम्ब होता है जो विषयिदृष्टि को प्रस्तुत भावना से उपरक्त होकर बिम्ब बनता है और कला-प्रतीक का वाच्य होता है। हेगल जब कहता है कि 'कला निरुपाधिक चित् का ऐन्द्रिक आकार में निरूपण है, अथवा कहें, यह परमार्थ (ट्रुथ) की ऐन्द्रिय अभिव्यक्ति है' तो वह बहुत कुछ हमारी इस दृष्टि के अनुरूप ही कह रहा है। यहां हम उदाहरणार्थ एक कविता उद्धृत करेंगे। कविता का शीर्षक है 'वाक्' :

आरती करती वाक्
झलमला ज्योतिश्चक्र
देखते-सुनते अवाक्
स्पन्दित प्राण समग्र।
मध्य में रश्मि-प्रसार
झलकते अर्थ-भुवन
शंख-से शुभ्राकार
खिलते उत्पल-नयन।[3]

इस कविता में अमूर्त प्रत्यय : वाक् : ऐन्द्रिय प्रत्ययों के माध्यम से व्यंजित हुआ है, जिस व्यंजना में मूर्त प्रत्यय भी विषयात्मक नहीं रह कर भावना-व्यंजक हो गए हैं, जिस कारण यह वर्णन नहीं होकर भावाभिव्यंजन हो गया है। अमूर्त-सामान्य प्रत्ययों का मूर्त-सामान्य प्रत्ययों में यह अनुवाद ही इस कारण हुआ है, और इस कारण ही यह अनुवाद संभव भी हुआ है, कि यहां चित्त विषय-वृत्ति से विषयि-वृत्ति में संक्रमित हो गया है। इस कविता का प्रेरक संभतवः शैवों का भाषा-विषयक सिद्धान्त है जिसके अनुसार परावाक् द्वारा साक्षात्कृत अविकल्प्य दिव्य तत्त्व वैखरी द्वारा व्यक्त विकल्पों के माध्यम से जगद्-रूप में विवर्तित हुआ है। किन्तु इस कविता में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं हुआ है, होता तो यह कविता नहीं रहती, बल्कि यह सिद्धान्त कवि-मानस मे भावना का उद्दीपक होकर विषयि-वृत्तिक द्रष्टृत्व के लिए बिम्बात्मक प्रत्ययों में रूपांतरित हो गया है। यह रूपान्तरण चित्र-कला और मूर्ति-कला में और भी सरलता से देखा जा सकता है। उदाहरणतः बुद्ध की मूर्ति को लें। इसमें संबुद्ध, महाकारुण्यमय और प्रशान्त चित्त का अमूर्त

3. गोविन्दचन्द्र पांडे—क्षण और लक्षण।

प्रत्यय उद्दीपक है जो उद्दीप्त भावना के आलंबन के लिए ऐन्द्रिय प्रत्यय : कल्पित सिद्धार्थ : को भावना-बिम्ब में रूपान्तरित कर प्रस्तर में व्यंजित हुआ है। यही प्रक्रिया संगीत में स्वर-व्यवस्था को माध्यम बनाती है।

इस प्रकार कला विषयिता का विषयि-भाव में विमर्श, चिंतन या मनन है जो बिम्बात्मक प्रत्ययों के माध्यम से निष्पन्न होता है।

अशुद्धि पत्र

पृष्ठ-पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
12/14	प्रत्येक	प्रत्येय
18/25	विषयमूलक	विषयिमूलक
27/24	घाट	घट
39/23	दोनों की	दोनों ही
41/2	उपादन	उपादान
50/15	जाति-जातिगत	जाति जातिगत
57/21	प्रतिपाद	प्रतिपादन
68/पा० टि०	जगचैतन्य	जगच्चैतन्य
112/27	प्रेक्षक	प्रेक्ष्य
207/10	विषयनिष्ठ	विषयिनिष्ठ

उद्धृत ग्रंथ-लेख-विवरण

संस्कृत—हिन्दी

ईश्वरकृष्ण: **सांख्यकारिका**

उपनिषत्: **ईशावास्य**

———**ऐतरेय**

———**केन**

———**तैत्तिरीय**

———**ऋग्वेद**

पांडे, गोविन्दचन्द्र: **क्षण और लक्षण** (कविता संग्रह), राधाकृष्ण प्रकाशन, 1967

भगवती: **सांख्य-विवेचन** (लेख), दार्शनिक त्रैमासिक, अक्तूबर 1974

———**डेकार्ट : दार्शनिक विवेचन** (लेख), दार्शनिक त्रैमासिक, अप्रैल, 1973

श्रीमद्भगवद्गीता

माहेश्वरी, चिन्मयी: **रसगंगाधर : एक समीक्षात्मक अध्ययन**, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1974

वसुबन्धु: **विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि :**

शंकराचार्य: **ब्रह्मसूत्र भाष्य**

शल्य, यशदेव: **ज्ञान और सत्**, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1967

———**मनुष्य और जगत्**, इन्दुप्रकाशन, दिल्ली, 1985

———**विषय और आत्म**, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, 1972

———**संस्कृति : मानव-कर्त्तृत्व की व्याख्या**, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर 1969

———फ़िख्ते (लेख), **पाश्चात्य दर्शन का इतिहास**, भाग 2 (सं) दयाकृष्ण, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1985

———शैल्लिग, वही

अंग्रेजी—मूल या अनुवाद

Aristotle: *Metaphysics*, ed. and tr. John Warrington, Everyman's Library, New York.

Sri Aurobindo: *The Life Divine*, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry.

Cassirer, H.W.: *A Commentary on Kant's Critique of Judgment*, Barnes and Noble Inc., New York, 1958.

Descartes, Rene: *Discourse on Method*, Philosophical Works of Descartes, ed. and tr. T.S. Haldane and G R.T. Ross, Cambridge University Press.

——— *Meditations*.

Farber, Marvin: *The Ideal of Presuppositionless Philosophy*, Philosophical Essays in Memory of Edmund Husserl, ed. Marvin Farber, Harvard University Press, 1940.

Feigl and Scrivan: *Minnesota Studies in Philosophy of Science*, Vol. 1, University of Minnesota Press, 1956.

Feigl and Maxwell: *Minnesota Studies in Philosophy of Science*, Vol. 3, 1962.

Gasset, Joseph Ortego Y.: *History as a System*, Norton and Co., New York, 1941.

Gilson, Etienne: *Being and Some Philosophers*, 2nd ed., Pontifical Institute of Mediaeval Studies, Toronto, Canada, 1952.

Hegel: *Logic*, ed. and tr., William, Wallace, Oxford University Press.

——— *The Science af Logic*, tr. W.H., Johnston, George Allen and Unwin, London.

——— *The Philosophy of Nature*, tr. A.V. Miller, Oxford University Press.

——— *The Philosophy of History*, tr. J. Sibree, Dover, New York.

Husserl, Edmund: *Cartesian Meditations*, Martinus Nijhoff, The Hauge, 1977.

——— *Ideas*, Collier Books, New York, 1962.

Kant, Immanuel: *Critique of Pure Reason*, tr. Nowel Kemp Smith, Macmillan & Co.

——— *Critique of Judgment*, tr. J.H. Bernard, Hafner Publishing Co., New York.

————*Moral and Political Writings,* ed. Karl J. Friedrich, Modern Library, New York.

Kroeber, A.L. : *The Nature of Culture,* The University of Chicago Press, 1952.

————*Configurations of Cultural Growth,* University of California Press, 1944.

Murrey, Michel : *Heidegger and Modern Philosophy,* Yale University Press, 1978.

Nietzshe: *Human, All Too Human, Basic Writings of Nietzshe* ed. and tr., Walter Kaufmann, Random House, Modern Library, 1968.

Pande, G.C. : *The Meaning and Process of Culture,* Sivlal Agrawala & Co., Agra, 1972.

Plato : *Pheado.*

————*Republic.*

————*Timeaus.*

Popper, Karl : *Objective Knowledge,* Clarendon Press, Oxford, revised edition, 1974.

Radhakrishnan, S. and P.T. Raju, ed.: *The Concept of Man,* George Allen and Unwin, 1960.

Rawls, John: *A Theory of Justice.* Oxford University Press, 1972.

Russell, B.: *Mysticism and Logic,* George Allen and Unwin, London, 1910.

Sartre, Jean-Paul: *Being and Nothingness.* Square Press, Washington, 1966.

Sorokin, P. : *Sociological Theories of Today,* Harper and Row, New York, 1966.

Spengler, Oswald : *Man and Technics,* George Allen and Unwin, London, 1952.

अनुक्रमणिका

यशदेव शल्य

जन्म : 26 जून 1928, फरीदकोट (पंजाब)। आरम्भिक शिक्षा गुरुकुल रायकोट (जिला लुधियाना) में पाने के बाद घर पर स्वशिक्षा। इस प्रकार दर्शन का अध्ययन उपाधि के लिए अधीत एक वैकल्पिक विषय के रूप में नहीं किया।

7 जुलाई 1949 से 13 जून 1965 तक एक स्कूल में हिन्दी अध्यापक, 15 जून 1965 से राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी में नियुक्त, वहाँ से 1 जुलाई, 1983 में सेवा-निवृत्त।

1954 में अखिल भारतीय दर्शन परिषद तथा दार्शनिक त्रैमासिक की स्थापना और क्रमशः 1980 और 1978 तक इनके मंत्री अथवा अध्यक्ष तथा बीच के तीन वर्ष छोड़कर, सम्पादक। इसी बीच तीन वर्ष तक तत्वचिन्तन और चार वर्ष तक दर्शन-समीक्षा पत्रिकाओं की स्थापना एवं सम्पादन। सम्प्रति, 1985 से **उन्मीलन** नामक षड्मासिक दार्शनिक पत्रिका का सम्पादन।

प्रकाशित कृतियाँ : **पन्त का काव्य और युग, मनस्तत्व, दार्शनिक विश्लेषण, ज्ञान और सत्, संस्कृति : मानव-कर्तृत्व की व्याख्या, विषय और आत्म,** तथा **मनुष्य और जगत**।